

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः सप्तमं कुसुमम्)

संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः

(श्रीमदाद्यशंकराचार्यचरितम्)

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज









(आनन्दवनग्रन्थमालायाः सप्तमं कुसुमम्)

संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः

(श्रीमदाद्यशंकराचार्यचरितम्)

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

प्रकाशक—
श्री स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट

मूल्य : २०.००

द्वितीयावृत्ति : ११००
सन्   : १९८५

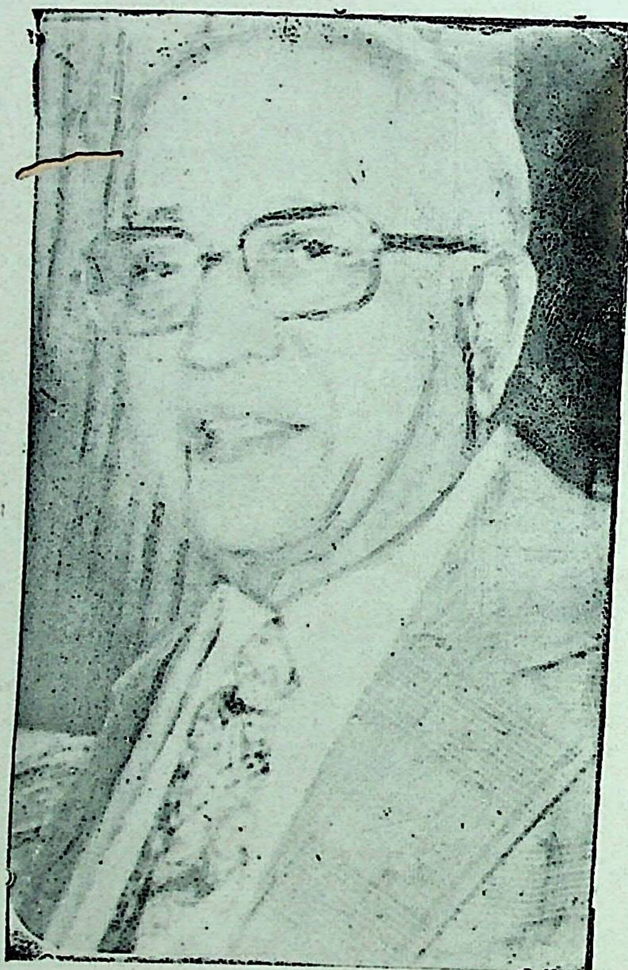
प्राप्ति स्थान :
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम)
बम्बई - ४०० ०६७



श्रीदक्षिणामूर्ति मठ
मिश्रपोखरा, वाराणसी

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

2.5



स्व० श्रीमान रोशनलाल जी तलवार



श्रीमती कृष्णाकुमारी तलवार

ने

अपने स्वर्गीय पतिदेव

श्रीमान् रोशनलालजी तलवार

की पुण्यस्मृति में

मुमुक्षुजनों के कल्याणार्थ

यह ग्रन्थ प्रकाशित करा कर ईश्वरार्पण किया

भूमिका

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिञ्च तत्पुत्रपराशरञ्च
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकञ्च शिष्यम्
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ॥

भगवान् आद्यशंकराचार्य का चरित्र-वर्णन अनेक सन्त कवियों ने किया है, जिनमें श्री माधवाचार्य (श्री विद्यारण्य मुनि) कृत शंकरदिग्विजय, जो काव्य-दृष्टि तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से अन्यापेक्षया अधिक महत्त्व रखता है, मुकुटमणि के समान है। प्रस्तुत ग्रंथ का आधार वही माधवीय शंकरदिग्विजय है। साधारण जनता भी आचार्य-चरित्र को पढ़ सके, समझ सके, यही इसके निर्माण का कारण है। माधवीय कृति काव्य आदि दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट होने से साधारणजनोपभोग्य नहीं है। समास एवं अलंकारादि की ग्रंथियों की उलझनों में उलझ जाने से सामान्य पाठक की उस ग्रंथ में गति नहीं पा पाते। महाकाव्य की शैली में निबद्ध होने से कथा-प्रवचन आदि में भी उसका पूरा उपयोग संभव नहीं है। इन कठिनाइयों को देख इस ग्रंथ की रचना हुई। अतएव माधवीय ग्रंथ के सरल अनुष्टुप् श्लोक यथावत् इसमें यथास्थान आ गये हैं। उपजीव्य काव्य की अपेक्षा प्रस्तुत रचना में दिग्विजय और सर्वज्ञपीठाधिरोहण प्रसंगों में विशेषता है। माधवाचार्य ने जिन्हें एक-एक सर्ग में समाप्त कर दिया है, यहाँ उन्हें चार-चार सर्गों में वर्णित किया है। दिग्विजय नाम जिस कारण से हुआ, उसका विशेष वर्णन आवश्यक था और सर्वज्ञपीठाधिरोहण जिस शास्त्रीय सर्वज्ञता को लेकर हुआ, उसका कुछ विस्तार करना भी उपयुक्त लगा; फलतः यहाँ छः सर्ग बढ़ गये। माधवीय दिग्विजय सत्रह सर्गों में है प्रस्तुत ग्रंथ तेइस सर्गों में। इस कृति की अन्य विशेषता यह है कि माधवीय ग्रंथ में प्रतीत हुई विसंगतियों को सुधारने का, या संगति बैठाने का यहाँ प्रयास किया गया है।

जीवनचरित्रात्मक ग्रंथ की भूमिका में आचार्य की जीवनी के विषय में लिखना अनावश्यक है। स्थितिकाल आदि के विषय में यत्किंचित् विचार-

विमर्श करना तो उपयुक्त ही है। तदर्थं गुरुपरम्परा पर भी प्रकाश डालना अप्रासंगिक नहीं होगा। 'नारायणं पद्मभवम्' इत्यादि गुरुपरम्परा स्तुति में नारायण को सम्प्रदाय-प्रवर्तक आदि-गुरु माना है। तदनुसारी यह भी एक श्लोक प्रसिद्ध है—

नारायणसमारब्धां शङ्कराचार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥

दूसरी ओर सदाशिव को सम्प्रदाय-प्रवर्तक स्वीकार किया है। उस गुरुपरम्परा के अनुसार—

सदाशिवं श्रीसनकं सनन्दनं सनातनञ्चैव सनत्कुमारम्
श्रीनारदं व्यासशुकौ च गौडपादञ्च गोविन्दपदं महान्तम्।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकञ्च शिष्यम्
तन्तोटकं वार्त्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि॥

यह क्रम है। तदनुसारी भी एक श्लोक प्रसिद्ध है—

सदाशिवसमारब्धां शङ्कराचार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥

यह भी प्रामाणिक परम्परा है। दक्षिणामूर्ति रूप में सदाशिव ने सनक आदि ऋषियों को उपदेश किया, यह भागवत आदि पुराणों में प्रसिद्ध ही है। सनत्कुमार से नारदजी के उपदेशग्रहण की कथा छान्दोग्य उपनिषत् में आयी है। सरस्वतीतीरस्थ व्यास को नारदजी ने उपदेश किया, यह भागवत में सुना गया है। नारायण और सदाशिव से आरब्ध परम्पराओं को जोड़ने वाले व्यासजी ही हैं। अतः गंगा-यमुना सदृश दो परम्पराओं को जोड़ने वाले होने से द्वैपायन नाम भी अनुकूल है।

सदाशिव परम्परा स्पष्ट रूप से संन्यासी-परम्परा है। भगवान् दक्षिणामूर्ति निवृत्तिमार्गी हैं। वे शंकर से अभिन्न होते हुए भी शंकर-अवतार रूप ही हैं। सनक आदि मुनि भी निवृत्ति-परायण ही थे। गीता-भाष्य के प्रारम्भ में आचार्य ने उन्हें जन्मतः ही निवृत्तिमार्गी बताया है। नारदजी भी संन्यासी थे। इस विषय में नारदपरिव्राजकोपनिषत् का प्रारम्भिक वाक्य प्रमाण है—**अथ कदाचित् परिव्राजकाभरणो नारदः'**। कुछ लोग उन्हें शिखा-सूत्रधारी ब्रह्मचारी के रूप में मानते हैं, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है क्योंकि 'परिव्राजकाभरण' इस औपनिषद विशेषण से

विरुद्ध है। भ्रम का मूल नित्य-ब्रह्मचारी होने से ब्रह्मचारीलिंग की कल्पना हो सकता है। भागवत में वर्णित दक्षपुत्र हर्यश्व, शबलाश्व आदि को भिक्षु-मार्ग-प्रदर्शन भी नारदजी की भिक्षुता का समर्थक है। नारायण से आरब्ध परम्परा में सभी संन्यासी हैं इस विषय में कोई दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं। भगवान् नारायण वदर्याश्रम में नरनारायण रूप में तपस्या करते हैं, अतः संन्यासी हैं। संन्यासी न होते तो शस्त्र देखकर प्रह्लाद के क्रुद्ध होने का कारण नहीं था। आदि-नारायण गदा-चक्रधारी हैं। ब्रह्माजी प्रायः एकाकी रूप में वर्णित हैं। वसिष्ठजी कुटीचक संन्यासी हो गये थे, ऐसा संन्यासोपनिषत् में आया है। शक्ति और पराशर ऋषि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। व्यासजी तो वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था की रक्षा के लिये ही अवतीर्ण हुए थे। शुकदेव की उत्पत्ति अरणि-मन्थन काल में हुई थी। वे अवधूतशिरोमणि तो थे ही।

शुकदेव के अनन्तर भगवान् गौडपाद आचार्य का नाम आता है। यहीं से आधुनिक इतिहासकारों का विचार-विमर्श चलता है। द्वापर में हुए शुकदेवजी आधुनिकों के विचार्य-क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। आचार्य गौडपाद शंकराचार्य के प्रायः समकालीन हैं। इस विषय में दो प्रकार से समाधान हो सकता है। देवीभागवत, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि प्रथम व्यासजी के पुत्र शुकदेव हुए। वे तपस्या करने गये। बाद में व्यासजी की माता सत्यवती ने उनका स्मरण किया। सत्यवती-सुत चित्रवीर्य की मृत्यु हो चुकी थी और पूरुवंश की राजगद्दी खाली थी। चित्रवीर्य का कोई पुत्र था नहीं। भीष्म की तो यह प्रतिज्ञा ही थी कि वे न अभिषिक्त होंगे व न विवाह करेंगे। अतः गत्यन्तर न होने से, माता सत्यवती की आज्ञावशात् विचित्रवीर्य के क्षेत्र में व्यासजी से ही धृतराष्ट्र और पाण्डु का जन्म हुआ था। पाण्डु का पुत्र अर्जुन और उसका अभिमन्यु पुत्र हुआ। अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित हुआ। तक्षक द्वारा डँसे जाने के ऋषिशाप होने पर परीक्षित गंगा किनारे जा बैठा। उस समय शुकदेव वहाँ पहुँचे। उस समय के वर्णन में आया है—**'तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद'** इत्यादि। परीक्षित का पिता अभिमन्यु, दादा अर्जुन, पड़दादा पाण्डु, उससे पूर्व जनमे शुक के लिये 'द्व्यष्टवर्ष' विशेषण कैसे ? अर्जुन की वय ही सवा सौ वर्ष हो गयी थी। वह श्रीकृष्ण का समवयस्क था और उनका स्वधामगमन हो चुका था।

तदनन्तर परीक्षित राजगद्दी पर बैठा, उसका विवाह हुआ और जनमेजय उत्पन्न हुआ। अतः शुकदेव को उस समय डेढ़ सौ से दो सौ वर्ष का होना चाहिये। तथापि उक्त विशेषण के बल पर यह मानना होगा कि जैसे सनक आदि नित्य पंचवर्षवयस्क हैं, वैसे शुकदेव षोडशवर्ष वयस्क हैं। अथवा शुकदेव-परम्परा माननी होगी। उभयथा गौडपादपर्यन्त शुकदेव की अवस्थिति में पुराणानुसार कोई विरोध नहीं। दूसरा समाधान यह है कि गौडपादाचार्य महान् योगी और दीर्घजीवी थे। अजातवाद प्रतिपादक ग्रंथ होने पर भी माण्डूक्यकारिका में 'लये सम्बोधयेच्चित्तं' आदि योगवर्णन मिलता है। अथवा गौडपादजी को दीर्घजीवी मानें चाहें न मानें, आचार्य गोविन्दपाद तो दीर्घजीवी थे ही। वे रसहृदयतंत्र के निर्माता थे। मदन नामक किरात राजा के समय में वे वर्तमान थे। वह हैहयवंशीय राजा था जिसे वनराज होने से किरात राजा कहा है।

तस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रसकर्मनिरतः।
रसहृदयाख्यं तन्त्रं विरचितवान् भिक्षुगोविन्दः॥

ऐसा स्वपरिचय स्वग्रंथ में दिया है। लोग इस विषय में संशय करते हैं कि रसहृदयतंत्र और वेदान्तशास्त्र में सिद्धान्तभेद होने से ये कोई अन्य गोविन्दभिक्षु होंगे। परन्तु ऐसी शंकायें निरर्थक होती हैं। शंकराचार्य ने स्वयं प्रपंचसार आदि तंत्र ग्रंथों में सिद्धांतांतर स्वीकारा है। वाचस्पति मिश्र षड्दर्शनटीकाकार हुए तो उन्हें किस सिद्धांत का अनुयायी माना जाये ? मैंने स्वयं न्यायशास्त्र में सामान्यलक्षणा आदि पर, तंत्र में सुभगोदय स्तुति पर, भक्तिदर्शन पर और वेदान्त ग्रंथों पर व्याख्यायें लिखी हैं। इससे क्या मुझे नाना व्यक्ति माना जायेगा। कालांतर में सिद्धांतभेद देखकर व्यक्तिभेद सिद्ध किया जाये तो वह वास्तविक नहीं होगा। अतः सांख्यकारिका भाष्यकार और माण्डूक्यकारिकाकार गौडपाद विभिन्न हैं इत्यादि सब प्रलापमात्र है। दृढतर बाधक प्रमाणकी अनुपस्थिति पर्यन्त एकत्वेन प्रसिद्ध व्यक्तियों का भेद मानना अनुचित है। गोविन्दपाद आचार्य पतञ्जलि के अवतार थे अथवा पतञ्जलि का संन्यास नाम था इत्यादि प्रसिद्धि का भी अपलाप प्रतिज्ञा मात्र से नहीं किया जा सकता। गोविन्दपाद का सहस्र वर्ष तक नवयौवन-सम्पन्न रहना भी प्रसिद्ध है। आज वे क्यों नहीं, इस प्रश्न का भी उत्तर पुराण प्रसिद्ध है। अमरता की प्राप्ति के लिये लोग तप करते थे पर ब्रह्माजी ने हजारों वर्ष की आयु, निमित्तायु आदि वर

दिये। अमरत्व का वर किसी को नहीं दिया। महाराष्ट्र में चाँगदेव चौदह सौ वर्ष रहे यह वहाँ का बच्चा-बच्चा मानता है। शंकर को दीक्षा देकर गोविन्दपाद कृतकृत्य हो गये तो शरीर त्यागा। जैसे ज्ञानेश्वर से दीक्षा पाकर चाँगदेव ने। यदि इन दृष्टान्तोंसे सन्तोष न हो, तो यह कल्पना उचित है कि शाङ्कर परम्परा की गद्दी के समान प्राचीन काल में वसिष्ठ, व्यास, आदि और गोविन्दपाद की गद्दी चली जिस तथ्यको, इतिहास-लेखक के न होने से, भूलकर भक्तों ने एक ही व्यास, शुक, गोविन्दपाद आदि मान लिये।

यही कल्पना अधिक उचित प्रतीत होती है। इससे प्राचीन किंवदन्ती भी रक्षित हो जाती है। गोविन्दपाद को पतञ्जलि का अवतार या संन्यासावस्थारूप मानते ही हैं। आचार्य गौडपाद उनके गुरु हों तो व्यास जी उनसे अधिक दूर प्राचीन नहीं है। बौद्धादि मत-निराकरण ब्रह्मसूत्रों में होने से उनका निर्माण ईसापूर्व तृतीय-चतुर्थ शती मानना उचित है। उसी के आस-पास गौडपाद व पतञ्जलि का समय है। सनातन मान्यतानुसार व्यासादि चिरंजीवी होने से भी कोई आपत्ति नहीं आती।

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥
(गौडपादाचार्य मां० का० ४.१)।

यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ (नागार्जुन)

इत्यादि गौडपादीय और नागार्जुनीय कारिकाओं में इतना सादृश्य है कि इसे नकारना कठिन है कि एक ने दूसरे के लेख को देख कर लिखा है। परन्तु "नैतद् बुद्धेन भाषितम्" (४.९९) इस गौडपादवचन से स्पष्ट है कि उन्होंने उसे कहीं से लिया नहीं है। अतः नागार्जुन को गौडपाद के अनन्तर मानना चाहिये। नागार्जुनने औपनिषद "प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम्" (मां० ७) का अनुकरण किया ही है। अतः उन्हें अनुकरणशील मानना युक्तिसंगत है। आचार्य शंकर को जो गौडपाद-दर्शन हुआ, वह व्यास-दर्शनवत् समाधेय है। मध्वाचार्य आदिने आगमप्रकरण-कारिकाओं को श्रुति ही माना है जिससे कारिकाओं का प्राचीनत्व उपोद्बलित होता है। अतः व्यास-शुक-गौडपाद-गोविन्दपाद यह शिष्य-परम्परा समुचित ही

ही है। गोविन्दपाद रसक्रिया से दीर्घजीवी रहे, या उनकी गद्दी हजार वर्ष चली, यह माना जा सकता है। पतञ्जलि का परमार्थसार भी इस प्रकार अनुकूल होता है। सम्भव है आदि गौडपाद या गोविन्दपादाचार्य से ही मठ-परम्पराओंमें शंकराचार्य की गणना प्रारम्भ हुई हो। गोविन्द पाद बालशिष्य शंकर पर मुग्ध थे ही, हो सकता है कह दिया हो 'इस गद्दी से ही शंकराचार्य गद्दी मान ली जाये।' सर्वथाऽपि संभावनायें इतनी अधिक हैं कि निश्चित रूपमें कुछ बता पाना किसी के लिये सम्भव प्रतीत नहीं होता।

शंकराचार्य का आविर्भावकाल

गोविन्दपादाचार्य के शिष्य रूप में आचार्य शंकर सुप्रसिद्ध हैं। आधुनिक गवेषकों के अनुसार उनका समय ७७८ ई० से ८२० ई० तक अर्थात् अष्टम शताब्दी का अन्त और नवम शताब्दी का आदि है। कुछ विद्वान् इस तिथि को सौ वर्ष पीछे ले जाना चाहते हैं। वे ६८७ ई० से ७२० ई० तक मानते हैं। परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार प्रथम पक्ष ही उचित है। शृङ्गेरी-पीठ तिथिपत्र में लिखा है—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एष शंकराचार्यः साक्षात्कैवल्यनायकः॥
निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः॥

"अङ्कानां वामतो गतिः" के अनुसार वह्नि = ३, इभ = ८, नाग = ८, निधि = ९, अर्थात् कल्यब्द ३८८९ में आचार्य का प्राकट्य हुआ। वर्तमान कल्यब्द ५०८६ है। उससे ३८८९ घटाने पर ११९७ शेष बचता है। इतने वर्ष पूर्व आचार्य का आविर्भाव काल है। १९८५ ई० से ११९७ घटायें तो ठीक ७८८ संख्या आती है। अतः वही ई० सन् उनके प्राकट्य का काल है। नीलकण्ठीय शंकरमन्दारसौरभ का निम्नलिखित वचन भी इसका समर्थक है—

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या-
मेकादशाधिकशतोनचतुःसहस्रयाम्।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणो दशम्याम्॥

एकादशाधिकशतोन = १११ कम, चतुःसहस्री = ४०००; ४००० –

१११ = ३८८९। विद्यासुधाकर तथा मन्दारसौरभ, दोनों में—

निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः॥

दोनों में तृतीयपाद "शुक्ले तिथौ तु पञ्चम्याम्" होना चाहिये, क्योंकि वैशाख शुक्ल-पञ्चमी को आचार्य-जन्म की प्रसिद्धि है। "दशम्यां" पाठ किसी भ्रम से, या छन्दोनुरोध से "दशोन्यां" (पन्द्रह में से दस कम = पाँचवी तिथि में) का विकृत पाठ होगा। कम्बोडिया में शिवसोम का शिलालेख मिला है। जो अष्टमशती का है। उसमें लिखा है—

येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छङ्कराह्वयात्।
निःशेषसूरिमूर्धालिमालालीढाङ्घ्रिपङ्कजात्॥

इन सब प्रमाणों को झुठला कर शंकराचार्य का ढाई हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व ले जाना कुछ प्राचीन विद्वानों व तदनुयायी नवीनों को रुचिकर हैं। वे गोवर्द्धन और शारदा पीठों के परम्परानुसार लेख को प्रमाण मानते हैं। तदनुसार विक्रमपूर्व ५०९ वर्ष में आचार्य-जन्म है। इससे वे आज से २५५१ वर्ष पूर्व स्थित होते हैं। पर यह प्रामाणिक इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि आचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में जिन बौद्धाचार्यों का मत दिखाकर खण्डन किया है, उनसे उन्हें परवर्ती मानना आवश्यक है। तदर्थ कतिपय बौद्धाचार्यों का समयनिर्देश द्रष्टव्य है—

अश्वघोष (कनिष्क के समकालीन)	१२०	क्रि० बा०
नागार्जुन	१५०	,,
वसुबन्धु	२८०	,,
असङ्ग	३२०	,,
आर्यदेव	३५०	,,
बुद्धघोष	४००	,,
बुद्धपालित	४००	,,
दिङ्नाग	४५०	,,
चन्द्रकीर्ति	५५०	,,
धर्मकीर्ति	६५०	,,

उत्तरोत्तर आचार्यों के ग्रंथों में प्रायः पूर्वपूर्व आचार्य का निर्देश है। आचार्य शंकर ने दिङ्नाग के आलम्बनपरीक्षा नामक ग्रंथ के इस अंश को

"बाह्यार्थमेवं प्रत्याचक्षते" कहकर उद्धृत किया है—

यदन्तर्ज्ञेयरूपन्तद् बहिर्वदवभासते (ब्र० सू० २.२.२८)।

बौद्धमतोपन्यासार्थं प्रदर्शित इन भाष्य पंक्तियों को देख—

अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यम्। अपि च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यम्। स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनादिनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य०।

(२.२.२८)

इसके बाद धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के इन श्लोकों को देखें—

अनादिवासनासङ्गविधेयीकृतचेतसाम्।
विविधः प्रतिभासोयमेकत्र स्वप्नदर्शिनाम्॥
कार्यत्वात् सकलं कार्यं वासनाबलसम्भवम्।
कुम्भकारादिकार्यं वा स्वप्नदर्शनकार्यवत्॥

आचार्यशंकर ने एक श्लोकार्ध का कुछ शब्दों से उद्धरण दिया है—

अपि च सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति। (२.२.२८)

धर्मकीर्ति की कारिका है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।

आचार्य के प्राचीनत्वपक्षपातियों का कहना है कि भाष्यगत पंक्तियों को दिङ्नागादि ने श्लोकबद्ध कर दिया, यह बौद्धमत हजारों वर्ष पूर्व प्रचलित है। इत्यादि। इस प्रकार की बे सिर-पैर की अनर्गल न जाने क्या क्या कल्पनायें होती। पर आचार्य शिष्य, अतः उनके समकालीन वार्तिककार के एक श्लोक ने इन सब कल्पनाओं को निरस्त कर दिया है। सुरेश्वराचार्य ने एक जगह धर्मकीर्ति का नाम ले लिया है—

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥

(बृ० वा० ४.३.७५३)

वहाँ का पूरा प्रकरण धर्मकीर्ति खण्डनपरक है यह आनन्दगिरीय टीका से स्पष्ट है।

पुरी के शंकराचार्य से एक बार पत्रात्मक चर्चा हुई। हमने उनके सामने इन उदाहरणों को रखा तो उनका उत्तर था कि भाष्यकार वार्तिककार आदि सर्वज्ञ थे, अतः उन्होंने पहले ही भावी बौद्धों का नामोल्लेख कर खण्डन किया। परन्तु यदि भविष्यद् धर्मकीर्ति का नाम वार्तिककार ने लिया होता तो 'प्रत्यज्ञायि' ऐसा भूतप्रयोग न कर 'प्रतिज्ञास्यमानं' आदि प्रयोग करते। और यह कोई भविष्यपुराण तो लिखा नहीं जा रहा था। दूसरी बात यह भी है यदि भविष्यद् धर्मकीर्ति का नाम लेकर वार्तिककार ने खण्डन किया तो बाद में आने वाले धर्मकीर्ति ने उसे देखा ही होगा, तब उसे उस खण्डन का मण्डन और सुरेश्वराचार्य का खण्डन करना चाहिये था। खण्डन करने में यदि असमर्थ थे तो धूलिपात तो किया ही जा सकता था। अस्तु, ऐसी लोकातीत चर्चा इतिहासोपयोगी नहीं हो सकती। कोई श्रद्धालु मान ले तो अन्य विषय है।

ऐसे समाधान की अपेक्षा आधुनिक 'आर्य' भाइयों का यह प्रयत्न अधिक प्रशस्त होगा कि इन सब बौद्धाचार्यों को भी ईस्वी छः सौ पूर्व में ले जायें। उनके अनुसार इन सबको तेरह सौ वर्ष पीछे समझना चाहिये। परन्तु उनकी बात सुनने पर ऐसा लगता कि ये 'आर्य' भाई भी तेरह सौ वर्ष पूर्व हैं और शायद हम भी सप्तम शती में स्थित हैं। केवल बौद्धों को पीछे ले जाने से समस्या हल नहीं हो जाती। दिङ्नाग का खण्डन उद्योतकरने (न्यायवार्तिककार) और उनका खण्डन धर्मकीर्ति आदि ने किया है। नैयायिकों को भी पूर्व ले जाना होगा। इस प्रकार सभी दार्शनिकों को तेरह सौ वर्ष पहले मानना पड़ेगा। तब अनिवार्य है कि आप और हम भी तेरह सौ वर्ष पहले पहुँच जायेंगे! इतना ही नहीं, एक और विलक्षण परिस्थिति उपस्थित होती है। उक्त मत में भाष्य, वार्तिक, पञ्चपादिका, संक्षेपशारीरक आदि सभी आज से पचीस सौ वर्ष पूर्व बने। न्यायभाष्य, वार्तिक आदि भी तभी निर्मित हुए। उसके बाद प्रथम विद्वान् वाचस्पति ही मिलते हैं। बीच के तेरह सौ वर्ष खामोश कैसे चले गये? क्या मध्य में कोई बुद्धिमान् नहीं हुआ? कोई लेखक नही रहा? समग्र षड्दर्शन ही नहीं द्वादशदर्शन के लेखक एकाएक थम क्यों गये? फिर अकस्मात् 'आषढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानु' के समान नवम शती में वाचस्पति आदि सैकड़ो धुरंधर कैसे प्रकट हो गये? अब तक आराम करते बौद्धों को भी लगा होगा कि यह एक टिड्डी दल ही कहाँ

से आया। शायद ह्वेनसांग यही भावी अनिष्ट देख साठ घोड़ों पर पुस्तकें लाद कर चीन ले गया! इतने वर्षों तक बौद्धों ने भाष्य वार्तिकादि निरसनार्थ प्रयास क्यों कर नहीं किया? उन्हें तो अशोकादि चक्रवर्तियों का आश्रय प्राप्त था। क्या 'आर्य' भाई अशोकादि को भी पचीस सौ वर्ष पूर्व ही मानेगें? ऐसे में तो बचपन में सुनी वह कथा चारितार्थ होगी कि एक राजकुमारी को सुई लगी और वह सो गई। साथ ही महल के सब लोग सो गये। एक हजार वर्षों तक वे सब सोते रहे। तब कोई राजकुमार आया जिसने राजकुमारी का स्पर्श किया। छूते ही वह जग गयी, और उसके साथ ही सब जग गये। जैसे उस महल में घटनाशून्य हजार वर्ष बीते, वैसे ही 'आर्य' भाइयों के दर्शन साहित्य के तेरह सौ वर्ष मूक रह गये!

कुछ वर्ष पूर्व बुद्ध की पचीसवीं शताब्दी मनायी गयी थी। विश्वभर में वह मान्य गणना रही। पूरे विश्व के विरोध में कुछेक मनीषी ही उसे नकारते रहे। बुद्ध के बाद ही नागार्जुनादि की परम्परा सर्व मान्य है। उस हिसाब से आचार्य शंकर को पचीस सौ वर्ष पूर्व कैसे ले जा सकते हैं? सनातन धर्म की मान्यता की दृष्टि से भी आचार्य का जन्म सातवीं-आठवीं शती ही उचित है हर्षवर्द्धन तक बौद्ध धर्म चला। हर्ष का काल सातवीं शती है। यदि आचार्य के बाद बारह सौ वर्ष बौद्ध धर्म फलता-फूलता रहा, तो आचार्य ने किया क्या? आधुनिक शंकराचार्य पीठाधीपति आचार्य का महत्व बढ़ाने के लिये उन्हें पीछे ले जाना चाहते हैं, पर वस्तुतः उससे महत्व घटता है। बौद्ध आदि विधर्मियों को समाप्त कर सनातन धर्म की पुनः प्रतिष्ठा आठवीं शती में हुई। वही शंकरावतार का प्रयोजन था। **'यदा यदा हि धर्मस्य'** आदि गीतावचन भी तभी आचार्य के अवतारत्व का समर्थक हो सकता है। यद्यपि हम आचार्य का समय धर्मकीर्ति के बाद उसी अर्थात् सातवीं शती में भी मान सकते थे जैसा कुछ बंगीय ज्योतिष-विदों ने सिद्ध किया भी है, तथापि शृंगेरीमठ के तिथिपत्र के प्रबल आधार होने से उसका अति क्रमण उचित नहीं समझा। कोचीन के सरकारी ज्योतिषी सी० पी० पिचु ऐयरने माधवीय दिग्विजय के अनुसार विक्रम संवत् ८६३ को आचार्य का काल बताया है, पर उक्त दृढ प्रमाण के उलंघन से वह भी श्रद्धेय नहीं। सन् ७८८ में अभिनवशंकराचार्य की कल्पना भी निरर्थक है। उनका केवल रुद्रभाष्य नामक एक ही ग्रंथ मिलता है। इतने मात्र से वे लोकोत्तर प्रतिभाशाली सिद्ध नहीं होते।

आचार्य की रचनायें

आचार्यपाद की कुल कितनी रचनायें हैं, यह कहना कठिन है। भाष्यों के समान अनेक प्रकरण ग्रन्थ एवं विशाल स्तोत्र साहित्य उनकी रचना के रूप में प्रसिद्ध है। कुछ मुख्य रचनामात्र का यहाँ उल्लेख करेंगे।

ब्रह्मसूत्रभाष्य। शारीरकभाष्य आचार्य की सर्वोत्कृष्ट कृति है। भाषा की दृष्टि से ऐसी प्राञ्जल प्रसन्न-गंभीर भाषा दर्शन ग्रन्थों में अन्यत्र दुर्लभ है। पञ्चपादिकाकार और भामतीकार दोनों ने ही **'भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं'** ऐसा उद्‌गार प्रकट किया है। पातञ्जल महाभाष्य भी ऐसी ही प्राञ्जल भाषा में निबद्ध रचना है। शांकर भाष्य की विशेषता यह है कि समयानुसार जो साहित्य शैली का विकास हुआ, वह भी इसमें पदे पदे प्रस्फुटित होता है। एक साहित्यिक ने यहाँ तक लिख दिया है कि शांकरभाष्य तो हमारा ग्रंथ है। गंगा की धारा के समान भाषा का प्रवाह अटूट है। अभिप्रेत अर्थ को संमुख रखने में कोई कसर छोड़ी नहीं है अन्य वर्तमान शारीरकभाष्यों में वल्लभादि ने तो भाषा पर ध्यान ही नहीं दिया है। उनका विवक्षितार्थ टीका से ही ज्ञात होता है। रामानुजाचार्य ने भाषा की ओर ध्यान तो दिया पर लम्बे लम्बे समासों से ही सन्तुष्ट हो गये।

उपनिषद्भाष्य। दस मुख्य उपनिषदों पर आचार्य का भाष्य है। इन भाष्यों में शारीरक ग्रंथ की प्रांजलता नहीं मिलती। आनन्दगिरिटीका के बिना आशय समझना कुछ कठिन पड़ता है। श्वेताश्वतर व नृसिंहतापनीय उपनिषदों पर भी भाष्य उपलब्ध हैं, पर आनन्दगिरीय टीका न होने से उनके कर्ता के विषय में लोग सन्देह करते हैं। केवल भाषा की दृष्टि से उन्हें आचार्य से अन्य की कृति बताना अनुचित है, क्योंकि केवल इतने मापदण्ड से सूत्रभाष्यकार और दशोपनिषद्भाष्यकार का ऐक्य सिद्ध करना भी कठिन होगा। क्या भाषा की तुलना से नैषध और खण्डनखण्डखाद्य का समानकर्तृकत्व सिद्ध किया जा सकता है? इसी प्रकार विषय-गाम्भीर्य आदि को मानबिन्दु नहीं बना सकते। प्रयत्न के आधिक्य से गाम्भीर्य का अधिक होना स्वाभाविक है।

गीताभाष्य। महाभारतान्तर्गत गीता-प्रकरण उपलब्ध है जिस पर आचार्य का भाष्य है। इस भाष्य पर आचार्य आनन्दगिरि की टीका उपलब्ध है, अतः इसके कर्तृत्व के विषय में कोई संदेह नहीं है। सनत्सुजा-

तीय और विष्णुसहस्रनाम भी उक्त इतिहास के अंगभूत प्रकरण हैं जिन पर भाष्य तो उपलब्ध है पर आनंदगिरीय व्याख्या के अभाव में इन्हें आचार्य-कृति मानना सर्वसंमत नहीं है। तथापि पूर्ववत् समाधान समझना चाहिये।

ललितात्रिशती व कुछ वैदिक भागों पर भी भाष्य माना जाता है। इनमें पूर्वग्रंथ पर भाष्य उपलब्ध है। **योगसूत्रभाष्यविवरण** भी आचार्य के नाम से मिलता है। सिद्धान्त भेद से इसे अमान्य करना जैसे असंगत है वैसे पहले ही बताया जा चुका है। विवरण में उक्त भाष्य में अनेक मतांतर पाठादि दिखाये हैं, जबकि वाचस्पति के पाठों का स्पर्श नहीं है, जो उसे वाचस्पति से पूर्व की रचना सिद्ध करता है। वाचस्पति के ग्रंथ अति त्वरित गति से प्रसिद्ध होते थे, अतएव उनकी तात्पर्य टीका पर अर्ध शताब्दी से पूर्व ही उदयनाचार्य ने परिशुद्धि लिखी। अतः विवरण बाद का होते हुए वाचस्पत्य से अनभिज्ञ रहा, यह संभव नहीं। इन्ही कारणों से सांख्यकारिका की **जयमंगला** टीका भी सिद्धान्तानुगमनार्थं आचार्य ने पहले पहल लिखी हो, यह असम्भव नहीं। समान युक्तियों से सांख्यकारिका के गौडपादीयभाष्य को अन्य कर्तृक मानना अनावश्यक है। **प्रपञ्चसारतन्त्र** ग्रंथ आचार्य की कृति है, इस विषय में पद्मपादटीका की उपलब्धि उपोद्बलक है। आचार्य-प्रतिष्ठापित मठों में तान्त्रिक-पद्धति से शक्ति पूजन होते हैं। सिद्धान्त भेद के विषय में नवीन वक्तव्य नहीं है। लक्ष्मीधरादि आचार्यों के अनुसार सौन्दर्य लहरी भी आचार्य का लेख है। ऊहापोह पूर्ववत् जानना चाहिये।

उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, विवेकचूडामणि प्रभृति वेदान्तशास्त्र के अनेक प्रकरण ग्रंथों को भी भगवान् भाष्यकार ने रचा। इनमें कुछ पर आनंदगिरि टीका है, किसी पर पद्मपादाचार्य की टीका है। किसी में से कुछ श्लोक वार्तिककार ने उद्धृत भी किये हैं।

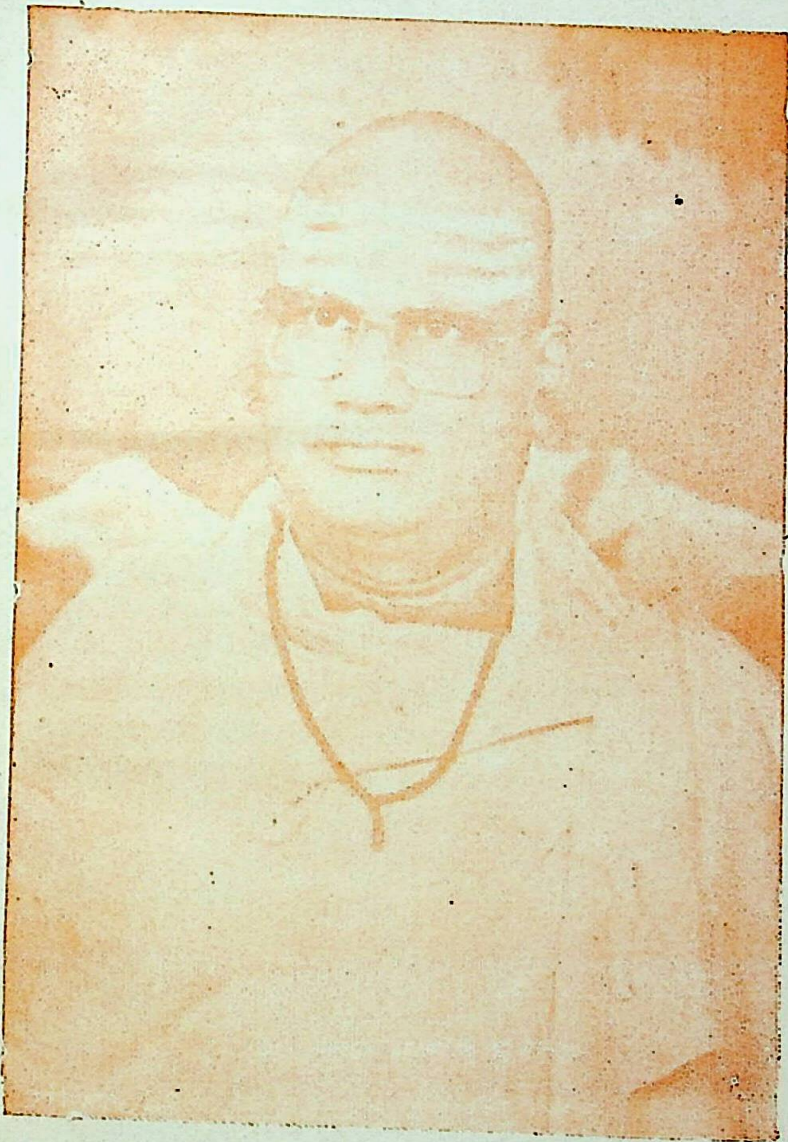
आचार्य कृत अनेक स्तोत्र प्रचलित हैं। कुछ लोग कहते हैं कि शंकराचार्य पीठासीन अन्यों की कृतियाँ ये स्तोत्र हैं। पर पवित्र शंकराचार्य-गद्दी पर स्थित हो वंचना करने की कल्पना भी कैसे की जाये ? यह तो वे ही कर सकते हैं जो उस कार्य में निपुण हैं। पीठासीन आचार्यों ने अपना अपना अलग नाम ही सर्वत्र उल्लेख किया है। आचार्य शंकर भारत भर में भ्रमण करते थे। मन्दिरों में जाने पर स्वकृत स्तोत्रों से

स्तुति करते थे। वे आशुकवि तो थे ही। लिख कर रखने के लिये शिष्य साथ रहते ही थे। अतः भाषा छन्द आदि का साम्य सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता। यह सरल व उचित कल्पना है।

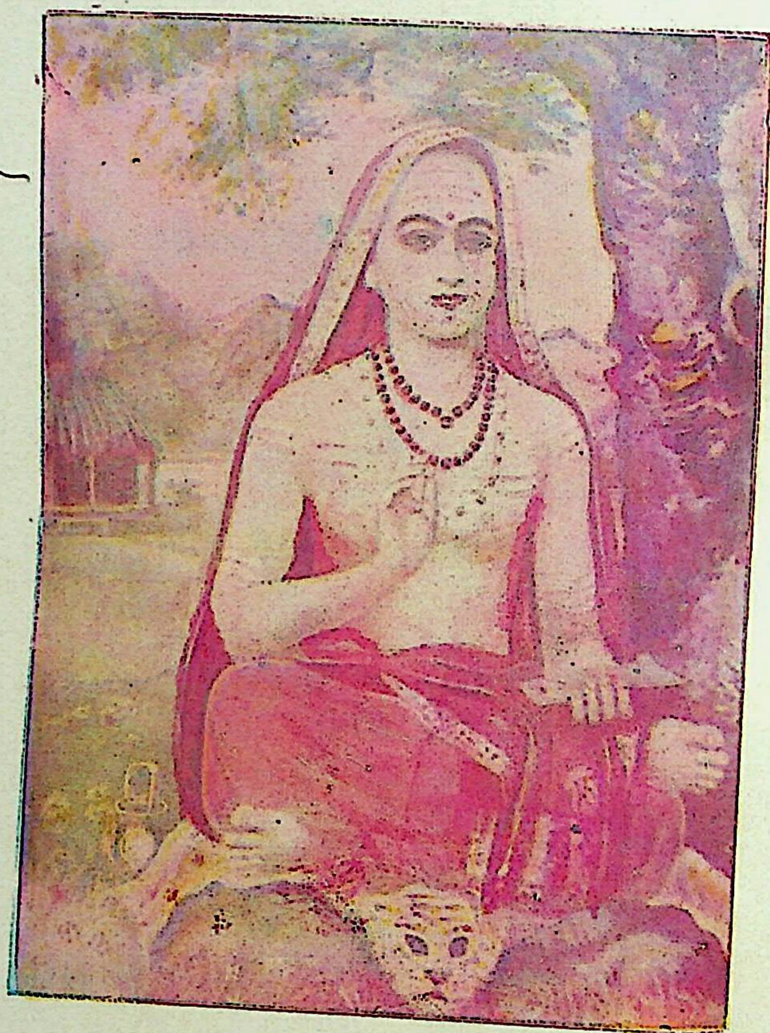
शंकरदिग्विजय

माधवीय शंकरदिग्विजय व प्रकृत संक्षिप्त दिग्विजय इतिहास मात्र को लिखने के लिये नहीं लिखा गया है। इसमें आचार्य की महत्ता, आदर्श और सिद्धान्तविश्लेषण संदृब्ध किया गया है। इसीलिये उन्हें अवतार के रूप में वर्णित किया है। अन्य दर्शन वालों को भगवदवतार मानने में हिचकिचाहट हो सकती है, पर वेदांतसिद्धांत में तो पूरा जगद् ब्रह्म रूप है–भगवदवतार है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। किन्तु जिसमें भगवदभिव्यक्ति अधिक होती है, उसे हम अवतार संज्ञा देते हैं। आचार्य में भागवत अभिव्यक्ति स्पष्ट होने से उन्हें अवतार मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं। इस ग्रंथ को श्रद्धापूर्वक पढ़ें, मनन करें, तो महान् लाभ हो सकता है।









श्री शंकरभगवत्पादाः



श्रीमज्जयमङ्गलाचार्य-
महामण्डलेश्वरस्वामिकाशिकानन्दविरचितः
संक्षिप्त-

शंकरदिग्विजयः

(श्रीमदाद्यशंकराचार्यचरितम्)

अथ प्रथमः सर्गः

प्रणम्य परमात्मानं शंकरं माधवं गुरुम् ।
संक्षेपतः प्रवक्ष्यामो दिव्यं दिग्विजयं वयम् ॥ १ ॥

परमात्मा को, भगवान शङ्कराचार्य को, माधवाचार्य को तथा श्रीगुरु को (अथवा अभिन्नरूप से ईश्वर गुरु तथा आत्मा को) प्रणाम कर संक्षेप में शङ्कर दिग्विजय का मैं वर्णन करूँगा ॥१॥

अल्पेऽपि दर्पणे वीक्ष्यो घटानां पटलो यथा ।
तथेहार्थचयोऽल्पेऽपि ग्रन्थे सन्धीयतां बुधैः ॥ २ ॥

जिस प्रकार एक छोटे दर्पण में विशाल आकाश मेघमण्डलादि दिखाई पड़ते हैं वैसे सारात्मक इस छोटे ग्रन्थ में भी दिग्विजय का पूरा अर्थ प्रतिबिम्बित देखिए ॥२॥

स्तुतोऽपि कविभिः प्राङ् मे स्तुत्या तुष्यतु शंकरः ।
क्षीराब्धिवासी किं क्षीरं गोष्ठे न चकमे हरिः ॥ ३ ॥

बड़े बड़े कवियों ने यद्यपि शङ्करभगवत्पाद की स्तुति पूर्व की है। फिर भी मेरी इस छोटी स्तुति से भी शङ्कर प्रसन्न होंगे। क्या क्षीरसागरवासी होने पर भी भगवान् हरि व्रज में अल्प दूध के लिए नहीं तरसते थे ॥३॥

क्व शांकरा गुणगणाः क्व चाहं मन्दचेतनः ।
तथापि तत्कृपालेशाद् यते तद्गुणवर्णने ।। ४ ।।

आचार्यशङ्कर के अगणित गुणगण कहाँ ? और अल्पचेतन मैं कहाँ ? फिर भी आचार्य की कृपालेश हमारे ऊपर है, उसी से निर्भीक होकर उनके गुणवर्णन के लिए यत्न करता हूँ ।।४।।

संसाराख्यानकालाङ्ककलुषां रसनामिमाम् ।
श्रीशंकरगुणाख्यानगाङ्गतोयैर्विशोधये ।। ५ ।।

संसारिक वस्तुओं के वर्णन से मेरी रसना काले कलुष से कलुषित हो चुकी है। उसे श्रीशङ्करसद्गुणवर्णनरूपी गङ्गाजल से मैं शोधित करने जा रहा हूँ ।।५।।

श्रीशंकरयशोदुग्धतायिनीं गामिमां पराम् ।
मा दूदुषन् शुभतनुं दुर्जना हि तुरुष्कवत् ।। ६ ।।

श्रीशङ्कर के यशरूपी दूध को दुहाने वाली मेरी इस उत्तम गौ (वाणी) को यवनों के समान दुर्जन बन कर दूषित न करें ।।६।।

अथ वा बहुरत्नायां गुणगृह्येषु सत्सु कौ ।
का मे चिन्ताऽथवा तुष्टे शंकरे का व्यथा मम ।। ७ ।।

अथवा बहुरत्ना वसुन्धरा है। दोषग्राही के समान गुणग्राही भी यहाँ हैं। तब मुझे किस लिए चिन्ता करनी चाहिए। अथवा दुनिया प्रसन्न हो या न हो इससे मेरा क्या मतलब ? आचार्य शङ्कर यदि प्रसन्न हुए तो मुझे किसी भी बात के लिए खेद नहीं है ।।७।।

यच्छाङ्करयशश्चन्द्रग्रहे वैमानिका अपि ।
भग्नास्तत्र शिशोः का स्यादुद्बाहोर्नाम मे गतिः ।। ८ ।।

तथापि तस्य कारुण्यकटाक्षाः स्वयमेव ते ।
मदीयहृदये स्थित्वा तज्ज्योत्स्नां भासयिष्यति ।। ९ ।।

श्री शङ्करयश चन्द्रमा के समान है। उसे ग्रहण करने में विमानवाले भी बीच में कभी कभी हताश होते हैं। फिर ऊपर हाथ उठाए बच्चे के सदृश मेरी तो क्या ही गति होगी। फिर भी आचार्य के करुणाकटाक्ष स्वयमेव मेरे हृदय में रहकर उस कीर्तिचन्द्र की चाँदनी को प्रकाशित करते रहेंगे ।।८-९।।

यद्वा स्मरणपुण्यौघशुद्धा गीर्दर्पणायिता ।
श्रीशंकरगुरोः कीर्त्तेः प्रतिबिम्बं ग्रहीष्यति ॥ १० ॥

अथवा श्रीशङ्करस्मरणपुण्य से निर्मल हुई दर्पणोपम मेरी बुद्धि आचार्य-कीर्ति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेगी (वस इतने ही से कीर्तिवर्णन संभव है) ॥१०॥

एकदा देवताः सर्वा उपस्थाय महेश्वरम् ।
मुकुलीकृतहस्ताब्जा विनयेन व्यजिज्ञपन् ॥ ११ ॥

एक समय की बात है—समस्त देवता कैलासपति शङ्कर भगवान के पास गए। हाथ जोड़कर उन्होंने विनय के साथ निवेदन किया ॥११॥

हिताय नो हि भगवन् मोहयामास भू सुरान् ।
वञ्चयन् सुगतान् बुद्धवपुर्धारी जनार्दनः ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! विष्णु ने हमारे ही हित के लिए बुद्धशरीर धारण कर सौगत भूसुरों को वंचन करते हुए पहले मोहित किया। (देवताओं का हित यहाँ दो प्रकार से हो सकता है। एक यह कि यज्ञयागादि से सभी देवलोक न पहुँच जाए। अथवा यज्ञ के बहाने मांसाशनप्रिय भ्रष्ट हो रहे थे दूसरों को भी भ्रष्ट कर रहे थे। जिस से दांभिक यज्ञ बढ़ जाने से देवता नाखुश हो रहे थे) ॥१२॥

तत्प्रणीतागमालम्बैर्बौद्धैर्दर्शनदूषकैः ।
व्याप्तेदानीं प्रभो धात्री रात्री संतमसैरिव ॥ १३ ॥

परं तु 'वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टं' के अनुसार इस समम बुद्धनिर्मित शास्त्र का आलंबन करनेवाले आस्तिकदर्शनदूषक बौद्धों से पृथिवी व्याप्त हो रही है, जैसे अंधकार से रात्रि ॥१३॥

वर्णाश्रमसमाचारान् द्विषन्ति ब्रह्मविद्विषः ।
वदन्ति वेदमन्त्राणां जीविकातन्त्रमात्रताम् ॥ १४ ॥

ब्रह्मद्वेषी बौद्ध वर्णाश्रमाचार से द्वेष करते हैं और वेदमन्त्रों को केवल आजीविका का साधन कहते हैं ॥१४॥

शिवविष्ण्वागमपरैः शाक्यैः कापालिकैरपि ।
विदीर्णा वेदमर्यादा नानामार्गैः सकण्टकैः ॥ १५ ॥

दूसरी ओर शैवागमवाले, वैष्णवागमवाले, जैन एवं कापालिकों ने भी सकण्टक नानामार्गपंथों से वेदमर्यादा को जीर्ण-शीर्ण कर दिया ॥१५॥

तद्भवाल्ँलोकभव्यार्थमुत्साद्य निखिलान् खलान् ।
वर्त्म स्थापयितुं श्रौतमर्हत्यखिलशर्मदम् ॥ १६ ॥

इसलिए आप लोककल्याणार्थं निखिल खलों का नाश कर वैदिक मार्ग की स्थापना करें, जिससे जगत् सुख को प्राप्त हो ॥१६॥

इत्युक्त्वोपरतान् देवानुवाच गिरिजापतिः ।
मनोरथं पूरयिष्ये मानुष्यमवलम्ब्य वः ॥ १७ ॥

इतना कह कर जब देवता उपरत हुए तब गिरिजापति शङ्कर ने कहा अवश्य ही मैं मनुष्य शरीर धारण कर आप लोगों का मनोरथ पूरा करूँगा ॥१७॥

दुष्टाचारविनाशाय धर्मसंस्थापनाय च ।
भाष्यं कुर्वन् ब्रह्मसूत्रतात्पर्यार्थविनिर्णयम् ॥ १८ ॥
चतुर्भिः सहितः शिष्यैश्चतुरैर्हरिवद् भुजैः ।
यतीन्द्रः शंकरो नाम्ना भविष्यामि महीतले ॥ १९ ॥

अधर्मविनाशार्थं तथा धर्मसंस्थापनार्थं ब्रह्मसूत्रतात्पर्यार्थनिर्णायक भाष्य बना कर हरि के चार भुजाओं के सदृश चार शिष्यों के साथ शङ्कराचार्य के रूप में मैं पृथिवी पर अवतार ग्रहण करूँगा ॥१८-१९॥

मद्वदेव भवन्तोऽपि मानुषीं तनुमाश्रिताः ।
मामेवानुसरिष्यन्ति भर्गं स्वर्गनिवासिनः ॥ २० ॥

मेरे समान आप सभी देवता मनुष्य शरीर धारण कर मेरा ही अनुसरण करेंगे ॥२०॥

अथात्मनन्दनं स्कन्दमब्रवीच्चन्द्रशेखरः ।
शृणु सोम्य वचः श्रेयो जगदुद्धारगोचरम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार देवताओं को निर्देश करने के बाद भगवान् शङ्कर अपने पुत्र कार्त्तिक स्वामी को कहा—हे सोम्य ! जगत् के उद्धार के लिए मेरा वचन सुनो ॥२१॥

काण्डत्रयात्मको वेदस्तदुद्धारे द्विजावनम् ।
तद्रक्षणे रक्षितं स्यात्सकलं जगतीतलम् ॥ २२ ॥

वेद तीन काण्डों में विभक्त हैं । त्रिकाण्डात्मक उन वेदों के उद्धार से ब्राह्मणोद्धार होगा । ब्राह्मणोद्धार से जगत् की रक्षा होगी ॥२२॥

मया हि समनुज्ञातौ विष्णुशेषौ महाधृतौ ।
अवतीर्यावनौ नाम्ना संकर्षणपतञ्जली ॥ २३ ॥
उपासनां च योगं च सम्यग् व्याख्याय सन्मुनी ।
उपास्तिकाण्डसंरक्षां समनुष्ठास्यतोऽचिरात् ॥ २४ ॥

मेरी आज्ञा से विष्णु और शेष संकर्षण और पतंजलि के रूप में पृथिवी में अवतीर्ण होकर उपासना तथा योग की व्याख्या कर उपासनाकाण्ड की रक्षा शीघ्र ही करेंगे ॥२३-२४॥

विशिष्टं कर्मकाण्डं त्वमुद्धर ब्रह्मणः कृते ।
सुब्रह्मण्य इति ख्यातिं गमिष्यसि ततो भुवि ॥ २५ ॥
ब्रह्मापि ते सहायार्थं मण्डनो नाम भूसुरः ।
भविष्यति महेन्द्रोऽपि सुधन्वा नाम भूपतिः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणत्वरक्षणार्थं विशिष्ट कर्मकाण्ड का उद्धार तुम करो जिससे तुम्हारा 'सुब्रह्मण्य' ऐसा ख्यात नाम होगा । ब्रह्माजी भी तुम्हारी सहायता के लिए मण्डन मिश्र बनेंगे और इन्द्र भी सुधन्वा नाम के राजा होंगे ॥२५-२६॥

अग्रिमं ज्ञानकाण्डं तदुद्धरिष्याम्यहं स्वयम् ।
शंकरेत्यभिधां बिभ्रत्सर्वाम्नायाभिरक्षकः ॥ २७ ॥

शंकराचार्य नाम से मैं स्वयं अन्तिम ज्ञानकाण्ड की रक्षा कर सर्ववेद-रक्षक होऊँगा ॥ २७ ॥

अथेन्द्रो नृपतिर्भूत्वा ज्ञाततत्त्वोऽपि लौकिकः ।
प्रतीक्षमाणः क्रौञ्चारिं मेलयामास सौगतान् ॥ २८ ॥

इसके अनन्तर इन्द्र सुधन्वा राजा होकर तत्त्व को जानते हुए भी लौकिक रीति अपनाते हुए कार्त्तिक स्वामी की प्रतीक्षा में बौद्धों को मिलाते रहे ॥ २८ ॥

कुमारोऽप्यजनिष्टाथ भट्टपादाभिधां दधत् ।
व्याचष्ट जैमिनीयार्थं त्रिविधैर्वार्त्तिकैः प्रभुः ॥ २९ ॥

कार्त्तिकस्वामी भी कुमारिलभट्ट नाम से अवतीर्ण होकर श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक और टुप्टीका इस प्रकार त्रिविध वार्त्तिकों से जैमिनि प्रोक्त अर्थ की व्याख्या की ॥ २९ ॥

राज्ञः सुधन्वनः प्राप नगरीं स कदाचन ।
प्रत्युद्गतः स भूपेन व्यराजयत तत्सभाम् ॥ ३० ॥

कदाचित् कुमारिलभट्ट राजा सुधन्वा की नगरी में पहुँचे । राजा ने उनका सत्कार किया । राजसभा में वे देदीप्यमान होने लगे ॥ ३० ॥

सभासमीपविटपिश्रितकोकिलकूजितम् ।
श्रुत्वा जगाद तद्व्याजाद्राजानं पण्डिताग्रणीः ॥ ३१ ॥
मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते नीचैः काककुलैः पिक ।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥ ३२ ॥

राजसभा के समीप में ही एक पेड़ पर बैठ कर कोयल गा रहा था । उसे सुन कर उसी के बहाने राजा को भट्टपाद ने कहा—हे कोकिल यदि तुम्हारा श्रुति (कान और वेद को) परेशान करने वाले शब्द जिनके मुख से निकलते हैं उन नीच कौओं के साथ सङ्ग न होता तो अवश्य तुम श्लाघनीय होते ॥३१-३२॥

षडभिज्ञा निशम्येमां वाचं तात्पर्यगर्भिताम् ।
उत्तस्थुश्चरणस्पृष्टा भुजङ्गा इव सव्यथाः ॥ ३३ ॥

तात्पर्ययुक्त भट्ट वाणी सुनकर बौद्ध लोग पदाहत सर्पों के समान चौंक उठे ॥३३॥

छित्वा युक्तिकुठारेण बुद्धसिद्धान्तशाखिनम् ।
कुमारो हेडयामास तारा इव दिवाकरः ॥ ३४ ॥

युक्तिरूपी कुठार से कुमारिलभट्ट ने बुद्धसिद्धान्तरूपी पेड़ को काट गिराया और बौद्धों को उसी प्रकार अभिभूत किया जैसे सूर्य तारों को।३४॥

ततः प्रक्षीणदर्पेषु बौद्धेषु वसुधाधिपम् ।
बोधयन् बहुधा वेदवचांसि प्रशशंस सः ॥ ३५ ॥

बौद्धों का दर्प नष्ट हो गया तो उन्होंने राजा को वेद की महिमा बतायी ॥ ३५ ॥

अथाभाषत भूपालो विद्यायत्तौ जयाजयौ ।
परीक्षिष्ये परां सिद्धिं सत्यसन्धानिबन्धनाम् ॥ ३६ ॥

राजा ने कहा—जय पराजय तो बुद्धिकुशलता के अधीन है। सत्य का निश्चय करने के लिये मैं परीक्षा करूँगा ॥ ३६ ॥

इति संश्रुत्य गोत्रेशो घटमाशीविषान्वितम् ।
आनीयात्र किमस्तीति पप्रच्छ द्विजसौगतान् ॥ ३७ ॥

ऐसी प्रतिज्ञा कर राजा ने एक घड़े के अन्दर सर्प को बन्द करवा कर मँगाया और ब्राह्मण वर्ग तथा बौद्ध समुदाय से पूछा कि इसमें क्या है बताओ ॥ ३७ ॥

वक्ष्यामहे वयं भूप श्वः प्रभातेऽस्य निर्णयम् ।
इति प्रसाद्य राजानं जग्मुर्भूसुरसौगताः ॥ ३८ ॥

कल प्रातःकाल हम निर्णय बतायेंगे ऐसा राजा को प्रसन्न कर दोनों वर्ग वहाँ से गये ॥ ३८ ॥

उपास्य द्युमणिं विप्राः समाधाय च सौगताः ।
आजग्मुरपरेद्युस्ते सभामध्यगतं नृपम् ॥ ३९॥

ब्राह्मणों ने अनवरत सूर्योपासना की और बौद्धों ने समाधि लगायी। दोनों दूसरे दिन समय पर राजसभा में उपस्थित हुए ॥३९॥

ततश्च सौगताः सर्वे भुजङ्गोऽस्तीत्यवादिषुः ।
भोगीशभोगशयनो भगवानिति भूसुराः ॥ ४० ॥

बौद्धों ने कहा—राजन् इस घड़े में सर्प है। और ब्राह्मणों ने कहा—राजन् इसमें सर्पशय्याशायी हरि है ॥४०॥

खिन्नोऽभून्नृपतिर्वीक्ष्य भूसुराणां पराजयम् ।
विवृते तु घटेऽद्राक्षीत् परां मूर्त्तिं मधुद्विषः ॥ ४१ ॥

यह तो सच में ब्राह्मणों की पराजय है ऐसा देख कर राजा खिन्न अवश्य हुए। परन्तु घड़ा खोल कर देखा तो वस्तुतः सर्प पर भगवान् हरि की मूर्त्ति दिखाई दी ॥४१॥

सौगतास्त्वब्रुवन्नेदं प्रमाणं मतनिर्णये ।
मणिमन्त्रौषधैरेवं चक्षुराच्छादनं भवेत् ॥ ४२ ॥

बौद्धों ने कहा मतनिर्णय में यह प्रमाण नहीं हो सकता, क्यों कि मणि-मन्त्रादि से यह तो आँख बाँधने जैसा है ॥४२॥

अङ्गीकृत्य नृपः सर्वानुवाच द्विजसौगतान् ।
यः पतित्वा गिरेः शृङ्गादव्ययस्तन्मतं ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

राजा ने भी वात मानी और कहा कि जो पर्वतशिखर से कूद कर भी न मरे उसका सिद्धान्त सत्य है ॥४३॥

तदाकर्ण्य मुखान्यन्ये परस्परमलोकयन् ।
कुमारिलः स्मरन् वेदानारुरोह गिरेः शिरः ॥ ४४ ॥

यह सुन कर एक दूसरे का मुंह ताकने लगे । परं तु कुमारिल भट्ट वेदों का स्मरण करते हुए पर्वतशिखर पर चढ़े ॥४४॥

श्रुत्वा तदद्भुतं कार्यं द्विजा दिग्भ्यः समाययुः ।
घनघोषमिवाकर्ण्य निकुञ्जेभ्यः शिखावलाः ॥ ४५ ॥

यह अद्भुत कार्य सुन कर देखने के लिये चारों दिशाओं से ब्राह्मण वर्ग आये, जैसे मेघगर्जन सुन कर कुञ्जों से निकलकर मयूर बाहर आते हैं ॥४५॥

यदि वेदाः प्रमाणं स्युर्भूयात्काचिन्न मे क्षतिः ।
इति चाऽऽघोषयंस्तस्मान्निपपात गिरेरधः ॥ ४६ ॥

यदि वेद प्रमाण हैं तो मेरी कोई क्षति नहीं होगी । इस प्रकार घोषणा के साथ पर्वत के शिखर पर से वे नीचे कूद पड़े । ["प्रामाण्यान्ननु वेदानां" ऐसा प्रथमपाद का पाठान्तर समझना चाहिये] ॥४६॥

हाहाकारो महानासीत्तस्मिन् पतति देहिनाम् ।
ययातिश्च्यवते स्वर्गादुल्का वेत्यभ्रमञ्जनाः ॥ ४७ ॥

उस समय वड़ा हाहाकार हुआ । क्या यह स्वर्ग से ययाति तो नहीं गिर रहे । क्या यह कोई उल्कापात तो नहीं हो रहा । ऐसा संशय होने लगा ॥४७॥

दृष्ट्वा तमक्षतं राजा श्रद्धां श्रुतिषु संदधे ।
वैदिकं परमं धर्ममादधे स्कन्दशासनात् ॥ ४८ ॥

राजा ने कुमारिल को अक्षत देखकर श्रुति में श्रद्धा की और कुमारिल के शासनानुसार वैदिकधर्म का आश्रयण किया ॥४८॥

प्रामाण्यं चापि वेदानां सर्वैर्लोकैः समाश्रुतम् ।
यदिशब्दाच्च तस्यैकं चक्षुः केवलमस्फुटत् ॥ ४९॥

सब ने वेदप्रामाण्य माना। यदि शब्द के प्रयोग के कारण कुमारिल की केवल एक आँख फूटी [द्रष्टव्यः—यदि सौधाग्र से गिराते समय एक आँख गयी तो इस श्लोक को यहाँ न रखना चाहिये और श्लोक ४६ में प्रामाण्यान्ननु वेदानां यही पाठ समझना चाहिये] ॥४९॥

स्कन्दानुसारिणा चैव राज्ञा धर्मद्विषो हताः ।
धर्मश्च शुशुभे मेघव्यपाये ह्यंशुमानिव ॥ ५० ॥

राजा कुमारिलानुयायी हुए और उनके उपदेशानुसार धर्मद्वेषियों का विनाश किया। उस समय धर्म उसी प्रकार शोभायमान हुआ जैसे मेघ के हटने से सूर्य प्रकाशित होता है।

प्रागित्थं ज्वलनभुवा प्रवर्त्तितेऽस्मिन्
कर्माध्वन्यखिलविदा कुमारिलेन ।
उद्धर्त्तुं भुवनमिदं भवाब्धिमग्नं
कारुण्यप्रणिधिरियेष चन्द्रचूडः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार कुमारिल भट्ट के द्वारा कर्ममार्ग का उद्धार किये जाने के बाद (या उस बीच में ही) भवसागरमग्न संसार का उद्धार करने के लिये दयानिधान भगवान चन्द्रचूड का संकल्प हुआ ॥५१॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
समाप्तः प्रथमः सर्गः कुमारिलजयान्वितः ॥ १ ॥

—:०:—

अथ द्वितीयः सर्गः

केरलेषु कृपासिन्धुर्वृषाद्रौ वृषभध्वजः ।
पूर्णातटेऽभूत् प्रकटः स्वयम्भूलिङ्गरूपतः ॥ १ ॥

केरल प्रान्त में वृषाद्रि नाम के स्थान में पूर्णा नदी के किनारे कृपासिन्धु भगवान् शंकर स्वयंभू लिंग के रूप में प्रकट हुए ॥१॥

स्वप्ने तत्प्रेरितो राजा भक्तिमान् राजशेखरः ।
प्रासादं परिकल्प्यास्य प्रावर्त्तयत पूजनम् ॥ २ ॥

भक्त राजा राजशेखर को स्वप्न में आदेश हुआ और तदनुसार उन्होंने शिवमंदिर बनवाकर पूजन प्रारम्भ करवाया ॥२॥

तद्देवमन्दिराभ्याशे कालटिर्नाम नामतः ।
ग्रामोऽग्रहारः षड्बाधारहितोऽस्ति मनोहरः ॥ ३ ॥

उस शिवमंदिर के पास कालटि नाम का एक ब्राह्मणों का गांव है, जो अत्यन्त मनोहर एवं छः बाधाओं से रहित है ॥३॥

तत्र विद्याधिराजाख्यो विपश्चिन्निश्चलात्मधीः ।
तत्सुतोऽभूच्छिवगुरुः शिवो ज्ञाने गुरुर्गिरि ॥ ४ ॥

उस गांव में विद्याधिराज नाम के एक आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वान् थे जिन के पुत्र थे शिवगुरु, जो ज्ञान में शिव के समान और वाणी में गुरु बृहस्पति के समान होने से यथार्थ नाम वाले थे ॥ ४ ॥

गुरुशुश्रूषणो वर्णी व्रती स विहितान्नभुक् ।
अध्यगीष्ट निजं वेदं वेदार्थं च व्यचारयत् ॥ ५ ॥

वे (शिवगुरु) ब्रह्मचर्यावस्था में गुरुशुश्रूषा करते हुए सात्त्विक अन्न ग्रहण करते हुए व्रत में स्थित रहते थे। उन्होंने अपने वेद का अध्ययन कर मीमांसा-विचार भी किया ॥ ५ ॥

तं गुरुः प्राह याहि स्वान् सदारः शुभमाचर ।
श्वस्तनं कार्यमद्यैव पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ॥ ६ ॥

गुरु जी ने शिवगुरु को कहा कि अब तुम्हारा अध्ययन पूरा हो गया है। विवाह कर शुभकार्य करो। शुभकार्य जल्दी करना चाहिये। जो कल करना है उसे आज करो, जो सायंकाल करना है उसे प्रातःकाल ही कर डालो ॥ ६ ॥

फलाय कल्पते कार्यं स्वकाले विहितं किल।
यद्वर्षासूप्यते सस्यं ग्रीष्मोप्तं फलदं न तत् ॥ ७ ॥

अपने काल में किया गया कार्य फलदायी होता है। वर्षा में जो बोया जाता है उसे ग्रीष्म में बोने पर वह फलदायी नहीं होता ॥ ७ ॥

सूनोः परिणयं मातापितरौ नित्यमिच्छतः।
पित्रोः प्रकृतिरेवेयं सुतदारदिदृक्षुता ॥ ८ ॥

मातापिता पुत्र का विवाह चाहते हैं। उनकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वे सदार पुत्र को देखना चाहते हैं ॥ ८ ॥

पुन्नामनरकत्राणात् पुत्राख्या तनुजन्मनः।
ततश्च पितरः पुत्रपौत्रान् वाञ्छन्ति वीक्षितुम् ॥ ९ ॥

पुत् यह नरकवाचक है। उससे जो त्राण रक्षा करे वही पुत्र है। यही कारण है कि लोग अपने पुत्र पौत्रादि को देखना चाहते हैं ॥ ९ ॥

किं चार्थबोधकृद् वेदविचारः कर्महेतवे।
तत्राधिकारिणं प्राहुः सद्वितीयं द्विजं बुधाः ॥ १० ॥

और भी बात यह है कि मीमांसाविचार से वेदार्थ ज्ञात होता है। वह कर्मार्थ ही है। और कर्म में अधिकार सपत्नीक द्विज को ही है ॥ १० ॥

सत्यं गुरो न तु पुनर्नियमस्तत्र विद्यते।
विरक्तः प्रव्रजेद्वर्णी ह्याजीवं वा गुरौ वसेत् ॥ ११ ॥

ब्र० शिवगुरु ने कहा—हे गुरुदेव! आपका वचन सत्य है। परन्तु विवाह करना ही चाहिये ऐसा कोई नियम तो नहीं है। क्योंकि वैराग्य होने पर ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास ग्रहण करने का विधान है। और जीवनपर्यन्त गुरुकुलवास का भी विधान आता है ॥ ११ ॥

स्वर्गादयोऽनित्यरूपा निःस्वश्च निरयो गृही।
न भोक्तुं नापि दातुं स प्रभवेदिति हि स्थितिः ॥ १२ ॥

स्वर्गादि अनित्य है। धनहीन गृहस्थाश्रम भी नरकोपम है—न खा सकते और न दे सकते ॥ १२ ॥

इत्थं शिवगुरौ नम्रं गुरौ वदति तत्पिता।
आनेतुमागमत्तत्र तनयं तनयप्रियः ॥ १३ ॥

इस प्रकार नम्रता के साथ शिवगुरु अपने गुरुओं के चरणों में निवेदन कर ही रहे थे, इतने में पुत्रप्रिय विद्याधिराज अपने पुत्र को लेने वहाँ आये ॥ १३ ॥

तदाग्रहं निराकर्त्तुमशक्तः पितृवत्सलः।
आचार्याय प्रियं दत्त्वा धनं स्वनिलयं ययौ ॥ १४ ॥

पिता का भारी आग्रह देखा तो पितृभक्त शिवगुरु निराकरण न कर सके और आचार्य को गुरुदक्षिणा दे कर वे स्वगृह आ गये ॥ १४ ॥

बह्वर्थदेषु बहुषु कन्यादातृषु सत्स्वपि।
ययाचे मघमेवासौ कन्यां शुभ्रकुलोद्भवाम् ॥ १५ ॥

वहुत धन के साथ कन्या देने वाले यद्यपि वहुत थे, फिर भी विद्याधिराज ने मघनामक पंडित से ही कन्यार्थ याचना की, क्योंकि वह कन्या पितृकुल और मातृकुल से उत्तम थी ॥ १५ ॥

मम गेहं समागत्य कन्या ग्राह्येति सोऽब्रवीत्।
मम गेहं समानीय कन्या देयेति चेतरः ॥ १६ ॥
संकल्पाद् द्विगुणं द्युम्नं दास्यामीति मघोऽब्रवीत्।
विनैवार्थं ग्रहीष्यामि वचो मेऽस्त्विति चापरः ॥ १७ ॥

मघ और विद्याधिराज में ऐसा विवाद हुआ कि मघ कहने लगे मेरे स्थान में आकर विवाह करना चाहिये। विद्याधिराज ने कहा—नहीं मेरे यहाँ आ कर कन्या देना चाहिये। मघ ने कहा कि मैंने दहेज के रूप में जितना संकल्प किया उससे दुगुना धन दूँगा, आप हमारे यहाँ आये। विद्याधिराज ने कहा—मैं विना धन ही कन्या का ग्रहण करूँगा वचन मेरा रहे ॥ १६-१७ ॥

यथाकालं यथान्यायं यथाशास्त्रं यथाविधि।
सतीमुद्वाह्य परमां मुदं शिवगुरुर्ययौ ॥ १८ ॥

खैर, यथारीति, यथासमय, यथाशस्त्र, यथाविधि मघपुत्री सती को व्याह कर शिवगुरु अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए ॥१८॥

स पितॄन् नॄंश्च देवांश्च नित्यं यज्ञैरतर्पयत् ।
वेदशास्त्राण्यधीयानः समयानत्यवाहयत् ॥ १९ ॥

शिवगुरु पितृयज्ञ नृयज्ञ एवं देवयज्ञादि नित्य करते रहे और वेदशास्त्राध्ययन करते रहे ॥१९॥

गावो हिरण्यं वसुधा सुहृदो बान्धवा गृहाः ।
सुखयन्ति न तं विप्रं पुत्रहीनं जरत्तनुम् ॥ २० ॥

उनको अव गायें, सुवर्ण, पृथिवी, मित्र, बन्धु, गृहादि फीके लगने लगे। कारण शरीर वृद्ध होता जा रहा है और अव तक कोई पुत्र नहीं हुआ है ॥२०॥

स सतीमगदीद्भार्यां गृहस्थस्य सतो मम ।
विफलं जायते जन्म विना पुत्रं मनस्विनि ॥ २१ ॥

शिवगुरु ने अपनी पत्नी सती से कहा कि हे मनस्विनी ! गृहस्थ होकर मेरा पुत्र न होने से जन्म व्यर्थ सा हो रहा है ॥ २१ ॥

भजाव गिरिजानाथं प्रपन्नसकलार्थदम् ।
स ददातीप्सितं तत्र प्रमाणं ह्यौपमन्यवम् ॥ २२ ॥

सतीः—भगवन् ! हम प्रपन्नपारिजात गिरिजापति शंकर का भजन करें। वे शरणागत के लिए सर्वार्थदायी हैं। उपमन्यु का प्रमाण प्रत्यक्ष है ॥२२॥

इत्युक्तो जायया सोऽपि वगाह्य विमलापगाम् ।
शिवं प्रावकन्दभुग्भेजे पश्चादनशनोऽनिशम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार सती के कहने पर शिवगुरु समीपस्थ पूर्णा नदी में स्नान कर शंकर का भजन करने लगे। प्रथम कन्दमूल खाते रहे, वाद में अनशन करते रहे ॥२३॥

इत्थं बहुतिथे काले व्यतीते भगवान् भवः ।
स्वप्ने स्वं दर्शयित्वाथापृच्छत्पुत्रेच्छवे सते ॥ २४ ॥

सर्वज्ञं वक्षि पुत्रं किमल्पायुषमकल्मषम् ।
किं वा दीर्घायुषोऽनेकानगुणानल्पशेमुषीन् ॥ २५ ॥

इस प्रकार तप करते हुए काफी समय बीत गया। एक बार भगवान शंकर ने स्वप्न में शिवगुरु को दर्शन देकर पूछा कि बताओ सर्वज्ञ निर्दोष किन्तु अल्पायु एक पुत्र चाहते हो ? या दीर्घायु अनेक किन्तु गुणहीन मुर्ख पुत्र चाहते हो ? ॥२४-२५॥

सर्वज्ञं देहि मे सूनुमेकमेव जगत्प्रभो ।
इत्युक्तः स तथेत्याह स्वप्नाच्चासावपासरत् ॥ २६ ॥

शिवगुरु ने कहा—हे जगत्प्रभो ! आप मुझे भले एक पुत्र दें, किन्तु वह सर्वज्ञ हो। शंकर तथास्तु कह कर स्वप्न से हट गये ॥२६॥

तं श्रुत्वा स्वप्नवृत्तान्तं प्रसन्नहृदया सती ।
विप्रेभ्यो गोहिरण्यादि प्राददाद् बहुदक्षिणाः ॥ २७ ॥

स्वप्नवृत्तान्त सुनकर सती प्रसन्न हृदय होकर ब्राह्मणों को गाय सुवर्ण इत्यादि अनेक दक्षिणा दी ॥२७॥

तस्मिन् दिनेऽन्नमविशद् भोक्ष्यमाणमुमापतिः ।
सोऽभुङ्क्त तदनुज्ञाता भुक्तशेषं च सा सती ॥ २८ ॥

उसी दिन शिवगुरु के भोज्य अन्न में शंकर ने प्रवेश किया। उसे शिवगुरु ने पाया और भुक्तशेष को अनुज्ञा पाकर सती ने भी ग्रहण किया ॥२८॥

गर्भं दधार सा देवी शैवं बिभ्रन्महन्महः ।
अष्टमूर्त्तेरवष्टम्भात् सा मन्थरगतिर्बभौ ॥ २९ ॥

सती देवी महाशैवतेजोयुक्त गर्भ को धारण किया और अष्टमूर्त्ति भगवान शंकर के धारण से वह मन्दगति होकर शोभायमान होने लगी ॥२९॥

अथ सा दिव्यभासेद्धा दधौ दोहददौर्हृदम् ।
नाप्रीणादात्तवस्तूनि नेति नेति न्यवारयत् ॥ ३० ॥

दिव्य प्रभासम्पन्न सती देवी गर्भावस्थाकालीन दौर्हृद को प्राप्त हुई। किसी वस्तु को भी शिवगुरु लाकर दें तो उसको वह अच्छी न लगने से नेति-नेति बोलती थी। मानो वह वेदान्त सिद्धान्त को ही कह रही थी ॥३०॥

सा बभूव महेशानमन्दिरेषु गता सती ।
आनन्दसिन्धुनिर्मग्ना ब्रह्मसंलग्नमानसा ।। ३१ ।।

वह शंकर जी के मन्दिर जाती थी तो चित ब्रह्मलीन हो जाने से आनन्दमग्न होती थी ।।३१।।

स्वप्नेषु स्वामलोक्ष्टि धवलोक्षोपरिस्थिताम् ।
जयेति रक्षरक्षेति ब्रुवाणांश्चान्तिके गणान् ।। ३२ ।।

स्वप्न में वह अपने को सफेद वृषभ पर आरूढ़ देखती थी और पास में जय हो, रक्षा करो, इस प्रकार कहते हुए गणों को भी देखती थी ।।३२।।

समभावो विरागश्च जनेषु विषयेषु च ।
तस्याः समभवच्चित्ते ब्रह्मभावश्च पावनः ।। ३३ ।।

लोगों के प्रति समभाव विषयों के प्रति विराग उनके चित्त में निरन्तर बना रहता था और पावन ब्रह्मभाव भी ।।३३।।

अथ यर्ह्यभयाकारः कालः सर्वमनोहरः ।
प्रसूनाञ्जलिसंशोभिदेववृन्दोज्ज्वल नभः ।। ३४ ।।
नद्यः प्रसन्नसलिलाः स्मितास्या देवमूर्त्तयः ।
जज्वलुर्ज्वलनाः शान्ताः प्रसेदुर्विदिशो दिशः ।। ३५ ।।
मङ्गलायतना क्षोणी पुण्यगन्धवहोऽनिलः ।
वृक्षा अवाकिरन् भूमौ लताश्च कुसुमोच्चयम् ।। ३६ ।।
तत्यजुर्जन्तवो जातिवैरं सिंहमृगादयः ।
बभ्रमुर्मानवाः शान्ता रागद्वेषविवर्जिताः ।। ३७ ।।
सहसा न्यपतद्धस्तात्पुस्तकं द्वैतवादिनाम् ।
समजायत शून्यं च हृदयं शून्यवादिनाम् ।। ३८ ।।
मनांस्यासन् प्रसन्नानि योगिनां ब्रह्मवेदिनाम् ।
व्याकोचमभवच्चैव वैयासिकहृदम्बुजम् ।। ३९ ।।
सती प्रासूत तनयं शुभे लग्ने शुभेक्षिते ।
सूर्ये कुजे शनौ तुङ्गसंस्थे केन्द्रस्थिते गुरौ ।। ४० ।।

वह समय था जब कि काल (सर्वभयङ्कर होने पर भी) अभयाकार सुन्दर मनोहर हो गया, पुष्पाञ्जलिविभूषित देवता (यज्ञकर्मांशान्वित होने से) गगन में शोभा पा रहे थे, (तीर्थसेवापरायणता लोगों में होने वाली देखकर) नदियाँ प्रसन्नसलिला हो गयीं, (पूजासम्भावना से) मूर्त्तियाँ स्वयं मुस्कराने लगीं, (हवनादि की आशा से) अग्नि स्वयं प्रज्वलित होने लगी, (दिग्विजयाशा से) दिशायें प्रसन्न हुईं, (अस्तिकजनप्रसाराशा से) पृथिवी मंगलमयी होने लगी, (अब वेद वेदान्त की हवा चारों ओर चलेगी इसीलिए) वायु सुगन्धमय चलने लगा, (सर्वात्मभाव के कारण) जातिवैर वाले भी सिंह मृगादि ने वैर छोड़ा, मानव जाति रागद्वेषरहित एवं शान्त होकर विचरने लगे, द्वैतवादियों के हाथ से सहसा पुस्तक नीचे पड़ गयी, शून्यवादियों का मन ही शून्य होने लगा, योगी एवं ब्रह्मोपासकों के मन प्रसन्न होने लगे, भगवान वेदव्यास जी का हृदयकमल खिल गया, उसी समय उच्चस्थ सूर्य, मंगल, शनि, केन्द्रस्थित गुरु ऐसे शुभेक्षित शुभ लग्न में देवी सती ने ज्ञानविस्तारकारी तनय को जन्म दिया ॥ ३४-४० ॥

दृष्ट्वा सुतमुखं प्रीतो गुरुः शिवगुरुस्तदा ।
हेमं सलक्षणा गाश्च विप्रेभ्यः प्रत्यपादयत् ॥ ४१ ॥

पुत्र मुख को देखकर प्रसन्न हुए शिवगुरु ने हेम (सुवर्ण) और सलक्षणा गायें ब्राह्मणों को दिया (उनमें हेम मानो हैमवती उमा ब्रह्माविद्या का प्रतीक था और सलक्षणा गायें भागत्यागलक्षणायुक्त तत्त्वमस्यादिश्रुतिगायें श्रुतिवाणी की प्रतीक थी) ॥ ४१ ॥

विप्रा मौहूर्त्तिकास्तस्य सार्वज्ञादीन् गुणाञ्जगुः ।
न पृष्टं नापि तैरुक्तमायुर्ज्ञात्वापि तत्त्वतः ॥ ४२ ॥

ज्योतिषियों ने बालक के होने वाले सर्वज्ञत्वादि गुणों का बखान किया। परन्तु आयु के बारे में न पूछा गया और वस्तुतत्त्व जानते हुए भी उन्होंने बतलाया भी नहीं ॥ ४२ ॥

व्यधाद्वितिमिरं बालः स्वभासा सूतिकागृहम् ।
गृहान्तराणि चाध्वान्तान्यासन्नासीत्तदद्भुतम् ॥ ४३ ॥

उस बालक ने जन्म के समय प्रसूतिगृह को अपने तेज से प्रकाशित किया। यहाँ तक कि अन्य गृहों को भी अन्धकारनिवृत्त किया। कुछ लोगों

को वह अत्यन्त आश्चर्य लगा (किन्तु कुछ लोग तो सुबह हो रहा है समझकर शान्त हुए। स्वहृदय और परहृदय को ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित करने की वह पूर्व सूचना थी) ॥ ४३ ॥

शमेष कुरुते नृणामिति तं शंकराख्यया।
आह्वयत्तत्पिता किं च लब्धोऽसौ शंकराशिषा ॥ ४४ ॥

यह बालक मनुष्यमात्र का मंगल कर रहा है अतः शिवगुरु ने शंकर नाम से पुकारा। दूसरी बात भगवान शंकर के अनुग्रह से प्राप्त हुआ था इस दृष्टि से भी शंकर ही नाम रखा ॥ ४४ ॥

पिकारावकलामेष मरालगतिचातुरीम्।
जिगाय वाचादिमया प्रथमेन क्रमेण च ॥ ४५ ॥

बालक शंकर ने प्रथम वाणी से कोयल की गायनकला को और प्रथम पादविन्यास से हंस की गमनचातुरी को जीता ॥ ४५ ॥

नागेन चिह्नितमुरः पाणिश्चक्रगदादिभिः।
त्रिशूलेन शिरः, पादौ चामरेणेन्दुनालिकम् ॥ ४६ ॥

बालक शंकर का वक्षःस्थल नागचिह्नयुक्त था। हाथ चक्र गदादि से चिह्नित था। सिर त्रिशुलचिह्नित, पाँव चंवर चिह्नित और ललाट चन्द्राङ्कित था ॥ ४६ ॥

सर्वलक्षणसंपन्नं बालमालोक्य चाद्भुतम्।
न लोकास्तृप्तिमाजग्मुर्जग्मुश्चालौकिकं सुखम् ॥ ४७॥

सर्वलक्षणसम्पन्न उस बालक को देखकर लोग तृप्त नहीं होते थे और अलौकिक सुखानुभव करते थे ॥ ४७ ॥

विलोक्य तं बालमबालतेजसं शमेन शीलेन गुणेन संयुतम्।
अलौकिकं किंचन लौकिकाः सुखं हृदन्तरेऽनन्तमनुप्रपेदिरे॥४८॥

शम, शील एवं गुणों से युक्त अति तेजस्वी उस बालक को देखकर लोग अपने हृदय में अनन्त अलौकिक किसी सुख का अनुभव करने लगे थे ॥४८॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते।
द्वितीयः समगात्सर्गः शंकरोद्भवशंसनः ॥ २ ॥

—:०:—

अथ तृतीयः सर्गः

जाते वृषाङ्के विष्णुश्च विमलाद् भूसुरादभूत् ।
पद्मपादं यमेवाहुर्लोका वादियशोऽपहम् ॥ १ ॥

भगवान शंकर के अवतीर्ण होने पर विमल नाम के ब्राह्मण के पुत्र के रूप में विष्णु ने भी अवतार लिया। उन्हीं को बाद में लोगों ने पद्मपाद नाम से पुकारा जो वादियों के यश को समाप्त करते थे ॥१॥

प्रभाकरात् समभवत्पवनः कर्मनिर्मलात् ।
हस्तामलकमित्याहुर्यं हि नित्यात्मदर्शिनम् ॥ २ ॥

प्रभाकर के पुत्र के रूप में वायु देव ने अवतार लिया उनका नाम बाद में हस्तामलक हुआ जो निरन्तर आत्मदर्शन करते थे ॥२॥

पवमानांशजन्मा च तोटकेत्यभिधामधात् ।
शिलादतनयः प्रापदुदङ्काह्वयमेव च ॥ ३ ॥

पवमान देवता के अवतार ही तोटकाचार्य हुए और नन्दीगण उदङ्क बने ॥३॥

ब्रह्मा सुरेश्वरो जातोऽरुणश्चैव सनन्दनः ।
गीष्पतिश्चानन्दगिरिर्वरुणश्चित्सुखाह्वयः ॥ ४ ॥

ब्रह्मा सुरेश्वराचार्य के रूप में आये, अरुण सनन्दन हुए, बृहस्पति आनन्दगिरि हुए और वरुण चित्सुखाचार्य बने ॥४॥ (ध्यान देने योग्य बातः—माधवीय शंकर दिग्विजय में बहुत से ऐसे आचार्यों के नाम आये हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से शंकराचार्य के समकालीन प्रतीत नहीं होते। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि एक ही नाम के अनेक व्यक्तियों के होने से आधुनिकों को ऐसी भ्रांति हुई है। उसमें एक दृढतर प्रमाण यहाँ पर आनन्तगिरि का उल्लेख है। प्रस्थानत्रयभाष्य एवं बृहदारण्यकवार्त्तिकादि पर अद्‌भुत व्याख्या करनेवाले आनन्दगिरि को यदि बृहस्पति का अवतार कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु ये आनन्दगिरि सायण माधव के पश्चात् हुए। ऐतरेयभाष्यटीका में श्री आनन्दगिरि ने सायणभाष्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतएव इनके सायणपरवर्त्ती होने में संशय

नहीं हो सकता। तब शंकराचार्य समकालीन आनन्दगिरि कौन जो बृहस्पति सदृश थे ? अन्य किसी आनन्दगिरि का कोई ग्रन्थादि उपलब्ध नहीं है। अतः इसी निष्कर्ष पर आना पड़ेगा कि आज प्रसिद्ध न होने पर भी स्वामी विद्यारण्य के समय में अनेक आचार्य प्रसिद्ध थे जिनके सदृश नाम वाले अन्य भी अनेक हुए। आगे भी यथास्थान क्वचित् हम निर्देश करेंगे) ॥ ४ ॥

विधिपत्नी सरस्वत्यप्यभूदुभयभारती ।
दुर्वाससा पुरा शप्ता स्खलितं या जहास तम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती भी उभयभारती बनी। दुर्वासा ऋषि ने उनको पहले शाप दिया था ॥५॥

अध्यगीषत वेदान् स्वान् मुनयो धातुरन्तिके ।
अस्खलत्तत्र दुर्वासा जहास च सरस्वती ॥ ६ ॥
जायस्व मर्त्येष्विति तां शशाप स च कोपनः ।
प्रसादितस्तया तैश्च जगाद मुनिपुङ्गवः ॥ ७ ॥
भूतले धर्मरक्षायै शंकरोऽवतरिष्यति ।
तं दृष्ट्वा शापमुक्ता त्वममर्त्यत्वं गमिष्यसि ॥ ८ ॥

एक समय ब्रह्माजी की सभा में सभी ऋषि मुनि अपने अपने वेद पढ़ रहे थे। बीच में दुर्वासा ऋषि की एक जगह भूल हो गयी तो सरस्वती हँस पड़ी। दुर्वासा ऋषि भी क्रोधी ठहरे। तुरन्त श्राप दिया कि तुम मनुष्य हो जाओ। सरस्वती घबराकर माफी माँगने लगी। अन्य ऋषियों ने भी उनसे प्रार्थना की। तब दुर्वासा ने कहा कि धर्मरक्षार्थ भगवान शंकर अवतीर्ण होने वाले हैं। उनका दर्शन जब सरस्वती करेगी (और शास्त्रार्थ में हारेगी) तब यह मुक्त होकर देवभाव को प्राप्त होगी ॥६-८॥

सा शोणतीरे संजाता सर्वशास्त्रविशारदा ।
शारदा सहजज्ञानचित्रीकृतजगत्त्रयी ॥ ९ ॥

वही सरस्वती शोणतीर में उत्पन्न हुई। वह सर्वशास्त्रनिष्णात हुई। अपने सहज ज्ञान से जगत् को आश्चर्य में डाल देती थी ॥९॥

विश्वरूपं च गुणिनं श्रुत्वा सोत्कमना अभूत् ।
विश्वरूपश्च तां श्रुत्वा सद्गुणां गुणिनां वरः ॥ १० ॥

विश्वरूप (मण्डन) की गुणप्रशंसा सुनकर वह उत्कण्ठित हुई और विश्वरूप भी उस (उभयभारती) के सद्गुणों को सुनकर उत्कण्ठित हुए ॥१०॥

चिन्तयेव सदाक्रान्तां कृशतामियतीं क्रमात् ।
पप्रच्छ तत्पिता हेतुं हेतुं कंचिदलक्षयन् ॥ ११ ॥

निरन्तर मानो चिन्तामग्न हो रही है। उत्तरोतर कृश होती जा रही है। इस प्रकार उभयभारती की दशा देखी। कोई कारण नजर नहीं आ रहा था तो उनके पिता ने आखिर कारण पूछ ही लिया ॥११॥

लज्जावनम्रकम्रास्या व्याहरत् पितरौ च सा ।
यदि वामाग्रहः किं नु कुर्वेऽयोग्यं च वच्म्यहम् ॥ १२ ॥

लज्जा से अधोमुखी होकर माता पिता से वह बोली कि यदि आपका आग्रह ही है तो मैं क्या करूँ, अयोग्य बात भी कह देती हूँ ॥१२॥

माहिष्मतीमावसति द्विजः कश्चिन्महामतिः ।
सर्वशास्त्रविदामग्रचस्तद्वीक्षाव्यग्रधीरहम् ॥ १३ ॥

माहिष्मती में एक सर्वशास्त्रवेत्ता महामति द्विज है। उनके दर्शनेच्छा से मैं व्यग्रमति हो गयी हूँ ॥१३॥

तावद्दौवारिकः प्राप्य प्राह तौ पितरौ मुदा ।
ब्राह्मणौ द्वौ सुवसनौ भवन्तं द्रष्टुमिच्छतः ॥ १४ ॥

इतने में घर का द्वारपाल आकर उनसे कहा कि दो भले ब्राह्मण आये हैं आप से मिलना चाहते हैं ॥१४॥

प्रवेश्य तावर्चयित्वा पप्रच्छागतिकारणम् ।
तुष्टौ च तौ जगदतुर्विनयावनतौ वचः ॥ १५ ॥

उन दोनों को अन्दर प्रवेश कराया। उनका स्वागत पूजनादि किया। फिर आने का कारण पूछा। वे दोनों ब्राह्मण प्रसन्न थे। विनीतभाव से उन्होंने कहा ॥ १५ ॥

पुरी माहिष्मती पुण्या सर्वसम्पत्समन्विता ।
तत्र भूभृन्निकेतस्थो विश्वरूपाभिधो द्विजः ॥ १६ ॥
कर्मनिष्ठः शुचिः शान्तः सर्वशास्त्राब्धिपारगः ।
तरुणो वेदविज्ञस्ते यदि कर्णपथं गतः ॥ १७ ॥

सर्वसम्पत्तिसमृद्ध माहिष्मती नाम की एक नगरी है। वहाँ राजप्रासाद निवासी कर्मनिष्ठ, पवित्र, सर्वशास्त्रवेत्ता, वेदरहस्यज्ञ, राजमान्य विश्वरूप-नाम के एक तरुण ब्राह्मण हैं, सम्भव है आपने भी उनका नाम सुना हो ॥१६-१७॥

स श्रुत्वा भवतः कन्यां सर्वविद्याविशारदाम् ।
रूपलावण्यसंपन्नां मोहं परमुपागतः ॥ १८ ॥
पितृभ्यां स मुहुः पृष्टः स्वमर्थमगदीद् ह्रिया ।
ताभ्यां च प्रेषितौ कन्यायाच्ञायै त्वामुपागतौ ॥ १९ ॥

उन्होंने महाविदुषी रूपलावण्ययुक्त आपकी पुत्री का नाम जब से सुना तब से मोह को प्राप्त हो गये हैं। माता पिता के बार बार पूछने पर लज्जा-पूर्वक उन्होंने अपनी बात कही। उनके माता पिता ने ही हमें आपके पास कन्यायाचनार्थ भेजा है ॥१८-१९॥

आश्चर्यचकितः काकतालीयसमयोगतः ।
उवाच पत्नीं पृच्छामि सा ह्युपालप्स्यतेऽन्यथा ॥ २० ॥

यह काकतालीय योग (इधर कन्या विश्वरूप की बात अभी कहती रही और इस तरफ विश्वरूप की ओर से दूत उपस्थित हुए यही काक-तालीय यहाँ है।) से चकित होकर वे बोले कि मैं अपनी धर्मपत्नी से प्रथम सलाह लूंगा। क्योंकि उनसे पूछे विना कार्य करने पर कभी भी वह उलाहना दे सकती है ॥ २० ॥

पृष्टा च तेन सा प्रोचेऽनिर्ज्ञातकुलवृत्तये ।
कथं प्रतिश्रृणोम्येतद्विचारय महामते ॥ २१ ॥

पत्नी से पूछा तो वह कहने लगी जब तक कुल आजीविका आदि का ठीक ठीक पता न लगावे तब तक हम कैसे वचन दे सकते हैं यह आप ही विचारिये ॥ २१ ॥

जगाद विप्रो बहुधा विचारो नात्र युज्यते ।
तीर्थाटिने ददौ कन्यां कुण्डिनेशो हि रुक्मिणीम् ॥ २२ ॥

उन्होंने कहा कि इस विषय में अधिक विचार करना ठीक नहीं। प्रसिद्ध बात है कि तीर्थाटन करते हुए आर्य श्री कृष्ण को विना विचार किये ही कुण्डिनेश राजा भीष्मक ने अपनी कन्या रुक्मिणी का प्रदान किया ॥ २२ ॥

भाग्यं फलति सर्वत्र कन्या तद्गतमानसा ।
श्रुतं त्वयैवानुपदं कन्याया लपितं खलु ॥ २३ ॥

भाग्य ही सर्वत्र फलित होता है। और कन्या का भी मन उस पर लगा हुआ है। अभी अभी तुमने भी उसकी बात सुनी ॥ २३ ॥

किं च वैदिकसद्धर्मप्रतिष्ठापयितुः कवेः ।
शिष्यः स भट्टपादस्येत्यपि नः कर्णगोचरम् ॥ २४ ॥

दूसरी बात यह भी हमने सुना है कि विश्वरूप वैदिक सनातन धर्म के प्रतिष्ठापक कुमारिलभट्ट के शिष्य हैं ॥ २४ ॥

अचोरगणिकाराजगोचरं परमं धनम् ।
विद्या यस्य स वै धन्यः कीर्त्तिमान्मान्य एव च ॥ २५ ॥

चोर राजा एवं गणिका जिसको हड़प नहीं सकते उस परमधन विद्या से सम्पन्न मानव ही यशस्वी और मान्य होता है ॥२५॥

न निधेया दुहितरो गेहे स्वे यौवनस्थिताः ।
रजो दृष्ट्वा पिता गेहे दुहितुर्निरयं व्रजेत् ॥ २६ ॥

युवति पुत्रियों को घर में न रखना चाहिए। पुत्री को विवाह के पूर्व रजस्वला देखकर पिता नरक जाता है ॥२६॥

यद्वा वत्सां हि पृच्छावस्तदिच्छा मानमस्त्विह ।
अनिष्टं नैव कन्याया विधेयं बान्धवैः खलु ॥ २७ ॥

अथवा हम पुत्री को ही पूछ लें। उसकी इच्छा ही इस विषय में प्रमाण होना चाहिए। कन्या का अनिष्ट कभी भी बन्धुजनों को नहीं करना चाहिए ॥२७॥

अथ तां सुधियौ तस्या ज्ञातुमिच्छामपृच्छताम् ।
पृष्टा समौना हृष्टाभून्मौनं स्वीकारलक्षणम् ।। २८ ।।

दोनों ने पुत्री से पूछा । पूछने पर वह प्रसन्न अवश्य दीख पड़ी, परन्तु मौन रही । आखिर मौन स्वीकारलक्षण बात प्रसिद्ध तो है ही ।।२८।।

मुहूर्त्तं स्वयमालेख्य दूताभ्यां भारती ददौ ।
तावेत्य विश्वरूपं च सर्वं वृत्तान्तमूचतुः ।। २९ ।।

भारती ने स्वयमेव मुहूर्त्तं लिखकर दूतों को दिया और वे विश्वरूप के पास आकर सर्व वृत्तान्त सुनाया ।।२९।।

ततो मुहूर्त्ते निरगात्कृतमाङ्गल्यभूषणः ।
सबान्धवः समाज्ञातः पितृभ्यां ससुहृद्गणः ।। ३० ।।

विश्वरूप ठीक मुहूर्त्त में मङ्गलभूषणादि धारण कर बन्धुगण मित्रगण सहित निकल पड़े ।।३०।।

शोणातीरमुपायातं श्रुत्वा जामातरं वरम् ।
प्रत्युज्जगाम सुप्रीतो विष्णुमित्रो महायशाः ।। ३१ ।।

जमाई शोणतीर पहुँच गये सुनकर यशस्वी विष्णुमित्र ने प्रसन्नता के साथ उनका सत्कार स्वागत किया ।।३१।।

प्रवेश्य भवनं तस्मै पाद्यं समधुपर्ककम् ।
दत्वार्घ्यमाह तनया गृहं गावोऽखिलास्तव ।। ३२ ।।

अपने घर लाकर पाद्य दिया, मधुपर्कसहित अर्घ दिया और कहा यह घर धन धान्य सभी आप का ही है ।।३२।।

अथ मौहूर्त्तिकादिष्टे दिष्टे वाद्यस्वनान्विते ।
हिममित्रात्मजः पाणिं सरस्वत्याः समग्रहीत् ।। ३३ ।।

ज्योतिषियों के बताए समय पर बाजे गाजे के साथ हिममित्र के पुत्र विश्वरूप ने सरस्वती का पाणिग्रहण किया ।।३३।।

आधाय चाग्निं विधिवत्पवित्रस्तत्र सोऽजुहोत् ।
वधूर्लाजाञ्जुहावाथ चक्रतुस्तौ प्रदक्षिणाम् ।। ३४ ।।

पवित्रजीवन विश्वरूप ने अग्नि में हवन किया, वधू ने लाजों का हवन किया, फिर दोनों ने अग्नि परिक्रमा की ।।३४।।

साधं तावूषपुस्तत्र तोषितद्विजमण्डलौ ।
चत्वार्यग्निगृहेऽहानि दीक्षितौ धर्मदीक्षितौ ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणों को दक्षिणा आदि से उन्होंने प्रसन्न किया और चार दिन तक धर्मव्रती दीक्षित होकर यज्ञशाला में रहे ॥३५॥

अथ प्रतिष्ठमानं तमूचतुः पितरौ वरम् ।
इयं बालाऽनभिज्ञा च व्यवहारेषु गेहिनाम् ॥ ३६ ॥

प्रस्थान के समय कन्या के मातापिता ने जामाता को कहा—अवश्य ख्याल रखें, यह एक तो बालिका है, दूसरा गृहस्थीयों के व्यवहार में अनभिज्ञा है ॥३६॥

एकपुत्रीति नावाभ्यां गृहकर्मसु योजिता ।
संरक्षणीया नो वाच्या रूक्षैश्च वचनैर्मृदुः ॥ ३७ ॥

इकलौती पुत्री होने से हमने इसे घर के कामों में नहीं लगाया । इसकी रखवाली अवश्य करना । यह अत्यन्त मृदु है । इसे परुष (कठोर) वचन नहीं कहना ॥३७॥

करोति परुषैर्नैषा कार्याणि मृदुलालिता ।
देवीमिमामाह कश्चिद्विप्रो मां लक्षणान्विताम् ॥ ३८ ॥

घर में इसका बहुत लालन पालन हुआ अतएव परुषवचन से काम नहीं करती । इसके लक्षणों को देखकर एक ब्राह्मण ने इसे देवी बताया है ॥३८॥

बाल्येऽपराधः सुलभः स नेक्ष्यो गृहीणीजनैः ।
श्वश्रूरेवं प्रबोध्याऽस्या यथास्माकं च शैशवे ॥ ३९ ॥

बाल्यावस्था में अपराध बहुत जल्दी हो जाते हैं । उन पर गृहिणी जनों को ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए, ऐसे इसकी सासू को समझाना । दृष्टांत के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं । जब हम ही बच्चे थे तब हमने कितने अपराध किए ॥३९॥

वत्से त्वं गमितास्यन्यां दशामद्य शुभानने ।
न बालविहृतिं कुर्या न तोषयति साऽखिलान् ॥ ४० ॥

बेटी तुम आज दूसरी अवस्था को प्राप्त हो चुकी हो । अब बचपन नहीं करना । बच्चों का जैसा व्यवहार मातापिता को भले ही प्रसन्न करले, पर सबको नहीं ॥४०॥

पाणिग्रहणतः पूर्वं पितरौ रक्षकौ पुनः ।
पतिर्हि पाति याहि त्वं शरणं श्रेयसे हि तम् ॥ ४१ ॥

विवाह से पूर्व मातापिता रक्षक होते हैं। बाद में पति ही रक्षक है। अपने श्रेय के लिए उसकी शरण में रहना चाहिए ॥४१॥

पत्यावभुक्ते मा भुङ्क्ष्व रुष्टे रोषं च मा कुरु ।
नाख्येयोऽपि स्त्रिया भर्त्तुः समक्षं परपूरुषः ॥ ४२ ॥

पति के भोजन से पहले भोजन नहीं करना, पति क्रुद्ध हो जाय तो भी क्रोध नहीं करना। पति के सामने परपुरुष की वार्ता नहीं करनी चाहिए (देखना आदि तो नहीं ही करना चाहिए) ॥४२॥

आयाति पत्यौ कार्याणि विहाय त्वरितान्विता ।
स्वागतं कुरु येनैव प्रसन्नः प्रीतिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

पति के आते समय सब काम छोड़कर शीघ्र आकर उसका स्वागत करो जिससे वह प्रसन्न हो जाएगा ॥४३॥

पितृवच्छ्वशुरौ सेव्यौ भ्रातृवच्चैव देवराः ।
कुपिताः खलु ते योगं विभिद्युर्नैव संशयः ॥ ४४ ॥

मातापिता के समान सासू ससुर की सेवा करनी चाहिए और भाईयों के समान देवरों की। क्योंकि वे नाराज होंगे तो पतिपत्नी के योग का भेदन कर सकते हैं ॥४४॥

इत्थं प्राप्तोपदेशौ तौ राजगेहं वधूवरौ ।
आजग्मतुर्नागरिकचक्षुःकुमुदबान्धवौ ॥ ४५ ॥

इस प्रकार वधू और वर दोनों ने उपदेश सुना। वहाँ से वे माहिष्मती नगरी में राजगृह में आए। वहाँ के नागरिकों के नेत्रकुमुद के मानो वे दो चन्द्रमा के समान थे ॥४५॥

अध्यापयन् स बटुकान् प्रयजन्नमर्त्यान्
संतर्पयन् पितृगणानतिथीन् समर्चन् ।
विश्वं च वैश्वबलिना परितोषयन् सन्
विद्याविनोदमनयत् समयं सजाय[1]ः ॥ ४६ ॥

---

१. समासान्तस्यानित्यत्वान्न निङ्कृतः । सजानिरिति वा पाठः ।

वटुकों को वेदाध्ययन कराते, देवताओं का यज्ञ करते, पितरों को तर्पण करते; अतिथियों का पूजन करते, और वैश्वबलि से विश्व को परितुष्ट करते हुए विद्याविनोद युक्त होकर विश्वरूप ने अपनी पत्नी के साथ समय बिताया ॥४६॥

श्रीशंकरः समवतीर्य च बालभावा-
ल्लीलाविलासरसिकोऽपि रसस्वरूपः ।
विश्वं व्यलोकत समस्तमुदस्तमोहः
स्वस्मिन् यथा किल हरिर्वटपत्रशायी ॥ ४७ ॥

भगवान् शङ्कर भी अवतीर्ण होकर बालभाव के कारण रस ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी नानालीलारसिक दीखने लगे और मोहरहित होकर समस्त विश्व को अपने अन्दर उसी प्रकार देखते रहे जैसे वटपत्रशायी भगवान् हरि ने अपने अन्दर सारे विश्व को देखा ॥४७॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
तृतीयः समगात् सर्गो विश्वरूपभवान्वितः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः

प्रथमे हायने बालो बालचन्द्रविभूषणः ।
निजभाषां लिपिं चैव पर्यचेषीदशेषतः ॥ १ ॥

एक साल ऊमर में ही शङ्कर ने अपनी भाषा और लिपि का परिचय पूरी तरह से प्राप्त कर लिया था ॥१॥

द्वितीये हायने ग्रन्थानपठच्चालिखच्च सः ।
तृतीये काव्यसाहित्यपुराणादीन् समग्रहीत् ॥ २ ॥

दूसरे वर्ष में ग्रन्थों को बांचना और लिखना शुरू किया। तीसरे में काव्य-साहित्य-पुराणादि का ग्रहण करने लगे ॥२॥

सकृदुच्चरितं बालो जग्राह गुरुशिक्षकैः ।
तदाश्चर्यमिवाभूच्च सर्वेषां पश्यतां सताम् ॥ ३ ॥

एक बार शिक्षकों के वोलते ही शङ्कर ग्रहण कर लेते थे, जिससे सबको आश्चर्य होता था ॥३॥

उपनीय सुतं वेदानध्यापिपयिषुः पिता ।
प्रतीक्षमाणः कालं स कालेन कवलीकृतः ॥ ४ ॥

उपनयन कराकर वेद पढ़ाने के लिए शिवगुरु प्रतीक्षा करते रहें, पर बीच में ही कालकवलित हुए ॥४॥

सुतं शिवगुरुः प्राप न चैक्षिष्ट सुतोदयम् ।
त्रिहायने हि तनये कालधर्ममुपागतः ॥ ५ ॥

शिवगुरु ने पुत्र को प्राप्त किया, किन्तु पुत्र के अभ्युदय को नहीं देख पाये । शङ्कर जब तीन साल के थे उसी समय शिवगुरु का अवसान हो गया था ॥५॥

सतीं सतीत्वसंप्रेप्सुं स्वजनाः प्रत्यबोधयन् ।
सुतं सा पालयामास सुतप्रेमैकजीवना ॥ ६ ॥

शिवगुरु की पत्नी सती देवी साथ में ही सती होना चाह रही थी, लेकिन लोगों ने उन्हें समझाया । तदनुसार उन्होंने पुत्र का पालन पोषण किया । उनके लिए पुत्र प्रेम ही एक जीवनाधार था ॥६॥

संपादितोपनयनः पञ्चमे हायने शिशुः ।
गुरोः कुलमुपेयाय वेदाध्ययनतत्परः ॥ ७ ॥

उपनयन संस्कार संपन्न कर वेदाध्यायनार्थ पाँचवें वर्ष में शङ्कर गुरुकुल में दाखल हुए ॥७॥

सकृन्निगदमात्रेण गृहीताम्नायसंविदम् ।
न शेकिरे सहाध्येतुं सहाध्यायिजना हि तम् ॥ ८ ॥

एक बार कहने मात्र से ही ग्रहण करने वाले शङ्कर के वेदाध्ययन करने वाले सहाध्यायी साथ नहीं चल सके ॥८॥

किंचिदध्ययनादेव विद्यासु स्वसमानताम् ।
विलोक्य विस्मयं प्रापदुपाध्यायः सतां वरः ॥ ९ ॥

थोड़े दिन के अध्ययन से ही शङ्कर को अपने समान देख कर पण्डित-प्रवर उपाध्याय आश्चर्य में पड़ गए ॥९॥

वेदे ब्रह्मोपमस्तर्के गौतमो जैमिनिर्नये ।
व्यासो वेदान्तविद्यासु बभासे शंकरः सताम् ॥ १० ॥

वेद में ब्रह्मा के सदृश, तर्क में गौतम के सदृश, मीमांसा में जैमिनि के सदृश, और वेदान्त में व्यास के सदृश शङ्कर को पण्डितों ने देखा ॥१०॥

सर्वशास्त्रसुखं प्राप वेदान्ते शंकरः स्वयम् ।
यावानर्थो हि कूपादौ गङ्गायां सर्व एव सः ॥ ११ ॥

स्वयं शङ्कर ने समस्त शास्त्रों का सुख वेदान्त में पाया। ठीक है, कूप तालाव आदि में जितने कार्य सिद्ध होते हैं सभी एक गङ्गा जी में ही संपन्न होते हैं ॥११॥

सतीर्थ्यैरेकदा सार्धं भवनं स द्विजन्मनः ।
जगाम धनहीनस्य शंकरो भैक्षलिप्सया ॥ १२ ॥

एक दिन की वात है—सहाध्यायियों के साथ एक दरिद्र ब्राह्मण के घर में शङ्कर भिक्षार्थ पहुँचे ॥१२॥

ऊचे कुटुम्बिनो तस्य भिक्षार्थमुपसंगतम् ।
धन्यास्ते भगवन् युष्मद्वरिवस्यां वितन्वते ॥ १३ ॥

उस ब्राह्मण की पत्नी ने भिक्षार्थ आगत शङ्कर को कहा—वे धन्य हैं जो आप की पूजा कर पाते हैं ॥१३॥

धिगस्मान् धिक् च दारिद्रचं यद् गेहमुपसंगतम् ।
नार्चितुं प्रभवामो ये बटुकान् ब्रह्मचारिणः ॥ १४ ॥

हमें धिक्कार है, धिक्कार है इस दरिद्रता को भी कि घर में आए हुए बटुक ब्रह्मचारियों की पूजा नहीं कर पा रहे हैं ॥१४॥

इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षी ददावामलकं वधूः ।
शंकराय निजं गेहं भिक्षार्थमुपतस्थुषे ॥ १५ ॥

ऐसा कहकर रोती हुई ब्राह्मणीने भिक्षार्थ आए शङ्कर को एक आँवला मात्र दिया ॥१५॥

तस्या दीनं मुखं वीक्ष्य श्रुत्वा दीनं च तद्वचः ।
शंकरः करुणाविष्टस्तुष्टाव कमलालयाम् ॥ १६ ॥

उस ब्राह्मणी के दीन मुख तथा दीन वचन से शङ्कर ने करुणाविष्ट होकर लक्ष्मी की स्तुति की ॥१६॥

स्तुतिप्रसन्ना कमला जगौ प्रत्यक्षमागता ।
ज्ञातं ते हृद्गतं किन्तु नादत्तमुपतिष्ठते ॥ १७ ॥

स्तुति से प्रसन्न होकर लक्ष्मी प्रत्यक्ष सामने आयी और बोली कि मैं तुम्हारा अभिप्राय समझ चुकी हूँ। परन्तु जो पूर्व में नहीं दिया वह अब प्राप्त नहीं होता ॥ १७ ॥

मातर्लक्ष्मि वचः सत्यं तव नास्त्यत्र संशयः ।
यत्त्वामलकमद्यादात्तत्फलं प्रदिशाम्बिके ॥ १८ ॥

माता लक्ष्मी ! आप का वचन सत्य है। जो आँवला आज इसने दिया उसका फल आप दे दें, शङ्कर ने कहा ॥१८॥

तत्स्याद्दशगुणं देशे काले पात्रे समर्पितम् ।
अनन्तं च तदित्याहुः ब्रह्मविद्यर्पितं तु यत् ॥ १९ ॥

स्थिति यह है कि देश-काल-पात्र में समर्पित वस्तु दसगुना फल देती है और ब्रह्मवेत्ता को समर्पित वस्तु अनन्त फलदायी होती है ॥१९॥

कनकामलकैर्लक्ष्मीरपिपः शंकरस्तुता ।
तद्गेहं प्रशशंसुश्च शंकरं विबुधा नराः ॥ २० ॥

शङ्करस्तुत लक्ष्मी ने सोने के आवलों से उस ब्राह्मणी का घर भर दिया। विबुध (देवता या पण्डित) मनुष्य इस आश्चर्य कर्म से शङ्कर की स्तुति करने लगे ॥२०॥

पदं पङ्कजसङ्काशं मुखं राकासखप्रभम् ।
अहो पद्मपदस्वामिन् द्विजराजकुलाश्रयः ॥ २१ ॥

अहो! चरण तो कमल सदृश और मुख चन्द्रसमान (कमल और चन्द्रमा का मेल तो यहीं पर देखने में आया) आप तो पद्मपद (पद्मपादाचार्य, और सूर्य) के स्वामी और द्विजराज (ब्राह्मण और चन्द्रमा) के कुलाश्रय-कुलाधार हैं ॥२१॥

यत्पादसेवनात् पूर्वं मार्कण्डेयोऽत्यगान्मृतिम् ।
तत्पादसेवनादद्य मृत्युमत्येत्युताखिलः ॥ २२ ॥

जिन शङ्कर के चरण सेवन से पहले एक मार्कण्डेय मृत्यु को पार कर गये उन महेश्वर के पादसेवन से आज सभी मृत्यु को (संसार को पार कर रहे हैं (यह देवताओं की भविष्यद्वृत्ति से वचन है) ॥२२॥

वामजङ्घोपरिगतं दक्षिणं पदमव्ययम् ।
पूर्वपक्षोपरिगतं स्मारयत्युत्तरं पदम् ॥ २३ ॥

वायीं जांघ पर दाहिना पाँव रखकर दक्षिणामूर्त्ति भगवान् बैठे हैं। उसका अर्थ अब समझ में आया। वह यह कि पूर्वपक्ष वामपाद नीचे और उत्तरपक्ष दक्षिणपाद ऊपर ॥२३॥

नोच्चैर्वामकरे ग्रन्थं ज्ञानमुद्रां च दक्षिणे ।
ऊर्ध्वं बिभ्रज्ज्ञानमूर्ध्वं ग्रन्थाद्दर्शयति प्रभुः ॥ २४ ॥

वाम हस्त नीचे की ओर है उसमें पुस्तक है, और दाहिना हाथ ऊपर की ओर है, उससे ज्ञानमुद्रा दिखाई गई है। इससे स्पष्ट अर्थ यह निकलता है कि ग्रन्थ की अपेक्षा ज्ञान ऊँचा होता है ॥२४॥

अमृतक्षारणे तुल्यौ चन्द्रस्तन्मुखमेव च ।
चन्द्रो हरति ताराभां ताराभां दाति तन्मुखम् ॥ २५ ॥

चन्द्रमा से और शङ्कर के मुख से अमृत स्रवण होता है, इतने में दोनों तुल्य हैं। परन्तु चन्द्रमा ताराभा (तारों की आभा) को हर लेता है और शङ्कर ताराभा (तार = प्रणव की आभा स्वरूप ज्ञान) को देता है ॥२५॥

संसारकाननं कामदावज्वालासमाकुलम् ।
निर्वापयन्ति तन्नेत्रकारुण्यामृतवृष्टयः ॥ २६ ॥

यह संसाररूपी जङ्गल कामरूप दावानल की ज्वाला से समाकुल है। इस को निर्वाण (बुझाना या मुक्त करना) प्राप्त कराने वाली तो शङ्कर के नेत्रों से प्रस्रुत करुणा की अमृत वृष्टि ही है ॥२६॥

त्रिपुण्ड्रोऽयं त्रिपथगाप्रवाहत्रयपावनः ।
यद्वा त्रयीशिरोव्याख्या यशोधवलविग्रहः ॥ २७ ॥

शङ्कर के मस्तक पर जो त्रिपुण्ड्र है वह त्रिपथगामिनी गङ्गा की तीन धारा स्वरूप है अतिपावन है। (यह सर्वसाधारण होने पर भी शङ्कर में अधिक स्फुट है) अथवा प्रस्थानत्रय की व्याख्याओं के यश का यह श्वेत स्वरूप है ॥२७॥

स शंकरः क्रतुध्वंसं विदधे दक्षशिक्षणः ।
अयं क्रतुं बौद्धहतमरक्षद्दक्षरक्षणः ॥ २८ ॥

गिरिजापति शङ्कर ने यज्ञ का ध्वंस किया दक्ष (प्रजापति) को शिक्षा (दण्ड) दी। और ये अवतारी शङ्कर ने बौद्धहत यज्ञ का उद्धार किया और दक्ष (बुद्धिमान कुशल व्यक्तियों को वास्तविक तत्वज्ञान देकर) रक्षा की ॥२८॥

नन्दने कल्पतरुवत् कल्पवृक्षेषु पुष्पवत् ।
तत्पुष्पेषु भ्रमरवदसंख्याः शांकरा गुणाः ॥ २९ ॥

देवोद्यान नन्दनवन में जैसे हजारों कल्पवृक्ष हैं (जो इच्छितार्थदायी हैं) कल्पवृक्षों में जैसे अनन्त पुष्प हैं (जो काम्यवस्तुजनक हैं) और उन पुष्पों में असंख्य जैसे भ्रमर हैं (जो परगुणग्रहणशील हैं) वैसे शङ्कर के गुण भी असंख्य हैं ॥२९॥

कामं विचारतो लोभं संतोषात् क्षमया क्रुधम् ।
अच्छिनत्तृप्तितस्तृष्णां दोषानन्यांश्च सद्गुणैः ॥ ३० ॥

काम को विचार से, लोभ को संतोष से, क्रोध को क्षमा से, तृष्णा को तृप्ति से और अन्य दोषों को सद्गुणों से जीतने वाले शङ्कर ही हैं ॥३०॥

क्षमायां वसुधा देवी, विद्यायां च सरस्वती ।
वैराग्ये शुकदेवश्रीस्त्रेधा मूर्त्तिर्हि शांकरी ॥ ३१ ॥

शङ्कर की मूर्ति तो क्षमा में बसुधा के समान, विद्या में सरस्वती के समान और वैराग्य में शुकदेवश्री के समान है ॥३१॥

शंकरेण कुलं दीप्तं शंकरः स च शीलतः ।
शीलं च विद्यया दीप्तं विद्यास्य विनयेन च ॥ ३२ ॥

शङ्कर से यतिकुल दीप्त हुआ। शङ्कर शील से दीप्त हुए। शील विद्या से और विद्या विनय से दीप्त हुई ॥३२॥

समाश्रितसुधीभृङ्गो यशःकुसुमसौरभः ।
रराज सुरशाखीव प्रबोधफलशोभितः ॥ ३३ ॥

शङ्कर कल्पवृक्ष के समान हैं। उनके आश्रय में आये बुधजन भृंगसमान हैं। शङ्कर का यश पुष्प-सौरभ है। प्रबोध ही परमफल है ॥३३॥

अक्षरं हि क्षरन्त्यस्य वाचः सूक्तिसुधारसाः ।
बौद्धदुर्भिक्षुदौर्भिक्षक्षपणामृतनिर्झराः ॥ ३४ ॥

सूक्ति सुधा के रस से युक्त शङ्कर की वाणी अक्षर (ब्रह्म) का क्षरण करती (बरसाती) है। बौद्ध दुर्भिक्षुओं के कारण ज्ञानरूपी धान्य का जो दौर्भिक्ष (गरीबी) आ गया उसे दूर करने वाले अमृत के लिए झरना रूप है ॥३४॥

नृत्यन्त्या हि गिरां देव्या किं नु मञ्जीरशिञ्जितम् ।
किं कङ्कणझणत्कारा मञ्जुलाः शंकरोक्तयः ॥ ३५ ॥

शङ्कर की उक्ति सुनते संशय होता है कि कहीं यह नृत्य करती हुई सरस्वती देवी के मंजीर की आवाज तो नहीं। कहीं उनके कङ्कणों की झन-झन आवाज तो नहीं ॥३५॥

मेघजृम्भणगम्भीरा अम्भोधिस्वरसोदराः ।
वाचां गुम्फा निरातङ्काः शांकरा शंकराः सताम् ॥ ३६ ॥

मेघ गर्जन के समान गंभीर, समुद्रस्वर के सहोदर शङ्कर के शब्द संतों के कल्याणकारी है ॥३६॥

क्षीराम्भोनिधिसन्मित्रं शरच्चन्द्रसहोदरम् ।
रजताद्रिप्रतीकाशं धवलं शांकरं यशः ॥ ३७ ॥

शङ्कर का धवल यश क्षीर सागर का सन्मित्र है, शरच्चन्द्र का सहोदर है। रजताचल का प्रतीक है ॥३७॥

चतुरास्योऽप्यप्रपञ्चोऽभोगियुक् पुरुषोत्तमः ।
कामजय्यविरूपाक्षोऽपूर्वकेशो हि शंकरः ॥ ३८ ॥

अपूर्वब्रह्मा-विष्णु-महेश्वररूप शङ्कर है। चतुरास्य (चार मुख ब्रह्मा पक्ष में और चतुरता से बोलने वाला आचार्य पक्ष में) और अप्रपञ्च (प्रपञ्चरचना नहीं फिर कैसे ब्रह्मा, प्रपञ्ची संसारी नहीं) अभोगियुक्त (संन्यासी युक्त, सर्प-शय्या रहित) पुरुषोत्तम है। कामजेता है फिर भी विरूपनेत्र नहीं ॥३८॥

सत्तामयोनिजनुषं पुरुषोत्तमैक-
निष्ठां सतीं कपटभिक्षुहृतां बलेन ।
निर्जित्य यो बुधरिपून् समधात्तमात्मा-
रामं गुरोरपि गुरुं यतिरूपमीडे ॥ ३९ ॥

अयोनिजा सीता प्ररुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के ऊपर ही एकनिष्ठा-वाली थीं। उन्हें कपटभिक्षु रावण ने बलात् अपहरण किया था। परन्तु

आत्माराम भगवान् राम ने अमरशत्रु असुरों को जीत कर उन्हें फिर प्राप्त किया। "सएष पूर्वेषामपि गुरुः' के अनुसार गुरुओं के भी गुरु वनवासी तापसरूप भगवान् रामचन्द्र की जिस प्रकार मैं स्तुति करता हूँ उसी प्रकार जो योनि-जन्मा नहीं—कारण से उत्पन्न नहीं ऐसी सत्ता जो कि केवल परमात्मा पुरुषोत्तम में ही रहती है, अन्यत्र नहीं, जिसको कपट भिक्षु बौद्धादि ने हरण कर शून्यवाद फैलाया उसको गुरुओं के भी गुरु भगवान् शङ्कर ने जो यतियों में श्रेष्ठ हैं, ज्ञानियों के रिपु बौद्धादि को परास्त कर पुनः आत्मा से संधान कराया उस आत्माराम आचार्य शङ्कर की मैं स्तुति करता हूँ ॥३९॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
चतुर्थः समगात् सर्गो यत्र वासो गुरौ गुरोः ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमः सर्गः

अधीत्य वेदवेदाङ्गं शंकरः सप्तहायनः ।
गुरोः कुलात्समावृत्य मातरं परिशिश्रिये ॥ १ ॥

वेद एवं देदाङ्गों का अध्ययन कर सात वर्ष ऊमर में ही शङ्कर गुरुकुल से समावर्त्तन संस्कारपूर्वक वापिस घर आए और हर प्रकार से माता की सेवा में लगे रहे ॥१॥

मधुरं वचनं बुद्धिः कुशला सुन्दरं वपुः ।
तदेतत्सकलं वीक्ष्य जननी मुदमाप. सा ॥ २ ॥

वाणी मीठी, वुद्धि तेज, शरीर सुन्दर ये सब देख कर माता अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥२॥

स्नातुं मन्दगतिर्माता वृद्धा निर्झरिणीं ययौ ।
आतपोग्रे रवेर्बिम्बे विललम्बे कदाचन ॥ ३ ॥

प्रतिदिन स्नान करने के लिए शङ्कर की वृद्ध माता नदी जाया करती थी। एक दिन उनको आने में विलम्ब हो गया। कड़ी धूप पड़ रही थी ॥३॥

शंकरः शङ्कितस्तत्र गतोऽपश्यच्च मूर्च्छिताम् ।
पतितां पथि तां कृच्छ्रादानिन्ये जनयोगतः ।। ४ ।।

शङ्कर को संशय होने लगा तो दौड़कर वहाँ पहुँचे, तो देखा कि माता रास्ते में ही मूर्च्छित होकर पड़ी है। बच्चा होने से बड़ी कठिनाई उपस्थित हुई। फिर भी दूसरों के सहयोग से घर लाए ।।४।।

अस्तवीत्स्तुतिभिश्चित्ररचनाभिः स चाब्धिगाम् ।
अनिनीषुर्निजागारसंनिकर्षं महामनाः ।। ५ ।।

शंकर ने सोचा कि नदी को अपने घर के पास ही बुला लेना चाहिए। तदर्थं उन्होंने नदी देवी की सुन्दर स्तुति की ।।५।।

प्रत्यक्षमब्धिगा देवी समागत्याब्रवीद् बटुम् ।
ईहितं भविता श्वस्ते समाश्वस्तो भृशं भव ।। ६ ।।

सागरगामिनी नदी देवी स्वयं प्रत्यक्ष आकर बोली कि हे शंकर ! तुम्हारी इच्छा कल पूर्ण होगी, आश्वस्त हो जाओ ।।६।।

लोकोऽलोकत कल्ये च शीतशीकरनिर्वृतः ।
नूतनामिव तत्सद्मपार्श्वसंवाहिनीं धुनीम् ।। ७ ।।

प्रातः काल शीतल जल कण से प्रसन्नशरीर लोगों ने देखा कि कोई नयी नदी जैसी शंकर के घर के सामने से बह रही है ।।७।।

कनकामलकीवृष्टिमब्धिगानयनं तथा ।
निशम्य केरलपतिर्द्रष्टुमैच्छत्सतां गुरुम् ।। ८ ।।

प्रथम सुवर्ण आँवले की वृष्टि, फिर नदी का बुलाना यह सब सुनकर केरल पति राजा को उन्हें देखने की इच्छा हुई ।।८।।

प्रेषितः सचिवस्तेन विनयावनतोऽवदत् ।
भवत्पादरजःपूतं प्रासादं भूप इच्छति ।। ९ ।।

राजा ने शंकर के पास अपने सचिव को भेजा। शंकर के पास आकर बड़े विनय के साथ सचिव बोला—भगवन ! आपकी चरणरज से महल पवित्र हो ऐसी राजा की इच्छा है ।।९।।

सचिवानीतमालोक्य सिन्धुरं मदबन्धुरम् ।
उवाच शङ्करः प्रीत्या वचनं शास्त्रसंमतम् ।। १० ।।

भेंट के लिये सचिव हाथी आदि लाये थे। उसे देखकर शंकर बड़े प्रेम से शास्त्र संमत यह वचन बोले ॥१०॥

भैक्ष्यमन्नं परीधानमजिनं नियमस्थितिः।
येषां भवति किं तेषां बटूनां कुञ्जरादिभिः ॥ ११ ॥

हे सचिव ! जिनका भोजन भिक्षान्न है, वस्त्र वृक्षादि की खाल है और यमनियमादि व्रत से जीवनयापन करते हैं उन ब्रह्मचारियों का इन हाथी आदि से क्या होगा ? ॥११॥

न प्रलोभ्याः क्षितिभुजा धर्मकर्मव्यवस्थिताः।
प्रतियाहि ततो मन्त्रिन् न लोभो मयि विद्यते ॥ १२ ॥

दूसरी बात, राजाओं का यह कर्त्तव्य नहीं है कि धर्मकर्म में लगे हुए लोगों को प्रलोभन में डालें। अतः हे मन्त्रिमहोदय ! आप इसे लेकर वपिस जाय। और मुझ में इन सब का लोभ भी नहीं ॥१२॥

सचिवेनोदितं श्रुत्वा प्रत्यावृत्तेन भूपतिः।
स्वयमभ्यागमद् द्रष्टुं शङ्करं विनयान्वितः ॥ १३ ॥

सचिव ने वापिस आकर सब समाचार राजा को सुनाया। सुनकर राजा स्वयं ही विनय पूर्वक शंकर के दर्शन के लिये उनके घर आये ॥१३॥

स पृष्टकुशलो राजा दिव्यदीधितिविस्मितः।
लक्षं समर्प्य स्वकृतं कृतित्रयमदर्शयत् ॥ १४ ॥

राजा के आने पर शंकर ने उनसे कुशल प्रश्न किया। शंकर की दिव्य कान्ति देखकर राजा विस्मित थे। उन्होंने एक लक्ष सुवर्ण मुद्रा शंकर के चरणों में समर्पित की। फिर अपने बनायी हुई तीन कृतियों को भी दिखाया ॥१४॥

प्रशशंस समालोक्य शङ्करो नाटकत्रयम्।
इष्टं वरं प्रार्थयितुमभ्यवादीन्महीपतिम् ॥ १५ ॥

राजा के रचित तीन नाटकों को देखकर शंकर ने उनकी भूरि प्रसंसा की (इसका प्रसंग आगे मिलेगा) और अभीष्ट वर मांगने के लिये राजा को कहा ॥१५॥

पुत्रेच्छुकं तं विज्ञाय वरं तत्प्राप्तये ददौ ।
हेमं च ग्रामवासिभ्यो दापयामास तन्मुनिः ॥ १६ ॥

राजा को पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा थी । शंकर ने तदर्थं वरदान दिया। और जो लाख सुवर्ण मुद्रा राजा लाये थे उसे ग्रामवासियों को दिलाया ॥१६॥

तमबालमतिं बालं सङ्गम्य द्विजपुङ्गवाः ।
अध्यैयतादराद्वेदान् पदवाक्यप्रमाणतः ॥ १७ ॥

उस बुद्धिमान् बालक के पास आकर बड़े बड़े ब्राह्मण पण्डित बड़े आदर के साथ न्याय व्याकरण मीमांसानुसार वेदार्थ निर्णय करते थे ॥१७॥

वार्धक्यमीयुषी माताऽकार्षीदथ मनोरथान् ।
जनन्य इव सामान्या वधूपुत्रादिगोचरान् ॥ १८ ॥

शंकर की माता वृद्ध हो गयी थी । और साधारण माताओं के समान वे भी अनेक प्रकार के मनोरथ करने लगीं ।—घर में बहू आएगी पौत्र होंगे इत्यादि ॥१८॥

कदाचिदुपसंजग्मुर्मुनयः संशितव्रताः ।
दधीचिगौतमागस्त्यप्रमुखास्तं दिदृक्षवः ॥ १९ ॥

एक समय शंकर के दर्शन की इच्छा से व्रतनियमधारी दधीचि, गौतम, अगस्त्यादि महर्षि वहां पधारे ॥१९॥

सत्कृतान् मधुपर्काद्यैरुवाच वचनं सती ।
कृतार्थास्मि कृता कर्मकर्शनैर्वोऽद्य दर्शनैः ॥ २० ॥

अर्घ्य पाद्य मधुपर्कादि से सती देवी ने सबका स्वागतसत्कार किया। और बोली कि पाप कर्मों को शान्त करने वाले आपके दर्शनों से मैं कृतार्थ हो गयी हूँ (द्रष्टव्यः—'जब महर्षि पधारे उस समय उनके दिव्य तेजस्वी स्वरूप को देखकर सती देवी विस्मित एवं श्रद्धावनत होती हैं। फिर उनका परिचय पूछने पर वे अपने को गौतमादि नाम से परिचय देते हैं। उनके दिव्य तेज से सती को निश्चय होता है कि ये शास्त्रप्रसिद्ध चिरन्तन चिरजीवी दधीचि अगस्त्यादि ही हैं। तब श्रद्धा भक्ति से अर्घ्यपाद्यादि से सत्कार करती है' इत्यादि कथांश यहाँ वाचकों को स्वयमेव ऊहन करना

चाहिये। इसी प्रकार जहाँ जहाँ भी संक्षिप्तरूप से कहा गया है वहाँ वहाँ विस्तार सर्वत्र स्वयं द्रष्टव्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त लघु होने से इन सब बातों को लेकर विस्तार होने नहीं दिया है) ॥ २० ॥

बाल्येऽधीताखिलाम्नायो महिमानमयादयम् ।
युष्मद्दयाद्विगुणितं तपः किन्वस्य पौर्विकम् ॥ २१ ॥

मेरे पुत्र ने अल्प ऊमर में ही समग्र वेदों का अध्ययन कर महिमा को प्राप्त किया। अब आप ऋषियों की दया ने तो उस (महिमा) को दुगुनी कर दिया। पूर्व जन्म का ऐसा इसका कौन सा तप है ? ॥२१॥

ते जगुर्देवि सत्यं तु पत्या ते तपसा हरः ।
प्रसादितोंऽशकलयाऽकलयत्त्वदपत्यताम् ॥ २२ ॥

वे ऋषि बोले—हे देवि ! सच बात यह है कि आपके पति ने तप से भगवान शंकर को प्रसन्न किया। वे ही शंकर अपनी अंशकला से आपके पुत्र बने हैं ॥२२॥

कियदायुरयं हीति पुनः पृष्टा महर्षयः ।
अष्टवर्षायुषं प्राहुरवष्टभ्य प्रभोर्वरम् ॥ २३ ॥

सती ने फिर से पूछा कि इसकी आयु कितनी है ? ऋषियों ने शंकर जी के वरदान के आधार पर बोले कि इनकी आयु केवल आठ ही वर्ष की है ॥२३॥

असम्पादितकार्यत्वाद्दत्वा ते हायनाष्टकम् ।
ऊचुर्ध्यात्वा व्यासदेयमष्ट षोडश चेति ते ॥ २४ ॥

परंतु इतने कहते ही ऋषियों ने सोचा कि जिस कार्य के लिये शंकर अवतीर्ण होकर आये वह कार्य तो पूरा हुआ नहीं। अतः आठ वर्ष की और आयु स्वयं उन्होंने वरदान के रूप में बालक शंकर को दिया। फिर ध्यान लगाया तो आगे स्वयं व्यासजी सोलह वर्ष आयु देने वाले देखकर कहा और आठ और सोलह ॥२४॥

ते शङ्करमुपामन्त्र्य निर्जग्मुश्च यथागतम् ।
वाताहतेव कदली सा च कातरतां गता ॥ २५ ॥

इतना कह कर महर्षिगण तो शंकर से विदा होकर यथास्थान चले गये। परंतु इधर सतीदेवी आयु के विषय में उनकी बात सुनकर पवन से

आहत केले के पेड़ के समान कातर हो गयी। (अर्थात् आठ वर्ष आयु इतना माता को ठीक समझ में आया। बाद में और आठ और सोलह जो कहा उसका रहस्यार्थ पूरा समझ में नहीं आया। अत एव कातर हो गयी) ॥२५॥

सान्त्वयन्नम्बिकामाह शङ्करो निरहंकृतिः।
जीवने मा शुचो मातर्वीचिबुद्बुदचञ्चले ॥ २६ ॥

माता को सांत्वना देते हुए शरीरादि में अहंकाररहित शंकर ने कहा— हे माता! जीवन तो तरंगबुद्बुद के समान अस्थिर है। इस के लिये शोक मत करो ॥२६॥

लालिताः कति नो पुत्रा वध्वः कति न पालिताः।
क्व ते क्व ताः क्व च वयं सर्वोऽयं पान्थसङ्गमः ॥ २७ ॥

जन्मजन्मान्तर में कितने ही पुत्रों का लालन किया, कितनी बहुओं का पालन किया। आज वे पुत्र कहां, वे वधुएँ कहाँ और हम कहां, सारा संसार केवल मुसाफिरों का मिलाप है ॥२७॥

न सुखं भ्रमतो मातर्भ्रमतां भववर्त्मनि।
ततः संन्यस्य सकलं प्रयते बन्धमुक्तये ॥ २८ ॥

भ्रान्ति मात्र से (अमुक जगह सुख मिलेगा इस प्रकार) संसार में भटकने वालों को कभी सुख प्राप्त नहीं होता। अतः मैं संन्यास लेकर बन्धमुक्ति के लिये प्रयत्न करूँगा ॥२८॥

तदाकर्ण्य वचः कर्णकठोरं सा शुचार्पिता।
विललाप कथं दीनां त्यक्तुमुत्सहते भवान् ॥ २९ ॥

संन्यास लूंगा ऐसा कर्णकठोर वचन सुन कर शोकाकुल हो वह विलाप करने लगी। हे पुत्र ! इस दीना को आप कैसे छोड़ना चाहते हैं। (संन्यास सुनते ही शिशुत्वबुद्धि अचानक शिथिल हो जाने से भवान् का प्रयोग है) ॥२९॥

कथं नु जीवितं मे स्यादेकसूनोर्जरत्तनोः।
कथं न दयसे तात कथं द्रवति ते न हृत् ॥ ३० ॥

मेरा शरीर जीर्ण हो गया, तुम एकमात्र पुत्र हो तुम्हारे बिना मेरा जीवन कैसे चलेगा। तुम्हें दया क्यों नहीं आ रही ? हृदय तुम्हारा क्यों नहीं पिघलता ॥३०॥

एवं ब्रुवाणा न्यासाय नानुमेने सुतं सती ।
निनाय समयं यावत्प्राविशत्सोऽष्टमां समाम् ।। ३१ ।।

इस प्रकार कहती हुई माता सती ने शंकर को संन्यास के लिए अनुमति नहीं दी । समय बीतता गया और बालक आठवें वर्ष में प्रविष्ट हुआ ।।३१।।

एकदा शङ्करः स्नातुं स्ववासात् प्रसुवा सह ।
नदीमुपगतस्तोये ग्राहेण जगृहे पदे ।। ३२ ।।

एक समय शंकर अपनी माता के साथ घर से निकल कर स्नानार्थ नदी में पहुँचे । वहाँ एक मगर ने शंकर को पाँव में पकड़ा ।।३२।।

क्रोशन्तं न शिशुं माता प्रत्याक्रष्टुमपारयत् ।
नक्रेणाकृष्यमाणं तं बलाद्बलवता सुतम् ।। ३३ ।।

शंकर जोर से आक्रोश करने लगे । उन्हें ऊपर खीचने के लिए माता ने भर सक प्रयत्न किया लेकिन विफल हो गयी । क्योंकि बलवान् मगर बलपूर्वक खींच रहा था ।।३३।।

स्मृत्वा यातं पतिं यान्तमालोक्य च तनूभवम् ।
किंकर्त्तव्यविमूढा सा हा हेत्युच्चैः शुचारुदत् ।। ३४ ।।

पति के प्रयाण का स्मरण उन्हें होने लगा और इधर पुत्र के प्रयाण की तैयारी दीखने लगी । वे किंकर्त्तव्य विमूढ हो गयी और अति शोक से हा हा करती हुई रुदन करने लगी ।।३४।।

असहायां विषण्णां च कातरां दीनचेतनाम् ।
अवेक्ष्य मातरं प्राह शङ्करो लोकशङ्करः ।। ३५ ।।

माता असहाय हो रही थी, विषाद से कातर हो गयी थी । अत्यन्त दीन हो चुकी थी । उन्हें देखकर सर्वलोक कल्याणकारी (लोक कल्याण का यहाँ से उपक्रम है) शंकर ने माता को कहा ।।३५।।

समयः स समायातो मातर्यः सत्यवादिभिः ।
मुनिभिः कथितोऽष्टाब्दो यत्रायुरवसायि मे ।। ३६ ।।

हे माता ! सत्यवादी मुनियों का बताया हुआ आठवाँ वर्ष यह सामने आ गया है, जब मेरी आयु का अवसान है ।।३६।।

पुनरष्ट लभेयाब्दान् संन्यस्यन्निति ते जगुः ।
देहि मेऽनुमतिं मातः संन्यासे जीवनावनात् ।। ३७ ।।

मैं आठ वर्ष की अतिरिक्त आयु प्राप्त कर सकूँगा यदि संन्यासी होऊँगा ऐसा उन्होंने कहा है। अतः मेरे जीवन की रक्षा के लिए आप संन्यास की अनुमति दें ।।३७।।

दर्शनं जीवतस्तु स्यात्तच्च न स्यादजीवतः ।
इति मत्वा द्रुतं मातानुमतिं सूनवे ददौ ।। ३८ ।।

(पहले मोह से मैंने अनुमति नही दी। यदि अब भी प्रमाद करूँगी तो मेरा महान अपराध होगा) जीवित रहेगा तो कैसा भी हो कभी देखने को तो मिलेगा। अन्यथा दर्शन भी नहीं हो सकेगा। ऐसा सोचकर माताने तुरत ही अनुमति दे दी।।३८।।

चेतसा सर्वसंन्यासः शङ्करेण तदा कृतः ।
संन्यासान्मृतमित्येव कालनक्रस्तमत्यजत् ।। ३९ ।।

उसी समय शंकर ने मन से ही सर्वसन्यास कर डाला। संन्यास का अर्थ ही है सांसारिक जीवन की मृत्यु और अध्यात्म जीवन का जन्म। अतएव सांसारिक जीवन मृत्यु देखकर काल नक्र ने शंकर को छोड़ दिया। (यद्यपि यहाँ कुछ ग्रन्थकार माया मगरमछ बनाकर शंकर ने माता से अनुमति ली ऐसी कथा कहते हैं। परंतु वह असंगत है। उसमें एक कारण यह है कि ऋषियों ने आठ वर्ष की आयु जो प्रथम बतायी वह निराधार नहीं हो सकती। दूसरी बात माता की वंचना कर संन्यास लेना आदर्श श्रेष्ठ महापुरुषों के लिए आचरणीय नहीं है। अतः प्रारब्धानुसार ग्राह का पकड़ना और छोड़ना ही संगत है) ।।३९।।

तीरमुत्तीर्य चावोचन्मातरं मा शुचोऽम्बिके ।
तैस्त्वं रक्षिष्यसे ये मे गृह्णीयुः पैतृकं धनम् ।। ४० ।।

शंकर किनारे पर आ गये और माता को बोले कि हे माता ! आप शोक न करें, जो मेरी पैतृक संपत्ति लेगा वह आप का देखभाल करता रहेगा ।।४०।।

अह्नि रात्रौ च सन्ध्यायां स्मरिष्यसि यदा कदा ।
अहमेष्यामि मृत्यौ वा संस्करिष्याम्यसंशयम् ।। ४१ ।।

दिन में, रात में, सन्ध्यासमय जभी आप स्मरण करेंगी मैं उपस्थित हो जाऊँगा और मृत्यूपरान्त संस्कार भी मैं करूँगा ॥४१॥

जातेन किमनेनेति व्यथां वा मा कृथा हृदि ।
स्थिते मयि फलं यत्ते शतं प्रव्रजिते मयि ॥ ४२ ॥

ऐसा मन में न सोचना कि इसके जन्म से क्या फायदा हुआ। जो यहाँ मेरे रहने से फल होगा उससे सौगुना फल संन्यासी होने पर मिलेगा ॥४२॥

तां सनाभिजनान्नीत्वा तेषु संविनिधाय च ।
संन्यासकृतसङ्कल्पः प्रवव्राज महाधृतिः ॥ ४३ ॥

अपने रिश्तेदारों के यहाँ ले जाकर अच्छी तरह माता को उन्हें सौंप दिया और महाधैर्यशाली शंकर संन्यास ग्रहण करने के लिए कृतसंकल्प होकर वहाँ से निकल पड़े ॥४३॥

गृहपार्श्वगता गङ्गा शनैस्तत्कृष्णमन्दिरम् ।
कूलङ्कषाऽकषद्वेगात्तदाभूद्वागदेहिनी ॥ ४४ ॥

गृह समीपागत पूर्णा नदी धीरे-धीरे कृष्ण मन्दिर को उखाड़ने लगी थी। उस समय आकाशवाणी हुई ॥४४॥

मां च निक्षिप रक्षा मे यत्र कुत्रापि वा भवेत् ।
तच्छ्रुत्वा शङ्करः कृष्णमूर्त्तिमन्यत्र नीतवान् ॥ ४५ ॥

मुझे भी किसी ऐसी जगह रखो जहाँ मेरी रक्षा हो। यह सुनकर शङ्कर ने कृष्णमूर्त्ति को अन्यत्र ले जाकर रखा ॥४५॥

संस्थाप्याम्बां च कृष्णं च सुस्थाने स्वस्थमानसः ।
तुच्छं भवतरुं छित्वा सत्याय प्राव्रजद् गृहात् ॥ ४६ ॥

माता को एवं कृष्णमूर्ति को सुस्थान में स्थापित कर स्वस्थ शङ्कर ने तुच्छ संसार वृक्ष को काट कर सत्य की प्राप्ति के लिए गृह से प्रव्रजन किया ॥४६॥

ब्रह्मेन्द्रचन्द्रप्रभृतीन् स्वबाणवशगान् नयन् ।
नैनं पञ्चशरोऽस्प्राक्षीदत्र्यक्षमपि शंकरम् ॥ ४७ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि बड़े बड़े देवताओं को भी अपने बाण के वश में करने वाला कामदेव शङ्कर का स्पर्श भी नहीं कर सका। कैलासवासी

शङ्कर ने अपने तृतीय नेत्र से काम को जीता था। परंतु ये शङ्कर विना तृतीय नेत्र के ही काम को जीत गये ॥४७॥

दृष्टानुश्रविकार्थेषु वितृष्णं वशिनं शिशुम्।
प्रव्रजन्तमवेक्ष्यैव देवाः सर्वे चकम्पिरे ॥ ४८ ॥

ऐहिक तथा आमुष्मिक वस्तुओं में तृष्णाशून्य इन्द्रियजयी शिशु शंकर को संन्यस्त होते देख कर समस्त देवता कम्पित होने लगे ॥४८॥

शान्तं दान्तं व्युपरतं तितिक्षुं श्रद्धयान्वितम्।
समाहितधियं दृष्ट्वा प्रसेदुर्वनदेवताः ॥ ४९ ॥

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धालु, समाहितचित्त शंकर को देखकर वनदेवता प्रसन्न हो गए ॥४९॥

वनानि सरितो ग्रामान् पुराणि गिरिपर्वतान्।
अत्यगादिन्द्रजालाभान् वीक्षमाणो मुमुक्षया ॥ ५० ॥

जङ्गलों को, नदियों, को ग्रामों को, नगरों को एवं पर्वतों को पार करते हुए इन सबको इन्द्रजाल सदृश देखते हुए मुमुक्षुता से शंकर आगे बढ़ते गये। (द्रष्टव्य :—इन चार श्लोकों में विवेक, वैराग्य, शमादिसाधन-संपत्ति और मुमुक्षुता रूपी चार मुख्य साधनों का सूचन है) ॥५०॥

गोविन्दनाथविपिनं शर्मदं नर्मदाश्रितम्।
स प्राप यत्र गोविन्दगुहां निरदिशञ्जनाः ॥ ५१ ॥

शंकर चलते चलते नर्मदातीरस्थ गोविन्दनाथ विपिन पहुँच गए जहाँ लोगों ने गोविन्द गुहा उन्हें बताई ॥५१॥

तुष्टाव तुष्टहृदयः शङ्करस्तं समाधिगम्।
गुहाद्वारमुपागत्य गोविन्दपददेशिकम् ॥ ५२ ॥

गुहा के द्वार पर पहुँच कर शंकर प्रसन्न हुए और समाधिस्थ गोविन्द-पादाचार्य की स्तुति की ॥५२॥

पर्यङ्कं प्रपतत्केतोः कण्ठहारं महेशितुः।
वहन्तमवनिं शेषमशेषं तं भजाम्यहम् ॥ ५३ ॥

गरुडध्वज भगवान् विष्णु के शय्या-पलंग, शंकर भगवान् के गले के कण्ठहार, पृथिवी को ढोने वाले शेष भगवान् का जो किसी का शेष—अङ्ग (अप्रधान) नहीं, मैं भजन करता हूँ ॥५३॥

सहस्राननभीतानां शिष्याणां कृपया पुनः ।
जातमेकाननं वन्दे प्राञ्जलिस्तं पतञ्जलिम् ॥ ५४ ॥

अपने सहस्रमुख स्वरूप को देखकर भयभीत हुए शिष्यों पर कृपा करने के लिए एक मुख बने भगवान् पतञ्जलि को साञ्जलि वन्दन करता हूँ ॥५४॥

भैषज्यपदयोगानामनुशासनतः सताम् ।
योऽदहद्देहवाग्बुद्धिदोषानेष नमामि तम् ॥ ५५ ॥

आयुर्वेद से शारीरिक दोष, व्याकरण से वाचिक दोष तथा योग शास्त्र से मानसिक दोषों को नष्ट करने वाले इन महापुरुषों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥५५॥

वैयासकेर्मुनेः शिष्याद् गौडपादान्महात्मनः ।
अधीतपरमार्थं त्वां प्रार्थये सकलार्थदम् ॥ ५६ ॥

व्यासपुत्र शुकदेव के शिष्य गौड़पादाचार्य से परमार्थतत्व को प्राप्त हुए सर्वार्थदायी आप की मैं प्रार्थना करता हूँ ॥५६॥

प्रोद्यद्ब्रह्मारुणद्योतनिरस्ताज्ञानदुर्दिनम् ।
अशेषशेषं शेषाख्यं प्रपद्ये गुरुमीश्वरम् ॥ ५७ ॥

प्रकट होते हुए ब्रह्म रूपी सूर्य से जिनका अज्ञानात्मक दुर्दिन (मेघाच्छादित अन्धकारात्मक दिन) साफ हो गया, सर्व जगत् के बाध से बचा हुआ स्वरूप जिनका है, उन शेष नामक गुरुरूपी ईश्वर की मैं शरण में आया हूँ ॥५७॥

समाधेर्व्युत्थितः सोऽपि कस्त्वमित्यब्रवीन्मुनिः ।
प्रसन्नं तमुपस्थाय शङ्करो गिरमातनोत् ॥ ५८ ॥

गोविन्दपादाचार्य समाधि से उठे और पूछा तुम कौन ? उन्हें प्रसन्न देखकर शंकर ने कहा ॥५८॥

नावनिर्न जलं तेजो वायुराकाश एव वा ।
अनामगोत्रः सद्रूपः केवलोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥ ५९ ॥

मैं पृथिवी जल, तेज, वायु या आकाश नहीं, मैं नाम गोत्र से रहित हूँ, केवल हूँ, शिव हूँ ॥५९॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु व्यावृत्तेष्वनुवृत्तिमान् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंश्च केवलः स शिवोऽस्म्यहम् ॥ ६० ॥

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति परस्परव्यावृत्त हैं, किन्तु मैं उन सब में, अनुवृत्त हूँ, अतएव पृथक् हूँ, शरीरादि विनाशी हैं, मैं अविनाशी, उनमें रहने वाला उनसे पृथक हूँ, केवल हूँ, शिव हूँ ॥६०॥

अशान्तैरसमाधिस्थैः पापादविरतैर्न यः ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या केवलः स शिवोऽस्म्यहम् ॥ ६१ ॥

नाविरतो दुश्चरितात् इत्यादि श्रुति के अनुसार जो अशान्त असमाहित तथा पापानुपरत पुरुष के लिए अदृश्य है किन्तु शुद्ध वुद्धि से द्रष्टव्य है वही केवल शिव मैं हूँ ॥ ६१ ॥

तीव्रवैराग्यसम्पन्नैर्मुमुक्षुभिरहर्निशम् ।
अन्विष्यमाणस्वपदः केवलः स शिवोऽस्म्यहम् ॥ ६२ ॥

तीव्र वैराग्य सम्पन्न मुमुक्षुगण जिसके स्वरूप की खोज करते हैं वह केवल शिव मैं हूँ ॥६२॥

सोऽहं गुरुपदाम्भोजं दिव्याभमभिवादये ।
मामुद्धर कृपासिन्धो नतबन्धो भवार्णवात् ॥ ६३ ॥

सो मैं दिव्य तेज सम्पन्न गुरुचरणों का अभिवादन करता हूँ । हे कृपासिन्धो ! हे नतबन्धो ! भवसागर से आप मेरा उद्धार करें। (द्रष्टव्यः—प्राचीन समय में नाम गोत्रादि उच्चारण पूर्वक अभिवादन करने की प्रथा थी। अध्यात्मविद्या के गुरु के पास नाम और गोत्र को लेकर अध्यास उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं यह उपरोक्त श्लोकों में प्रथम श्लोक में बताया। नित्यानित्यवस्तुविवेक सूचन द्वितीय श्लोक में हुआ। शमादि साधन संपत्ति सूचन तृतीय में हुआ। चतुर्थ में वैराग्य तथा मुमुक्षुत्व का सूचन हुआ। अध्यात्मविद्या स्थल में नामगोत्रादि के न होने पर भी अभिवादन आवश्यक है इस शिष्टाचार की रक्षा के लिए पञ्चम श्लोक में अभिवादन बताया) ॥६३॥

तच्छ्रुत्वा जातसंहर्षो गोविन्दपददेशिकः ।
माध्वीकमधुराभिः स गीर्भिस्तं प्रत्यभाषत ॥ ६४ ॥

शंकर का यथोक्त वचन सुनकर अत्यन्त हर्षान्वित होकर गोविन्दपादाचार्य मधुरवाणी से इस प्रकार बोलने लगे ॥६४॥

शुद्धबुद्धस्वरूपोऽसि भव्यं ते भवतु प्रियम् ।
शङ्के त्वां शङ्करं साक्षादुपात्तनरविग्रहम् ॥ ६५ ॥

सच में तुम नित्य शुद्ध बुद्ध स्वरूप हो । तुम्हारा मङ्गल हो, प्रिय हो । मुझे ऐसा लग रहा है कि तुम मानव विग्रह धारी शंकर ही हो ॥६५॥

अथ गोविन्दपादार्यचरणौ स यथाविधि ।
अपूजयन्महातेजा आचारपरिरक्षणात् ॥ ६६ ॥

इसके अनन्तर महातेजस्वी शंकर ने आचार रक्षा के लिए विधिवत् गोविन्दपाद की चाणपूजा की ॥६६॥

परिचर्याप्रसन्नात्मा यतिवर्यो महामतिः ।
उपादिशद्वेदशिरोमहावाक्यान्यशेषतः ॥ ६७ ॥

सेवा से प्रसन्न हुए यतिवर्य गोविन्दपादाचार्य ने शंकर को समस्त वेदांत रहस्य समझाया ॥६७॥

काषायवसनः श्रीमान् शङ्करः स्मरद्युतिः ।
सन्ध्यारक्ताभ्रसंशोभिहिमवानिव सम्बभौ ॥ ६८ ॥

गैरिक वस्त्र धारण किए हुए श्रीमान शंकर की कान्ति की छटा चारों ओर फैल रही थी । वे ऐसे लग रहे थे जेसे कि मानो सायंकालीन अरुणवर्ण मेघ से शोभायमान हिमालय (ग्लेसियर) पर्वत हो । (द्रष्टव्य :—यहाँ दो श्लोकों में सन्यासदीक्षा अर्थगम्य है) ॥६८॥

हसन् स्मेरमुखः श्रीमान् विदुषां मानसाङ्गणे ।
हंसः समभवच्छुद्धब्रह्मबोधविवर्धनः ॥ ६९ ॥

(यहाँ से चार श्लोकों में हंस और परमहंस की व्याख्या से शंकर को परमहंस सिद्ध करते हैं) हमेशा मुस्कराते मुखवाले दिखाई पड़ते थे । अर्थात् नित्य प्रसन्न रहते थे । अत एव 'हसतीति हंसः' व्युत्पत्ति के अनुसार वे हंस थे । विद्वानों के मानस (हृदय तथा मानस सरोवर) में निवास करते थे इसलिए भी हंस थे । ब्रह्मबोध कराने के कारण एवं स्वयं ब्रह्मरूप होने के कारण वे हंस शुद्धब्रह्म थे ॥६९॥

अहमेवाभवं पूर्वं जगदेतच्चराचरम् ।
अहं स इति हंसोऽयमकाराक्षरलोपनात् ॥ ७० ॥

यह सारा जगत् पहले मैं ही था। फिर मैं ही यह हुआ। यहाँ 'अहं सः' इसमें अकार लोप से हंस हुआ ॥७०॥

क्षीरं ब्रह्म जगन्नीरमविभक्तमिव स्थितम् ।
विविनक्ति ततः सोऽयं परमो हंस ईरितः ॥ ७१ ॥

सामान्य हंस नीर और क्षीर का विवेक करता है और ये हंस जगत् रूपी नीर और ब्रह्मरूपी क्षीर का विवेक करते हैं अतएव ये परमहंस कहलाए ॥७१॥

दृष्टिं तमोऽहतां दत्ते हृदयाम्भोरुहप्रियः ।
व्यनक्त्यर्थं च जिज्ञास्यं हंसो सूर्यः परो ह्ययम् ॥ ७२ ॥

हृदय कमल को खिलाने वाले ये तम से अहत दृष्टि को देते हैं, जिज्ञास्य अर्थ को व्यक्त करते हैं अत एव उत्तम सूर्य—परमहंस हैं ॥७२॥

अथ प्रावर्त्तत प्रावृड् वनानि हरितान्यभुः ।
सोऽधिगम्य गुरोः सर्वं समाधिनिलयोऽभवत् ॥ ७३ ॥

वर्षाकाल प्रारम्भ हुआ। जङ्गल हरे भरे हो गये। गुरु से समस्त सिद्धान्त प्राप्त कर शंकर समाधिस्थित हो गये ॥७३॥

सविकल्पात् समुद्गम्य शंकरो निर्विकल्पके ।
स्थितोऽपश्यत्परं ब्रह्म परमानन्दमद्वयम् ॥ ७४ ॥

सविकल्प से ऊपर उठकर शंकर निर्विकल्पक समाधि में परमानन्द अद्वितीय परब्रह्म का दर्शन करने लगे ॥७४॥

न यत्र सूर्यश्चन्द्रो वा विद्युद्वा भान्ति भानि वा ।
अहेयमनुपादेयमेकमद्वैतमव्ययम् ॥ ७५ ॥

जहाँ सूर्य चन्द्र बिजली नक्षत्रादि का प्रकाश काम नहीं करता, जो हेय नहीं उपादेय भी नहीं. एक है, अद्वैत है, अव्यय है ॥७५॥

कदाचिद् व्युत्थितोऽपश्यद् गगनं मेघसंवृतम् ।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं परं ब्रह्मेव मायया ॥ ७६ ॥

शंकर की समाधि एक बार खुली । वर्षा काल चल ही रहा था । देखा तो आकाश मेघ से आच्छन्न था । सूर्य की ज्योति अस्पष्ट थी । जैसे माया से आवृत ब्रह्म की ज्योति अस्पष्ट होती है ॥७६॥

कलावानपि न प्राप प्रकाशं मलिनाम्बरे ।
सन्नेव कुहकाच्छन्नोऽसन्निनो नास्तिकात्मवत् ॥ ७७ ॥

जैसे कोई अच्छा भी कलाकार क्यों न हो फिर भी मलिन अम्बर (वस्त्र) में प्रकाश नहीं पाता-सम्मानित नहीं होता वैसे कलावान चन्द्रमा ने भी मलिन अम्बर (आकाश) में प्रकाश नहीं पाया । सन् = विद्यमान भी सूर्य कुहक मेघादि से आच्छन्न होने से असन् = अविद्यमान जैसा हुआ । जैसे नास्तिकों की भी आत्मा सत होने पर भी अज्ञानरूपी कुहक-कपट से आच्छन्न होकर असत जैसी हो जाती है ॥७७॥

ववर्ष मघवा धाराः शुण्डिशुण्डोपमा मुहुः ।
उच्चखनुर्बालवृक्षांस्ता बौद्धवाचोऽस्थिरात्मवत् ॥ ७८ ॥

इन्द्र हाथी के सुँड के बराबर धारा गिराने लगा । उन धाराओं ने छोटे पौधों को उसी प्रकार उखाड़ा जैसे बौद्ध वाणीधारा अस्थिर मतियों को ॥७८॥

गुरुं समाधिनिरतं गुहामपि च शंकरः ।
अवेक्ष्य प्लावयिष्यन्तीं रेवां मौनमगात् क्षणम् ॥ ७९ ॥

रेवा नदी ऐसी बढ़ रही थी कि थोड़ी देर में समाधिस्थ गुरु को और गुहा को डुबा देने वाली हो । शंकर क्षण भर के लिए मौन हो गये ॥७९॥

ततः प्रवाहपुरतः सोऽभिमन्त्र्य कमण्डलुम् ।
निदधौ निममे तत्र कृत्स्नमेव सरिज्जलम् ॥ ८० ॥

फिर प्रवाह के सामने अभिमन्त्रित कर कमण्डलु को रख दिया । पूरे का पूरा नर्वदा जल उस कमण्डलु में ही समा गया ॥८०॥

चिरात् संव्युत्थितं सर्वे प्राहुर्गोविन्दसद्गुरुम् ।
शंकरं योगसम्पन्नमचिरादेव विस्तरात् ॥ ८१ ॥

वहुत काल के बाद जब गोविन्दपादाचार्य समाधि से उठे तब सबने उनसे यह कहा कि यह आपका शिष्य पूर्ण योगी हो गया है ॥८१॥

शरदा विमलं तोयं विशदं च नभोऽभवत् ।
सेवया विमलं चेतो विद्यया ब्रह्म वा यथा ॥ ८२ ॥

शरदऋतु से जल निर्मल हुआ और आकाश स्पष्ट हो गया, ठीक उसी प्रकार जैसे सेवा से चित्त निर्मल होता है या विद्या से ब्रह्म स्पष्ट प्रकट होता है ॥८२॥

वारिदा मुहुरासिच्य ह्योषधीर्वारिधारया ।
वाग्धारया च यतयः समुपेतमतीर्ययुः ॥ ८३ ॥

मेघ वारिधारा से पेड़ लता आदि को खूब सींच कर चौमासे के बाद चले गये और संन्यासी लोग वाणी धारा से पास में आये भक्तों की मति को सींचकर चौमासे के बाद निकल गये ॥८३॥

शारदाब्दपरीतं खं रराजे मध्यसूर्यकम् ।
पाटीरलिप्तं विभ्राजत्कौस्तुभं हर्युरो यथा ॥ ८४ ॥

शरत् काल के सफेद मेघ और मध्य में सूर्य आकाश में उसी प्रकार शोभा पाते रहे जैसे श्यामवर्ण हरि के उरःस्थल में चन्दन लगा हो और कौस्तुभ मणि चमक रही हो ॥८४॥

तदा गोविन्दभगवान् जगादाहूय शंकरम् ।
वेदविद्यासमुद्धारप्रतीक्षाबद्धमानसः ॥ ८५ ॥

वेद विद्या का उद्धार कब होगा इस प्रतीक्षा में गोविन्दपाचादार्य बैठे हुए थे । अतएव शङ्कर को बुलाकर बोले ॥८५॥

पुराऽत्रिमुनिसत्रान्ते आम्नायान्तार्थमादरात् ।
ब्रह्मसूत्रकृतं सन्तं शंसन्तमहमब्रवम् ॥ ८६ ॥

एक समय अत्रि महर्षि के यज्ञ सत्र के अवसर पर बड़े आदर के साथ वेदान्त रहस्य को कहते हुए ब्रह्मसूत्रकार भगवान वेदव्यास को मैंने कहा ॥८६॥

बहु विप्रतिपद्यन्ते ब्रह्मसूत्रेषु वादिनः ।
भाष्यं तत्र ततः कार्यं विपर्ययविशारणम् ॥ ८७ ॥

ब्रह्मसूत्र के बारे में वादी लोग भिन्न भिन्न अर्थ लगाते हैं । अतः उसपर भाष्य बनाया जाना आवश्यक है, जो विपर्यय को दूर करे ॥८७॥

तदा मां स मुनिः प्राह दिविषत्प्रार्थितो हरः ।
मानुषं रूपमास्थाय भाष्यं तत्र करिष्यति ।। ८८ ।।

तब वेदव्यास जी ने मुझे कहा कि देवताओं की प्रार्थना पर भगवान शंकर मनुष्य रूप धारण करेंगे और वे ही ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य बनायेंगे ॥८८॥

स भविष्यति ते शिष्यः करके संहरन्नदीम् ।
निरसिष्यति सर्वाणि दुर्मतानि स सन्मतिः ।। ८९ ।।

मानुषरूपी शंकर आपके शिष्य बनेंगे। नर्मदा नदी को वे अपने कमण्डलु में उपसंहृत करेंगे (यही उनकी निशानी रहेगी)। वे समस्त दुष्ट मतों का निरास करेंगे ॥८९॥

विशङ्कं शङ्करं मन्ये भवन्तं लक्षणान्वितम् ।
तत्प्रयातु जगत्पातुर्भवानानन्दकाननम् ।। ९० ।।

अब मुझे यह शंका नहीं रही, सभी लक्षण आप में हैं, अतः आप निश्चित ही शंकरावतार हैं। अतः आप विश्वनाथ भगवान के आनन्दकानन में अब जाय ॥९०॥

काशीविश्वेशलब्धाशीर्भाष्यं शारीरके भवान् ।
कृत्वा भवाटवीरुद्धानुद्धरिष्यति मानवान् ।। ९१ ।।

काशी विश्वनाथ का आशीर्वाद पाकर आप शारीरक सूत्रों पर (ब्रह्म-सूत्रों पर) भाष्य बनायेंगे। और संसार कानन में अवरुद्ध मानवों का उद्धार करेंगे ॥९१॥

गुरोराज्ञां पुरस्कृत्य शङ्करो लोकशङ्करः ।
प्रतस्थे गुरुपादाब्जं नत्वानन्दवनं मुनिः ।। ९२ ।।

गुरु की आज्ञा पाकर लोककल्याणकारी शंकर गुरुचरणों को प्रणाम कर आनन्दवन—काशी की ओर चले गये ॥९२॥

वाराणसीं समासाद्य जाह्नवीतीरमागतः ।
प्रसन्नहृदयस्तोयमवागाहत सत्तमः ।। ९३ ।।

वाराणसी आकर प्रथम सत्पुरुषों में अग्रगण्य शंकर गङ्गा किनारे पहुंच जाते हैं और प्रसन्नचित्त होकर नदी में स्नान करते हैं ॥९३॥

विश्वेशितुश्चरणपङ्कजंनि सुभक्त्या
ब्रह्मादिभिः सुरवरैः प्रणतं प्रणम्य ।
श्रीशंकरः सुरनुतेऽत्र जगत्पवित्रे
क्षेत्रे निनाय समयं स कियन्तमार्यः ।। ९४ ।।

ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा नमस्कृत भगवान विश्वनाथ बाबा के चरण कमलों को प्रणाम कर श्रीशंकर ने इसी जगत् पवित्र काशी क्षेत्र में कुछ दिनों तक निवास किया ॥९४॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
पञ्चमः सर्ग आचार्यपारिव्राज्यकथान्वितः ।। ९५ ।।



अथ षष्ठः सर्गः

स्वभासा भासयन्नाशा निहताशाव्रजोऽव्रजत् ।
आचार्यचरणं कश्चिच्छरणं द्विजबालकः ।। १ ।।

अपनी कान्ति से दिशाओं को भासित करते हुए, आशा तृष्णा विवर्जित कोई द्विजबालक आचार्य चरण शंकर भगवत्पाद की शरण में आये ॥१॥

स कस्त्वमिति संपृष्टोऽभ्याचष्टाहं द्विजात्मजः ।
चोलदेशे समुत्पन्नः कावेरी यत्र भक्तिदा ।। २ ।।

कौन हो ऐसा आचार्य के पूछने पर अपना परिचय देते हुए द्विजबालक ने कहा—मैं ब्राह्मणपुत्र हूँ चोलदेश मेरा जन्म स्थान है, भक्तिदायिनी कावेरी जहाँ प्रवाहित होती है ॥२॥

संसारदावसंदग्धो भवत्पादमुपागतः ।
मा मे दोषगुणौ द्राक्षीरनालक्ष्यदयानिधिः ।। ३ ।।

संसार रूपी दावानल से मैं दग्ध हो आपकी शरण में आया हूँ । आप अवर्णनीय दया के सागर हैं । मेरे गुण दोषों पर ध्यान नहीं देंगे ॥३॥

वर्षन्मरुषु नीलाब्दो महीयान्न महोदधौ ।
कृपां दीनेषु वर्षंश्च गुरुर्न तु कृतार्थिषु ।। ४ ।।

नील मेघ मरुदेश में पानी बरसाकर महान होता है, न कि महासागर में। गुरु भी दीनों पर दया की वर्षा कर महान होते हैं न कि कृतार्थों पर ॥४॥

ब्रह्मलोकान्तमानन्दं क्षणिकं दुःखमिश्रितम् ।
वीक्ष्य भीतो भवत्पादश्रियं संप्रत्यशिश्रियम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त आनन्द को दुःख मिश्रित एवं क्षणिक देख कर मैं भीत हो गया हूँ और आप के चरणों के आश्रय में आया हूँ ॥५॥

तं कृपाऽऽलोकनैर्वीक्ष्य परीक्ष्य च विरागिणम् ।
तुरीयाश्रममाचार्यो निनाय स सनन्दनम् ॥ ६ ॥

वैराग्य सम्पन्न सनन्दन पर कृपादृष्टि कर उनकी परीक्षा भी लेकर आचार्य ने संन्यास दीक्षा दी ॥६॥

काश्यां वसन्तमासाद्य सर्वे देवांशजाः क्रमात् ।
आशिश्रियुरमुष्यैव शिष्यभावमुपागताः ॥ ७ ॥

काशी में निवास करते समय आचार्य के पास उनके शिष्य होकर सभी देवांशज भी उपस्थित हो गये ॥७॥

ग्रीष्मे शिष्यैर्वृतो गङ्गां संगच्छन्कर्त्तुमाह्निकम् ।
चाण्डालं क्वापि मध्याह्ने मध्येमार्गमलोकत ॥ ८ ॥

ग्रीष्मऋतु की बात है। आचार्य शिष्यों के साथ मध्याह्न समय में आह्निक कृत्यार्थ गङ्गा जा रहे थे तो मध्यमार्ग में एक चाण्डाल दिखाई पड़ा ॥८॥

मार्गादपसरेत्युक्तः श्वपचः स श्वभिर्वृतः ।
शंकरं प्राह किं देहं किं वात्मानं ब्रवीषि भोः ॥ ९ ॥

आचार्य ने उस श्वपच को रास्ते से हटने के लिए कहा तो उसने पूछा कि आप देह को दूर हटने के लिए कह रहे हैं या आत्मा को ॥९॥

चिकीर्षुः किं भवानन्नमयादन्नमयं ननु ।
साक्षिणः साक्षिणं किं वा दूरं ब्रूहि सतां वर ॥ १० ॥

न साक्षी साक्षितो हेममृद्घटव्योमवत्पृथक् ।
गङ्गायां च सुरायां च सौरबिम्बं न भिद्यते ॥ ११ ॥

साक्षी से साक्षी को पृथक् करना चाहते हो तो यह अयुक्त है। कारण मृद्घट में जो आकाश एवं सुवर्णघट में जो आकाश है दोनों में पार्थक्य नहीं है वैसे साक्षी में भी भेद नहीं है। सूर्य चाहे गङ्गा जल में दीखे चाहे सुरा में, सूर्य विम्व में भला क्या भेद ? ॥१०-११॥

नित्यशुद्धं निजात्मानमजं विस्मृत्य देहधीः ।
विप्रश्वपचभेदेन सीदत्यन्धतमिस्रगः ॥ १२ ॥

असल वात यही है कि देहाध्यास के कारण अजन्मा भी आत्मा को व्राह्मणादिकुलजन्मा मानते हैं, नित्यशुद्ध साक्षी को भी चाण्डालादि शरीर से अपवित्र मानते हैं। वे इसी विप्रचाण्डालभेद को लेकर घोर अज्ञानान्धकार में उलझे रहते हैं ॥१२॥

विद्यां विमुक्तिदां प्राप्य दण्डकुण्डादिमण्डिताः ।
मिथ्याजगति संसक्ता यतयोऽपि महाद्भुतम् ॥ १३ ॥

मोक्षदायिनी विद्या को प्राप्त कर दण्ड कमण्डलुधारी वने संन्यासी भी मिथ्या जगत में लिपटे रहते हैं, आश्चर्य है ॥१३॥

श्रुत्वा श्वपचवाक्यं तद्विस्मयाद्विगतस्मयः ।
उवाच शंकरः प्रीत्या विशङ्कं श्वपचं प्रति ॥ १४ ॥

श्वपचवाक्य को सुन कर शंकर ने विस्मय के साथ अहंकाराभिमान के विना ही प्रेम से श्वपच को कहा ॥१४॥

अन्त्यजत्वमतिं सद्यस्त्यजाम्यात्मविदि त्वयि ।
ब्रह्मैव ब्रह्मविदिति श्रुतिरेव ब्रवीति यत् ॥ १५ ॥

आप आत्मवेत्ता हैं। आप में अंत्यज बुद्धि को मैं अभी ही छोड़ देता हूँ। क्यों कि श्रुति स्वयं यह कहती है कि ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्मरूप ही होता है ॥१५॥

आत्मरूपेण यः पश्येत् सर्वमात्मानुसंततम् ।
चाण्डालो वा द्विजातिर्वा वन्दनीयः स मे पुमान् ॥ १६ ॥

आत्मा से सारा जगत् व्याप्त है। जो उसे आत्मरूप से ही देखता है वह चाण्डाल हो चाहे द्विज, वह मेरे लिए वन्द्य हैं। वही वास्तव में पुरुष है॥१६॥

प्रतिबोधं बोधघनं यस्तु वस्त्वनुपश्यति ।
चाण्डालो वा द्विजो वा स गुरुरेवेति मे मतिः । १७ ॥

प्रत्येक बोध में चैतन्यबोधात्मक वस्तु को जो देखता है वह चाहे चाण्डाल हो चाहे द्विज, गुरु ही है ऐसी मेरी मति है ॥१७॥

इति धीरं व्याहरति शंकरेऽदर्शि नान्त्यजः ।
धूर्जटिः पुरतो मौलिस्फूर्जदिन्दुकलः स्थितः ॥ १८ ॥

धीरता के साथ इस प्रकार शंकर बोल ही रहे थे इतने में सामने से अंत्यज गायब हो गया और इन्दुकलाधारी शंकर सामने दिखाई दिए ॥१८॥

भक्त्या भयेन हर्षेण युक्तः स विनयेन च ।
तुष्टाव पुरतो दृष्ट्वा ह्यष्टमूर्त्ति सविस्मयः ॥ १९ ॥

भक्ति से, आदर से, हर्ष से तथा विनय से युक्त हो विस्मय के साथ शंकर ने अष्टमूर्ति शिव की स्तुति की ॥१९॥

देहदृष्टचास्मि दासोऽहं त्वदंशो जीवदृष्टितः ।
साक्षिदृष्टचा त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥ २० ॥

देह दृष्टि से मैं आपका दास हूँ। जीवदृष्टि से आपका अंश हूँ और साक्षी दृष्टि से आप ही मैं हूँ ॥२०॥

यद्भासा भाति लोकोऽयं यदनालोकसंभवः ।
तस्मै नमोस्तु कस्मैचित् परस्मै स्वात्मने सते ॥ २१ ॥

जिसके अज्ञान से समुत्पन्न जगत् उसी के भास से भासित होता है। उस वाचामगोचर सत् परमात्मा को मेरा प्रणाम हो ॥२१॥

ततः प्रसन्नो भगवानाशीर्भिस्तमयूयुजत् ।
त्वमपि व्यासवद्याहि मदनुग्रहपात्रताम् ॥ २२ ॥

प्रसन्न भगवान् शम्भु ने आशीर्वाद दिया कि व्यास के समान आप भी मेरे अनुग्रह पात्र बनें ॥२२॥

मयानुशिष्टो व्यासो हि ब्रह्मसूत्राणि निर्ममे ।
यत्र काणादसांख्यादीन्युद्धृतान्यमतानि मे ॥ २३ ॥

मेरे अनुशासनानुसार व्यास ने ब्रह्मसूत्रों को बनाया, जहाँ वैशेषिक सांख्यादि मतों का, जो मेरे इष्ट नहीं है, निराकरण किया ॥२३॥

तत्र व्याख्या विशिथिला कैश्चिद्विरचिता मृषा ।
दूष्यतामुपयाताश्च बौद्धादेस्ता न संशयः ।। २४ ।।

कुछ लोगों ने उस पर (ब्रह्मसूत्रों पर) अत्यन्त शिथिल व्याख्या लिखी जो बौद्धादि से खण्डित भी हुई ।।२४।।

ज्ञातश्च त्यन्तराद्धान्तस्तन्मतान्यमतानि मे ।
आपिष्य भाष्यं रचय श्रुतियुक्तिसमाश्रितम् ।। २५ ।।

वेदान्त सिद्धान्त को आप भली भाँति अवगत कर चुके हैं। मेरे अनभीष्ट उन मतों का निरास कर श्रुति और युक्ति पर अवलम्बित भाष्य बनाओ ।।२५।।

धर्मं संस्थाप्य परमं तत्त्वज्ञानं वितीर्य च ।
दुष्कृतश्च बहिष्कृत्य कृतार्थो मामुपैष्यसि ।। २६ ।।

सनातनधर्म की स्थापना कर, तत्त्वज्ञान का वितरण कर एवं दुष्टों को भारत से बाहर निकाल कर आप कृतार्थ हो अन्त में मेरे पास आयेंगे ।।२६।।

इत्युक्त्वान्तर्दधे शम्भुस्तत्पदाम्भोजमादरात् ।
ध्यायन्नचिन्तयद्भाष्यकृतये शंकरः कृती ।। २७ ।।

इतना कहकर भगवान् शम्भु अन्तर्धान हो गये। कृतार्थ हुए शंकर भी विश्वनाथ चरण कमल चिन्तन करते हुए भाष्यरचनार्थ विचार करने लगे ।।२७।।

अथ प्रतस्थे भगवानपरेद्युरुषःश्रियि ।
बदरीं दुर्गमार्गान्तां गुहास्रोतोमनोरमाम् ।। २८ ।।

दूसरे दिन प्रातःकाल भगवान् शङ्कराचार्य बद्रिकाश्रम के लिये प्रस्थान करते हैं जो गुफाओं और जलस्रोतों से मनोरम है, दुर्गम मार्ग पार करने पर प्राप्त होता है ।।२८।।

तत्र गत्वा सशिष्यः स सुधीर्द्वादशहायनः ।
निर्ममे प्रयतो भाष्यं महर्षिगणपूजितः ।। २९ ।।

बारह वर्ष ऊमर में आचार्य बदरीनाथ पहुंचे थे। वहां के महर्षियों ने उनका पूजन किया। वहीं उन्होंने अपनी भाष्यरचना की ।।२९।।

विशदं ब्रह्मसूत्रेषु दशसूपनिषत्स्वपि ।
गीतासु चाकरोद् भाष्यं श्रुतियुक्तिसमुज्ज्वलम् ॥ ३० ॥

ब्रह्मसूत्र पर, दस उपनिषदों पर एवं गीता पर श्रुति एवं युक्तियों से समुज्ज्वल भाष्य की रचना उन्होंने की ॥३०॥

स श्वेताश्वतरं चापि व्याकरोत्परमार्थवित् ।
सनत्सुजातीयमपि नृसिंहस्यापि तापिनीम् ॥ ३१ ॥

श्वेताश्वतर, सनत्सुजातीय तथा नृसिंह पूर्वतापिनी की भी व्याख्या उन्होंने की ॥३१॥

तथोपदेशसाहस्रीमुखप्रकरणान्यपि ।
मुमुक्षुहितकारीणि रचयामास देशिकः ॥ ३२ ॥

मुमुक्षुओं के हितार्थ उपदेशसाहस्री आदि अनेक प्रकरण ग्रन्थों की भी उन्होंने रचना की ॥३२॥

तस्मिन् शांकरभाष्यार्के लोकेऽस्मिन्नुदयं गते ।
भाष्यान्तरतमोज्योतिरिङ्गणानि निलिल्यिरे ॥ ३३ ॥

शाङ्करभाष्य सूर्य के उदय होने पर अन्य सभी भाष्य तम के समान या जुगुनू के समान निलीन हो गये ॥३३॥

[1]शिष्यांश्चाध्यापयामास शमादिगुणसंयुतान् ।
त्रिवारं पाठयामास भक्तवर्यं सनन्दनम् ॥ ३४ ॥

शमादिगुणयुक्त शिष्यों को उन्होंने भाष्य पढ़ाया। परन्तु सनन्दन को तीन बार पढ़ाया ॥३४॥

---

१. युष्मदस्मत्प्रत्ययार्थ-भिन्न दृश्यदृशोरयम् ।
अनाद्यविद्ययाऽभेद्यः स्यादध्यासः परस्परम् ॥१॥
परत्र पूर्वदृष्टाव-भासोऽध्यासो निगद्यते ।
शुक्तिकायां रजतवत् सुधांशौ सद्वितीयवत् ॥२॥
आत्मा सामान्यतो लोकै-रहमित्येव गम्यते ।
स्वयंप्रकाशताहेतो-रप्ययं संप्रकाशते ॥३॥
अप्रत्यक्षेऽपि गगने बालास्तलमलादिकान् ।
अध्यस्यन्ति ततोऽध्यासः प्रत्यगात्मनि युज्यते ॥४॥

ईर्ष्यावन्तस्ततः केचिदूचुरित्थं परस्परम् ।
कथं नाम स भक्तानामग्रगण्यः सनन्दनः ॥ ३५ ॥

इससे कुछ लोगों के मन में ईर्ष्या हुई । वे बोलने लगे यह सनन्दन काहे का महाभक्त है ॥३५॥

अन्येद्युः सुरनद्यास्तं पारस्थं देशिकः स्वयम् ।
आह्वयामास सव्यग्रः पश्यत्स्वेषु सनन्दनम् ॥ ३६ ॥

एक दिन अलकनन्दा गंगा के उस पार खड़े सनन्दन को आचार्य ने दूसरों के देखते व्यग्रता के साथ बुलाया ॥३६॥

धावमानोऽग्रतः सोऽपि मध्ये नैवैक्षतापगाम् ।
सा तं रिरक्षिषुः पद्मान्युदञ्चति पदे पदे ॥ ३७ ॥

आवाज सुनते ही सनन्दन दौड़ पड़े । मार्ग के मध्य में गङ्गा है यह भी ध्यान न रहा । कृपालु गङ्गा देवी ने उनकी रक्षा करने के लिए जहाँ-जहाँ पाँव, रखा वहीं-वहीं कमल को ऊपर उठाया ॥३७॥

पाथोरुहनिविष्टाङ्घ्रिरनिमज्ज्य क्षणादमुम् ।
आजगाम गुरुं शान्तः प्रसन्नोऽभूच्च देशिकः ॥ ३८ ॥

कमल पर पांव पड़ता गया । अत एव डूबे विना ही आचार्य के पास पहुंच गये । इससे आचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥३८॥

अध्यासरूपया सर्वा लौकिकी वैदिकी तथा ।
प्रमाणादिव्यवहृति-र्विध्यादिश्चाप्यविद्यया ॥५॥

नान्तरेण ह्यहंकारा-ध्यासं मानादिकं भवेत् ।
साविद्यविषयाण्येव प्रत्यक्षादीन्यतो विदुः ॥६॥

पश्वादयोऽपि कुर्वन्ति व्यवहारमशेषतः ।
शास्त्रीयेऽपि न चैवासौ शुद्धात्मानमपेक्षते ॥७॥

ब्राह्मण्यादिकमध्यस्य विध्यादिः संप्रवर्त्तते ।
अन्धत्वस्थौल्यकार्श्यादि यथैवारोप्यते मृषा ॥८॥

अनर्थहेतुमध्यासमिमं निरसितुं सताम् ।
वेदान्तानामशेषाणां प्रवृत्तिर्बोधहेतवे ॥९॥

तमाश्लिष्य गुरुः प्रीतः पद्मपादाभिधां दधौ ।
त्यक्तेर्ष्यादोषकालुष्याः शशंसुस्तं तदाखिलाः ।। ३९ ।।

आचार्य ने उन्हें गले लगाकर 'पद्मपाद' नाम रखा। अन्य सभी ईर्ष्या छोड़कर उनकी प्रशंसा करने लगे ।।३९।।

ततः स निरगाच्छिष्यैः सहितो भाष्यकृत् प्रियैः ।
उत्तरामगमत्काशीं विश्वेशसमधिश्रिताम् ।। ४० ।।

बदरीनाथ से आचार्य अपने प्रिय शिष्यों के साथ निकले और उत्तर-काशी आये। जहाँ भगवान् विश्वनाथ विराजमान हैं ।।४०।।

भाष्यं तद्वीक्ष्य काशीस्था परस्परमिदं जगुः ।
अमानुषः प्रभावोऽस्य दुर्मतानि निरस्यतः ।। ४१ ।।

काशीवासियों ने उस भाष्य को देखकर परस्पर यही कहना शुरू किया कि दुर्मतनिरास कर इन्होंने अपना मानुषोत्तर प्रभाव दिखाया ।।४१।।

कार्यं च कारणं योगं विधिं दुःखान्तमेव च ।
मतं पाशुपतं धृत्वा केचित्प्रत्यवतस्थिरे ।। ४२ ।।

काशी में पाशुपतमतावलम्बियों का बड़ा बोलबाला था। कार्य, कारण योग, विधि और दुःखान्त ये उन के पाँच पदार्थ हैं। उनको लेकर कुछ पाशुपत आचार्य के पास शास्त्रार्थ करने आ गये ।।४२।।

अस्वतन्त्रं भवेत् कार्यं जडजीवौ तथाविधौ ।
कारणं परमेशानः सृष्टिस्थित्यादिशक्तिभृत् ।। ४३ ।।
जीवेश्वरीयसंयोगो योगो भक्त्यादिको विधिः ।
अज्ञानाऽधर्मसक्तिच्युत्पशुत्वान्तोऽन्तिमो मतः ।। ४४ ।।

उक्त पाँच पदार्थों का विवरण इस प्रकार है कि कार्य जड और जीव हैं जो अस्वतन्त्र हैं। कारण पशुपति हैं। सृष्टि स्थिति आदि वे करते हैं। जीव और ईश्वर का संयोग (मानस-संयोग) ही योग है। भक्ति उपासना आदि विधि है। दुःखान्त पशुत्वनिवृत्ति को ही कहते हैं। जब अज्ञान, अधर्म और आसक्ति इन तीनों की निवृत्ति होती है ।।४३-४४।।

महेशधर्मप्राप्तिश्च शिवाद्वैते लयस्तथा ।
मोक्षप्राप्तिर्यतः पाशपशुभावविनिर्हृतिः ।। ४५ ।।

उसी को मोक्षप्राप्ति कहते हैं। उस समय महेश्वरधर्मों की प्राप्ति होती है। शिवाद्वैत में जीव का लय होता है। पाशरूपी पशुत्व कट जाता है ॥४५॥

न तद्युक्तं न धर्माणां संक्रमो भवति क्वचित् ।
नोत्पद्यतेऽसतः क्वापि सद्भावो नेष्यते यतः ॥ ४६ ॥

आचार्य ने उस पाशुपत मतवालों को जवाब दिया कि कार्य कारणादि के विषय में कोई खास बात नहीं। मोक्ष के बारे में जो कहते हो कि महेश्वर धर्म की प्राप्ति आदि, वह अयुक्त है। क्योंकि महेश्वर के धर्म जीवों में संक्रान्त नहीं हो सकते। एक का धर्म वहाँ से खसक कर दूसरे में जाय ऐसा कहीं नहीं होता। तब परमेश्वर सामर्थ्यादि रहित हो जायेंगे। यदि कहो कि जीव में पारमेश्वरधर्म उत्पन्न हो जाते हैं तो सो भी युक्त नहीं, कारण, जीव में वे धर्म पहले असत् थे बाद में सत् हो गये तो "नासतो विद्यते भावः" इससे विरोध होगा ॥४६॥

लयोऽयं यदि ते नाशः पुरुषार्थविहीनता ।
आच्छन्नसंस्थितिश्चेत् स तदाप्यपुरुषार्थता ॥ ४७ ॥

शिवाद्वैत में लय होने का क्या अर्थ है? प्रकाश में तम का लय होना जैसे नाश होना यदि अर्थ है तो अपना नाश कौन चाहेगा ?। जल में नमक के समान छिपकर रहना लय का अर्थ है तो वह भी युक्त नहीं। हमेशा के लिये चोर के समान कौन छिपकर रहना चाहेगा ॥४७॥

कृतहानाकृतोत्थानाच्चार्वाकीयमसन्मतम् ।
नाशान्मध्यममानस्य न जैनमतयुक्तता ॥ ४८ ॥

इधर उधर लुके छुपे चार्वाकादि भी काशी में थे। उनका भी संक्षेप से आचार्य ने निरास किया। शरीर ही आत्मा है इस चार्वाक मतमें जो हम पुण्य पाप कर रहे है उसका कोई परिणाम आगे नहीं होगा। यह कृतहान, और इस जन्म में क्यों बिना करण सुख-दुःख हो रहे हैं, यह अकृतागम ऐसे दो दोष आते हैं ॥

शरीर से भिन्न शरीर जितना आत्मा है यह जैन मत भी युक्त नहीं। क्योंकि शरीर के घटने बढ़ने पर आत्मा को भी घटने बढ़नेवाला मानना पड़ेगा। नहीं तो बालशरीरकात्मा युवा शरीर में अपर्याप्त होगा। और युव-शरीरात्मा मोटा होने से शिथिलवृद्धशरीर से बाहर लटकता रहेगा। जो जो घटता बढ़ता है वह एक दिन नष्ट भी होगा। तब वही दोष जो चार्वाक मत में बताया, उपस्थित होगा ॥४८॥

शून्याज्जगदनुत्पत्तेर्न शून्यमतसङ्गतिः ।
क्षणिकज्ञानवादश्च स्मृत्ययोगान्न युज्यते ॥ ४९ ॥

शून्य से जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः शून्यवाद असंगत है । क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धों का भी मत इसलिये असंगत है कि क्षण-क्षण में आत्मा बदलता है तो पूर्वानुभूत का स्मरण नहीं होगा । कारण अनुभव करने वाला उसी क्षण नष्ट हो गया स्मरण करने वाला आत्मा अन्य ही है ॥४९॥

बुद्ध्यादेः परिणामत्वे परिणाम्यस्थिरो भवेत् ।
एतेन कर्त्तृभोक्तृत्ववादिनश्च पराकृताः ॥ ५० ॥

बुद्धि सुख दुःखादि आत्मा में आत्मा के परिणाम के रूप में होते हैं— यह वैशेषिकादि मत भी सम्यक् नहीं हैं । क्योंकि परिणाम होने पर परिणाम वाला स्थिर नहीं हो सकता । अर्थात् परिणाम अन्दर से ही वाहर आता है; जैसे शरीर में फोड़ा विकार है वह अन्दर से ही वाहर आता है ; सुख दुःखादि भी अन्दर से बाहर आकर नष्ट हो जाय तो आत्मा धीरे धीरे क्षीण होकर नष्ट हो जाएगा । इस विवेचना से नैयायिकों का कर्त्तृत्ववाद सांख्यों का भोक्तृत्ववाद एवं अन्यान्य सभी विकारवाद परास्त हो जाते हैं ॥५०॥

तस्मात् सदेकमद्वैतं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
ब्रह्मैवात्मा स्वरूपावस्थितिर्मोक्ष इति स्थितम् ॥ ५१ ॥

इसलिये निर्विकार निरञ्जन सत् (शून्य नहीं) एक अद्वैत ब्रह्म ही तत्त्व है । वही आत्मा है । अपने स्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है । यही निश्चित सिद्धान्त है ॥५१॥

आसेतोर्हिमशिखरान्तमा च पूर्वा-
कूपारात् परतरपश्चिमाब्धिपारम् ।
आतन्वत् करनिकुरम्बमन्तरात्म-
ध्वान्तानि न्यकुरुत भाष्यभास्वतीयम् ॥ ५२ ॥

सेतुबन्ध से हिमाचल पर्यन्त तथा पूर्वसमुद्र से पश्चिमसमुद्रपारपर्यन्त फैलती हुई शांकरभाष्यसूर्यकिरणों ने अन्तरात्मविषयक अज्ञानतिमिर को विलुप्त कर दिया ॥५२॥

शङ्कराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
षष्ठोऽगात्पूर्णतां सर्गो भाष्यनिर्माणसंयुतः ॥ ६ ॥



अथ सप्तमः सर्गः

शिष्यानध्यापयञ्जातु शिष्याणां शममावहन् ।
यावच्च व्यरमत् कश्चिदाजगाम द्विजोत्तमः ।। १ ।।

प्रशान्त भाव उद्भावित करते हुए शिष्यों को आचार्य पढ़ाते रहे । एक बार अध्यापन कार्य पूरा किया जा चुका था । उतने में एक ब्राह्मण पहुँच गया ॥१॥

विप्रेण वृद्धरूपेण किमध्यापयसीति च ।
चोदिते जगदुः शिष्याः सूत्रभाष्यं स्वनिर्मितम् ।। २ ।।

वृद्ध स्वरूप उस विप्र ने पूछा कि क्या पढ़ा रहे हो तो शिष्यों ने उत्तर दिया कि आप स्वनिर्मितसूत्रभाष्य पढ़ा रहे हैं ॥२॥

भाष्यकारं वदन्त्येते भवन्तमिदमद्भुतम् ।
ज्ञातार्थश्चेदर्थतस्त्वं सूत्रमेकमुदाहर ।। ३ ।।

ब्राह्मण ने कहा कि बड़ा आश्चर्य है कि ये सब आपको भाष्यकार कह रहे हैं । यदि आप सूत्रार्थ जानते हैं तो एक सूत्र अर्थ के साथ सुनाओ ॥३॥

नमः सूत्रार्थविद्भ्योऽस्तु न ममात्रास्त्यहंकृतिः ।
तथापि चेत्पृच्छति तदर्थतः कथयाम्यहम ।। ४ ।।

आचार्य ने कहा :—सूत्रार्थवेत्ताओं को मेरा प्रणाम है । मुझे इस विषय में कोई अहंकार नहीं है । फिर भी यदि आप पूछते हैं तो जो पूछेंगे उसको अर्थ से कहूंगा ॥४॥

तदन्तरेत्यादिसूत्रं तर्हि व्याख्याहि वेत्सि चेत् ।
इति विप्रोदितः प्राह भाष्यकारस्तदर्थतः ।। ५ ।।

ब्राह्मणः—यदि जानते हो तो 'तदन्तर०' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करो ['तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' यह पूरा सूत्र है । सूत्रार्थः—देहान्तरप्राप्ति के समय अर्थात् चन्द्रलोकादि में जाते समय सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होकर यह जीव गमन करता है । छान्दोग्यादि में प्रश्नोत्तर के रूप में यह बात स्पष्ट होती है] ब्राह्मग ने जब इस प्रकार प्रश्न किया तब आचार्य बोलने लगे ॥५॥

प्रेतः संवेष्टितो याति भूतसूक्ष्मैः परां तनूम् ।
जैवलिश्वेतकेत्वोस्तत् प्रश्नोत्तरविनिश्चितम् ॥ ६ ॥

मृतात्मा भूतसूक्ष्मों से वेष्ठित होकर शरीरान्तर प्राप्त करता है। जैवलि और श्वेतकेतु के संवाद से यह निश्चित होता है ॥६॥

स्थूलाभिर्वेष्टितो नाद्भिः प्रत्यक्षप्रातिकूल्यतः ।
न वासौ याति सूक्ष्माभिरप्रयोजनतावशात् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणः—स्थूल जलादि से वेष्टित होकर जीव नहीं जाता। क्योंकि प्रत्यक्ष इसमें प्रतिकूल है। स्थूल जल तो जाते हुए दिखाई पड़ता। सूक्ष्मजल से वेष्टित होकर जाता है यह भी युक्त नहीं, कारण सूक्ष्मजल वेष्टन निष्प्रयोजन है ॥७॥

श्रद्धैवाब्रूपिणी यातुः शान्तिस्तेन हि लक्ष्यते ।
आहुरब्बहुलामग्नावाहुतिं श्रद्धयान्विताम् ॥ ८ ॥

आचार्यः—श्रद्धा ही वास्तव में जलरूप है। क्यों कि जल शान्ति का प्रतीक है और श्रद्धा से शान्ति होती है। कर्मस्थल में आहुति जलवहुल होती है और श्रद्धा से दी जाती है। (वहां आहुति और श्रद्धा मिलकर विस्तृत जल होता है) ॥८॥

अकर्त्तुरपि च श्रद्धावशादाहुतिसङ्गमात् ।
चन्द्रलोकगतिः कस्मान्नोररीक्रियते तदा ॥ ९ ॥

जो यजमान नहीं है, केवल द्रष्टा है, उसके साथ भी तो आहुतिजल श्रद्धा से चिपक सकता है। तो वह भी चन्द्रलोक क्यों नहीं जाता ? ॥९॥

कृत्येकाधिकृता श्रद्धा ह्याहुतेः सूक्ष्मरूपभाक् ।
कृत्यभावान्नाहुतिभिरुदासीनस्य सङ्गमः ॥ १० ॥

कृतिसमानाधिकरण श्रद्धा ही आहुति के सूक्ष्म भाग को ग्रहण करती है। तटस्थ व्यक्ति में कृति नहीं, अतः आहुतिसङ्गम भी नहीं होता ॥१०॥

ऋत्विजां कृतिसत्त्वेन चन्द्रलोकः कथं न ते ।

विप्रः—ऋत्विगों में श्रद्धा भी है क्रिया भी है उन को चन्द्रलोक क्यों नहीं मिलता ?।

मदीयमिति संकल्पविरहाद्दर्त्विजां हि सः ॥ ११ ॥
यत्रादसीयसंकल्पः कृतिः श्रद्धेति च त्रयम् ।
आहुत्यद्भिर्भवेत्तत्र प्रयन् संवेष्टितः पुमान् ॥ १२ ॥

ऋत्विगों में यह मेरा है ऐसा सङ्कल्प नहीं होता । फलसंकल्प, क्रिया और श्रद्धा ये तीन आवश्यक हैं ॥११-१२॥

दीयन्ते श्रद्धया ह्यापः पितृभ्यस्तत्सुतादिभिः ।
फलसंकल्पविषयः फलभाक्तत्र दृश्यते ॥ १३ ॥

श्रद्धा से पितरों को तर्पण किया जाता है और संकल्प का जो विषय है उस को फल मिलता है ॥१३॥

ऋत्विजां फलसंकल्पविषयस्तत्परिक्रयात् ।
यजमानस्तत्फलेन युज्यते दक्षिणादितः ॥ १४ ॥

ऋत्विग् लोग यजमान को फल मिले ऐसा संकल्प करते हैं और यजमान भी दक्षिणा आदि से ऋत्विगों का परिक्रयण किए होते हैं ॥१४॥

वेष्टितोऽवेष्टितो वायं गच्छेत्किं तेन ते भवेत् ।
श्रुत्या फलं निगदितमलं तद्वेष्टनादिभिः ॥ १५ ॥

विप्रः—वेष्टित हो या अवेष्टित इससे मतलब क्या ? श्रुतियों में कर्मफल बताया है और वह मिलेगा ही ॥१५॥

नैवं श्रद्धादिराहित्ये नैव सम्पद्यते फलम् ।
भोगदेहोद्भवाभावाच्छ्रद्धा कार्याऽत ईर्यते ॥ १६ ॥

आचार्यः—श्रद्धा न हो तो फल ही नहीं हो सकता, यह भी श्रुति सिद्धान्त है । उसमें रहस्य यह है कि सूक्ष्मजलात्मक श्रद्धा न होने से भोग-शरीर ही तैयार नहीं हो पाता ॥१६॥

कथं कल्पेत भोगाय सूक्ष्माम्बुजनिता तनूः ।
स्थूलं चेज्जायतेऽन्यत्र कृतं तद्वेष्टनादिना ॥ १७ ॥

विप्रः—सूक्ष्मजलोत्पन्न शरीर भोग प्रदान समर्थ नहीं हो सकता । यदि लोकान्तरादि में स्थूलशरीर उत्पन्न होता है तब वेष्टन वृथा होगा ॥१७॥

बीजेन जायते वृक्षः सूक्ष्मेणेतरयोगतः ।
बीजशक्तिर्हि कर्माऽत्र जलं तच्छक्तिधृङ्मतम् ॥ १८ ॥

आचार्यः—मिट्टी जल कितना भी पड़ा हो किन्तु बीज न होने पर वृक्ष तैयार नहीं होता । बीज हो तो इतर संयोग से (मिट्टीजलादिसंयोग से) वृक्ष तैयार होता है। वैसे लोकान्तर में इतरवस्तु होने पर भी वीज के विना देह नहीं हो सकता। वीज में भी दो अंश है। एक वीजशक्ति दूसरा शक्ति-धारक। कर्म वीजशक्ति है। वेष्टकजल बीजस्थानीय है ॥१८॥

अन्तःकरणमस्त्येव सूक्ष्मभूतसमुद्भवम् ।
प्रयन् तद्वेष्टितो यातु किमद्भिः स्यात्प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

विप्रः—भूतसूक्ष्म से उत्पन्न अन्तःकरण से वेष्टित होकर जीव लोकान्तरादि गमन कर सकता है। जलवेष्टित होने का क्या प्रयोजन है ॥१९॥

आब्रह्मलोकादाकोटमन्तःकरणमिष्यते ।
न तस्य बीजभावत्वमेककार्यप्रसक्तितः ॥ २० ॥

आचार्यः—ब्रह्मा से लेकर कीटतक सवका अन्तःकरण होता है। उसी को बीज मानेंगे तो भिन्न-भिन्न शरीर नहीं वनेंगे। वीज एक होने पर कार्य भी एक होगा ॥२०॥

अत्रिवृत्करणाच्चान्तःकरणान्न गतार्थता ।
आपस्त्रिवृत्कृता एव कर्त्तारं वेष्टयन्ति ताः ॥ २१ ॥

दूसरी वात अन्तःकरण त्रिवृत्कृत (पञ्चीकृत) नहीं है। और वह अन्त्यकार्य है। उसका विकार द्रव्यान्तर नहीं हो सकता। जल जो हम कहते हैं वह सूक्ष्म होने पर भी त्रिवृत्कृत है। अतः उससे शरीरादि निष्पत्ति हो सकती है ॥२१॥

नास्तिकः श्रद्धया हीनस्तन्वन् सुकृतदुष्कृते ।
श्रद्धाविरहितत्वेन न देहान्तरमाप्नुयात् ॥ २२ ॥

विप्रः—नास्तिक श्रद्धा विना ही पुण्य पाप करता है। अतः उसको शरीरान्तर नहीं मिलना चाहिये ॥२२॥

श्रद्धासामान्यशून्यो हि न कश्चिद्विद्यते पुमान् ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ २३ ॥

आचार्यः—श्रद्धा से सर्वथा रहित कोई भी मनुष्य नहीं होता। कर्म करते समय उसमें उसकी आस्था रहती है। यह पुरुष श्रद्धाप्रचुर है। जिस की जैसी श्रद्धा वैसा ही वह होता है ॥२३॥

इत्थं विवदतोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।
अष्टाहानि व्यतीतानि नैवान्यतरनिग्रहः ॥ २४ ॥

इस प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह करते हुए आठ दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा, परन्तु किसी का भी निग्रह नहीं हुआ ॥२४॥

तावम्लानद्युती दृष्ट्वा हिमनीलाचलोपमौ ।
पद्मपादोऽग्रहीत्तत्त्वं स जगौ विमलाशयः ॥ २५ ॥

हिमाचल और नीलाचल के समान शोभायुक्त अम्लान तेजः सम्पन्न उन दोनों को देखकर पद्मपाद पहचान गये। निर्मलचित्त पद्मपाद बोलने लगे ॥२५॥

शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्मृतः ।
तयोर्विवादे संवृत्ते किंकरः किंकरिष्यति ॥ २६ ॥

शंकर तो साक्षात् भगवान् शम्भु हैं। और व्यास साक्षात् नारायण हैं। उनका जहाँ विवाद उत्पन्न होता है वहाँ मेरे जैसा किंकर क्या कर सकेगा ॥२६॥

तदा प्रसन्नवदनः समभूद् द्विजपुङ्गवः ।
देशिकश्च प्रसन्नात्मा व्यासं तुष्टाव सुष्टुतः ॥ २७ ॥

उस समय वे द्विजपुंगव प्रसन्नमुख दिखाई देने लगे। आचार्य ने भी व्यास की स्तुति की जब कि सभी आचार्य की प्रशंसा कर रहे थे ॥२७॥

समास्थाय निजं रूपं व्यासः प्रत्यक्षतः स्थितः ।
प्रत्युज्जगाम तं भक्त्या देशिकः शिष्यसंयुतः ॥ २८ ॥

व्यास जी अपना स्वरूप धारणकर प्रत्यक्ष खड़े हो गये। शिष्यों के सहित आचार्य ने उनका अभिवादन किया ॥२८॥

स्वागतं भगवंस्तुभ्यं जगदुद्धारतत्पर ।
व्यस्य वेदान् पुराणानि कृत्वा सूत्राणि योऽकरोत् ॥ २९ ॥

हे भगवन्! आपका मैं स्वागत करता हूँ। आप जगत के उद्धार में तत्पर रहते हैं। अतएव आप ने वेदों का विभाजन किया। पुराणों को बनाया। और सूत्र निर्माण किया ॥२८॥

अकार्षं साहसं तत्र सूत्राणां भाष्यतायने ।
तत्र सूक्तिदुरुक्त्यादीन् समीकर्त्तुं समर्हसि ॥ ३० ॥

उनमें सूत्रों पर भाष्य बनाने का मैंने साहस किया। जो भी भाष्य में सूक्ति और दुरुक्ति होगी उसका समीकरण अवश्य आप कर देंगे ॥३०॥

इत्युक्त्वोपरतस्यास्य भाष्यमादाय हस्ततः ।
प्रसादगुणगम्भीरं निरैक्षत महामुनिः ॥ ३१ ॥

इतना कहकर आचार्य विरत हुए तो उनके हाथ से प्रसन्न गम्भीर भाष्य लेकर महामुनि वेदव्यास ने आद्योपान्त निरीक्षण किया ॥३१॥

सूत्रार्थवर्णनपरं स्वपदैर्हतदुर्मतम् ।
सिद्धान्तयुक्तिकलितं भाष्यं वीक्ष्य स्म तुष्यति ॥ ३२ ॥

भाष्य में व्यास जी ने देखा कि सूत्रों का बड़े सुन्दर ढङ्ग से अर्थ वर्णन किया गया है। स्वतंत्र ढङ्ग से परमत निराकरण किया है। सैद्धान्तिक युक्तियों की तो भरमार है। देखकर व्यास जी बड़े प्रसन्न हुए ॥३२॥

सूत्रभाष्यविनिर्माणे साहसं नात्र किंचन ।
यत्तु सूक्तिदुरुक्तीति मन्ये तत्साहसोदितम् ॥ ३३ ॥

व्यास जी बोले कि सूत्रभाष्य के निर्माण में कोई साहस की बात नहीं है। हाँ जो आपने सूक्ति दुरुक्ति की बात कही वह निश्चित ही साहस है ॥३३॥

कथं गोविन्दशिष्यस्य दुरुक्तं सम्भवेत् क्वचित् ।
पदवाक्यप्रामाणानां पारावारीणतां यतः ॥ ३४ ॥

भला पद-वाक्य प्रमाण (व्याकरण मीमांसा न्याय) पारावारीण गोविन्द शिष्य का भी कहीं दुरुक्त सम्भव है ? ॥३४॥

व्याख्या बहुतरा जाता जनिष्यन्ते तथेतराः ।
न ता मदीयहृदयं स्प्रष्टुमर्हाः कदाचन ॥ ३५ ॥

व्याख्यायें बहुत हो गईं और होती रहेंगी। पर वे सब मेरे हृदय भाव का स्पर्श नहीं कर सकती ॥३५॥

व्याख्याहीतः परं सर्वं सम्यगाम्नायमस्तकम् ।
जगद्धिताय भद्रं ते गमिष्यामोऽधुना वयम् ॥ ३६ ॥

अब इसके बाद सभी उपनिषदों पर भी व्याख्या लिखो, जिससे जगत् का कल्याण हो। आपका कल्याण हो। अब मैं बिदा लेता हूँ ॥३६॥

भगवन् विहितं सर्वं ग्रन्थैः प्रकरणैरपि ।
मुहूर्त्तमात्रमत्रैव स्थातुमभ्यर्थयाम्यहम् ॥ ३७ ॥

भगवन्! उपनिषद् व्याख्यान भी कर लिया गया है। जगदुपकारार्थ अन्य प्रकरण ग्रन्थों का भी निर्माण हो गया है। बस एक प्रार्थना आपसे यह है कि एक मुहूर्त्त के लिए आप यहीं ठहर जाय ॥३७॥

पूर्णमायुर्गतं मेऽद्य शुभेयं मणिकर्णिका ।
त्वत्सांनिध्यं वहन्नेव वपुरेतत्त्यजाम्यहम् ॥ ३८ ॥

आज मेरी आयु पूर्ण हो रही है। यह मणिकर्णिका भी अत्यन्त शुभ स्थान है। आपके सांनिध्य में ही मैं अपना यह शरीर त्याग दूँ ऐसी मेरी इच्छा है (द्रष्टव्यः—यद्यपि माधवीय शंकर दिग्विजय में बदरीनाथ से आचर्य काशी गए ऐसा लिखा है। और मणिकर्णिका काशी में अत्यन्त प्रसिद्ध भी है। तथापि काशी से प्रयाग की ओर जाते समय दक्षिण की ओर बताया है। प्रसिद्ध काशी से प्रयागराज दक्षिण नहीं किन्तु पश्चिम है। अतएव माधवाचार्य को काशीपद से उत्तरकाशी ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। उत्तरकाशी में भी मणिकर्णिका है)।

इत्याकर्ण्य जगौ व्यासो जगत्कल्याणकारणात् ।
मैवं कार्षीन्महत्कार्यं शिष्टं विद्याप्रचारणम् ॥ ३९ ॥

यह सुनकर व्यास जी बोले कि ऐसा मत करो। आपका बहुत बड़ा कार्य विद्या प्रचार अभी अवशिष्ट है ॥३९॥

अष्टायुर्विधिना नीतो ददुरष्टौ महर्षयः ।
ददाम्यहं षोडश ते मुमुक्षूणां हितार्थतः ॥ ४० ॥

विधाता ने आठ वर्ष आयु आपको दी। महर्षियों ने आठ और बढ़ा दिया। मैं मुमुक्षुहितार्थ आपको सोलह वर्ष और देता हूँ ॥४०॥

तिष्ठत्वदूषितं शुभ्रं भाष्यमाचन्द्रतारकम् ।
इत्युक्त्वान्तरधात्कृष्णो देशिकस्पृष्टपाद्भिभुः ॥ ४१ ॥

यह दूषण रहित विमल भाष्य यावच्चन्द्रदिवाकर प्रकाशित रहे। इतना कह कर व्यास जी अन्तर्धान हो गये ॥४१॥

अथ कारयितुं भाष्ये वार्त्तिकं भाष्यकृद् गुरुः ।
कुमारिलेन भट्टेन प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ।। ४२ ।।

इसके बाद भाष्यकार भाष्य पर कुमारिल भट्ट के द्वारा विस्तृत वार्त्तिक कराने के लिए दक्षिण की ओर रवाना हो गये ।।४२।।

सितासिते यत्र देशे संगते सरिते शुभे ।
यत्राप्लुत्य दिवं यान्ति प्रयागं तमगाद् गुरुः ।। ४३ ।।

जहाँ गौर तथा श्याम दो शुभ सरिताएँ मिलती हैं, जहाँ स्नान कर लोग स्वर्ग प्राप्त करते हैं उस पुण्यभुमि प्रयाग में आचार्य पहुँचे ।।४३।।

तत्र सस्नौ त्रिवेण्यां स सशिष्यस्तां समस्तवीत् ।
अस्मरच्च निजां स्निग्धां जननीं शोकमर्षिणीम् ।। ४४ ।।

शिष्यों के साथ आचार्य ने त्रिवेणी में स्नान किया । त्रिवेणी की स्तुति की । शोक को सहन करते हुए जीवन व्यतीत करनेवाली स्नेहयुक्त अपनी माता का आचार्य ने त्रिवेणी में स्मरण किया ।।४४।।

स्नात्वा विश्राममकरोत्तीरे तरुतले सुधीः ।
लोकवार्त्तां तदाऽश्रौषीत्स्नानागतजनेरिताम् ।। ४५ ।।

आचार्य ने स्नानोत्तर तीरस्थ तरुतल में कुछ देर विश्राम किया । उस समय स्नान के लिए आये हुए लोगों से यह लोकवार्त्ता सुनने में आई ।।४५।।

अहो गिरेरवप्लुत्य प्रामाण्यं साधयन् श्रुतेः ।
परिहर्त्तुं गुरुद्रोहं प्रविवेश तुषानलम् ।। ४६ ।।

अहो ! कैसे महान् पुरुष ! पर्वत से छलांग मार कर जिन्होंने श्रुति प्रामाण्य सिद्ध किया वे गुरुद्रोह के प्रायश्चित्तार्थ तुषानल (भूसे की अग्नि) में प्रविष्ट हो गये ।।४६।।

बहुभिर्वासरैरग्निः शनैरेनमजज्वलत् ।
स धीरहृदयो नैव गणयामास वेदनाम् ।। ४७ ।।

बहुत दिनों से उन्हें अग्नि धीरे धीरे जला रही है। वे महाधीर हैं, जो जलनवेदना की गणना नहीं कर रहे हैं ।।४७।।

तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्राप देशिकोऽनलसंस्थितम् ।
प्रभाकरप्रभृतिभिः परीतं साश्रुलोचनैः ।। ४८ ।।

यह सुन कर यथाशीघ्र ही आचार्य अग्निस्थित कुमारिल भट्ट के पास पहुँचे। अश्रु नयन प्रभाकरादि शिष्य चारों ओर बैठे थे ॥४८॥

तुषाग्निदग्धसर्वाङ्गोऽवशिष्टमुखपङ्कजः ।
आयान्तं दूरतो दिव्यदेहमैक्षिष्ट शंकरम् ॥ ४९ ॥

तुषानल से कुमारिल भट्ट का सारा शरीर दग्ध हो गया था। केवल मुख कमल ही अवशिष्ट था। उन्होंने दूर से ही आते हुए दिव्य देहधारी शंकर को देखा ॥४९॥

श्रुतपूर्वं दिव्यकान्तिमन्तिके समुपागतम् ।
विलोक्य मुदितः शिष्यैर्जगत्पूज्यमपूजयत् ॥ ५० ॥

आचार्य के विषय में कुमारिल ने पहले भी बात सुन रखी थी। दिव्य-कान्ति सम्पन्न आचार्य जब पास में आए तो उनको देखकर कुमारिल बड़े हर्षित हुए और अपने शिष्यों से उनकी पूजा करवाई ॥५०॥

कथं निजाङ्गं दहसि वेदधर्मावनक्षमम् ।
विहितं वार्त्तिकं पूर्वे तन्त्रे कर्त्तव्यमुत्तरे ॥ ५१ ॥

आचार्य ने कहा—वेदधर्म रक्षा करने में समर्थ अपने ही शरीर को आप कैसे जला रहें हैं। पूर्वतन्त्र में आपने वार्त्तिक वनाया। उत्तर तन्त्र (वेदान्त) में बनाना बाकी है ॥५१॥

इत्याचार्यवचः श्रुत्वा भट्टो हृष्टतनूरुहः ।
अब्रवीद्देशिकं प्रीत्या तद्दर्शनविनिर्वृतः ॥ ५२ ॥

आचार्य वचन सुनकर भट्ट उनके दर्शन से ही आराम का अनुभव करते हुए प्रसन्नता के साथ बोले ॥५२॥

प्रख्यातं भुवि सर्वत्र भाष्यं दिव्यं भवत्कृतम् ।
द्रष्टुमिच्छाम्यहं सम्यग् दग्धाङ्गोऽपि सुधोपमम् ॥ ५३ ॥

आप का दिव्य भाष्य सर्वत्र संसार में प्रख्यात हो चुका है। मैं भी उस सुधोपम भाष्य को दग्धाङ्ग होने पर भी सम्यक् देखना चाहता हूँ ॥५२॥

न दाहो धर्मनिष्ठस्य करोत्यण्वीमपि व्यथाम् ।
इत्युक्त्वा भाष्यमादाय लुलोके च जगाद च ॥ ५४ ॥

मैं धर्म में दृढ़ हूँ, अतएव शरीर जलने की थोड़ी भी व्यथा मुझे नहीं हो रही। ऐसा कह कर हाथ में भाष्य लिया। उसे देखा और कहा ॥५४॥

अध्यासभाष्ये कर्त्तव्यमष्टसाहस्रवार्त्तिकम् ।
परं गृहीतदीक्षोऽहमित्यस्ति महती व्यथा ॥ ५५ ॥

अध्यासभाष्य में आठ हजार श्लोकवार्त्तिक वनने चाहिए। किन्तु मैंने आत्मदाहदीक्षा ले ली, इसके लिए अफसोस है (द्रष्टव्यः—कुमारिल भट्ट अध्यास भाष्यपर्यन्त ही सम्यक् देख सके ऐसा इससे अवगत होता है। और वह उचित ही है। कारण दग्धशरीर होने से अधिक देखना उनके लिए सम्भव नहीं था। अन्यथा कम से कम चतुःसूत्री पर्यन्त की वात करते) ॥५५॥

श्रुतिप्रामाण्यममलं संतिष्ठापयिषुः पुरा ।
लोकवेदादिसंसिद्धमप्यहं न्यह्नुवीश्वरम् ॥ ५६ ॥

श्रुति प्रामाण्य को स्थिर करने के लिए मैंने प्रथम लोक वेद युक्ति सिद्ध भी परमेश्र का अपलाप कर एक महान् पाप किया ॥५६॥

किं चाहं यद्गुरोः सर्वं बौद्धतन्त्रमवागमम् ।
तमेवामर्दयं तेन द्वितीयं दोषमाप्नवम् ॥ ५७ ॥

फिर मैंने जिस गुरु से पूरा बौद्धशास्त्र पढ़ा उसी गुरु को बुरी तरह से शास्त्रार्थ में हरा कर दूसरा पाप भी किया ॥५७॥

असमर्थः पुरा जेतुमविज्ञाततदाशयः ।
तदीयशरणापन्नः सिद्धान्तानध्यगीष्यहम् ॥ ५८ ॥

बौद्धों का आशय बराबर न समझ सकने से उन्हें जीतना मेरे लिए शक्य नहीं हुआ, तब मैंने उनकी शरण में जाकर उनके सिद्धान्तों का अध्ययन किया ॥५८॥

वेदान् प्रादूदुषत्सोऽपि कदाचन कुशाग्रधीः ।
तथागतस्तदाक्षिभ्यामभ्यपप्तत् किलाश्रु मे ॥ ५९ ॥

एक समय कुशाग्र वुद्धि तथागत ने वेदों का खण्डन करना शुरू किया। तब मेरी आँखों से आँसू गिर पड़ा ॥५९॥

तदन्ये वीक्ष्य मां श्रौतं प्रति शङ्कितचेतसः ।
अहिंसावादिनोऽप्युच्चैरुच्चाटयितुमाययुः ॥ ६० ॥

दूसरे शिष्यों ने जब यह देखा तो उन को मेरे प्रति यह शंका हो गयी कि यह श्रुतियों का भक्त है। ऊँचे अहिंसावादी होते हुए भी उन्होंने मेरा उच्चाटन करने का निश्चय किया ॥६०॥

अपातयन्नुच्चतरात्सौधाग्रान्मामर्षणा: ।
यदि वेदा: प्रमाणं स्युर्मां रक्षेयुस्तदाब्रवम् ॥
यदिशब्दं प्रवदतो हृदि संशयसूचकम् ।
व्यनङ्क्षीदेकचक्षुर्मे रक्षितेऽपि कलेवरे ॥
ततोऽपेत्य कथंचिच्च तन्मतं सममर्दयम् ।
निराकृता: समे बौद्धा राजसाहाय्यतो मया ॥ ६१ ॥

मैं किसी प्रकार वहाँ से बच निकला। और उनके मत का खूब मर्दन किया। फिर राजसहाय पाकर सारे बौद्धों का सफाया किया ॥६१॥

(द्रष्टव्य:—"ततोऽपेत्य" इस श्लोक से पूर्व में "अपातयत्" इत्यादि दो श्लोक माधवीयशंकरदिग्विजयानुसार लिखे गये हैं। परन्तु प्रथम सर्ग में पहाड़ पर से कुमारिल के कूदने का वृत्तान्त आता है। और वहाँ भी वेदप्रामाण्य के आधार पर वच निकलते हैं। और पहाड़ से कूदने पर आँख फूटी ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में पूर्वापर सङ्गति नहीं बैठती। कुमारिल एकाक्षि होकर राजसभा में आए ऐसी कोई सूचना भी पूर्व में प्राप्त नहीं है। अत: दो श्लोकों की संख्या यहाँ पर नहीं दी गयी। वस्तुत: आधुनिक मस्तिष्क से विचार करें तो यहाँ का प्रसङ्ग यथार्थ प्रतीत होता है। कारण एक यह कि प्रयाग या उसके आस पास में कोई ऐसा सीधा खड़ा पहाड़ है नहीं जहाँ से कूद कर जमीन पर सीधे आ सके। दूसरा हनुमान् जी के समान दूर तक छलांग मारी यह भी दिमाग में बात नहीं जँचती। और यहाँ का प्रसङ्ग तो वड़ा सुगम है। अहिंसावादी होने से वे यदि शस्त्र से मार डालते हैं तो बदनामी होना निश्चित था। अत: लोगों को यह दिखाने के लिए कि अपने आप गिर गये—सौधाग्र से धक्का देकर नीचे गिराया। आज कल भी ऐसी अनेक घटनायें होती हैं कि बच्चे ऊपर मकान से गिर पड़ते हैं फिर भी ईश्वर की कृपा से वच निकलते हैं। इस प्रकार यहीं की घटना अधिक सङ्गत होने पर भी श्रद्धालुओं के लिए पूर्व घटना भी सुज्ञेय होने से और वहाँ के पूरे प्रकरण को असङ्गत कहने की अपेक्षा यहाँ के दो श्लोकों को हटाने मात्र से सङ्गति बैठ जाने से यहाँ के दो श्लोकों को ही संख्या विना लिख दिया। यदि पाठकों को दोनों प्रसङ्ग जँचते हों तो दोनों को ग्रहण करने में भी हमें इतराज नहीं है। उभयसङ्गत्यर्थं आवश्यक पाठान्तर तथा प्रक्षेपरूपेण स्वीकरणीय अंश को प्रथम सर्ग में भी हमने दिखाया है। द्र. १-४६ और १-४९ की हिन्दी व्याख्या) ॥६१॥

एकाक्षरप्रदातारं प्रतिचक्षीत यो गुरुम् ।
नरकं यात्यसौ किं नु सर्वसिद्धान्तदायिनम् ।। ६२ ।।

एक अक्षर को भी देने वाले गुरु का प्रत्याख्यान कर मनुष्य नरक में जाता है। फिर सर्वसिद्धान्तदायी गुरु का प्रत्याख्यान करने वालों की बात ही क्या ।।६२।।

प्रागेवाद्रक्ष्यत भवान्नाचरिष्यमिदं व्रतम् ।
भवद्दृष्टया नष्टपापः किन्त्वद्यैषा वृथैव गोः ।। ६३ ।।

यदि आप पहले ही मिलते तो मैं यह व्रत धारण न करता। आप के दर्शन से नष्टपाप होता। परन्तु अब यह सब बात व्यर्थ ही है ।।६३।।

वार्त्तिकं शाबरे भाष्येऽरचयं तद्वदेव हि ।
भवद्भाष्ये विधातुं मे वाञ्छा जातापि निष्फला ।। ६४ ।।

शावरभाष्य पर मैंने वार्त्तिकरचना की। आप के भाष्य पर भी वार्त्तिक बनाने की इच्छा हो रही थी, परन्तु वह इच्छा अब निष्फल ही है ।।६४।।

मैवं वद कथं पापं त्वयि धर्माभिरक्षणे ।
उज्जीवयाम्यहं सद्यः करकाम्बूक्षणात्क्षणात् ।। ६५ ।।

आचार्य :—आप धर्मरक्षक हैं। आप में भला कैसा पाप। शरीर को तो मैं कमण्डलुजल के प्रोक्षण से ही क्षण में ठीक किए देता हूं ।।६५।।

आचार्यवर्यवचनं श्रुत्वा भट्टोऽगिरद् गिरम् ।
अपि शुद्धं प्रभो लोकविरुद्धं युज्यते न मे ।। ६६ ।।

आचार्य का वचन सुन कर भट्ट जी ने कहा भगवन् ! शुद्ध होने पर भी लोकविरुद्ध कार्य मेरे लिए युक्त नहीं है ।।६६।।

शक्तोऽस्यशङ्कं निष्पङ्कं कर्त्तुं दातुं च जीवितम् ।
किन्त्वहं जननिन्द्यः स्यामारब्धं कार्यमेव मे ।। ६७ ।।

आप मुझे निष्पाप बनाने में समर्थ हैं। जीवन देने में भी शक्त हैं। फिर भी मैं लोकनिन्द्य होऊँगा। व्रतपूर्वक प्रारम्भ किए कर्म को पूरा करना हो चाहिए ।।६७।।

धन्योऽस्म्यसारसंसारपङ्कमग्नोऽपि सांप्रतम् ।
भवद्दर्शनसंगत्या पूतोऽस्म्यखिलपातकात् ॥ ६८ ॥

असारसंसारपङ्कमग्न होने पर भी मैं आप के दर्शन और संगति से इस समय धन्य हूँ, समस्त पापों से पवित्र हो रहा हूँ ॥६८॥

आदिश्य तारकं मन्त्रं तारयेथा जगत्प्रभो ।
मण्डनो मम शिष्यस्तु कर्त्तव्यं साधयिष्यति ॥ ६९ ॥

आप मुझे तारक मन्त्र का उपदेश कर मेरा उद्धार करें। कर्तव्य कार्य (वार्त्तिकनिर्माणादि) मेरा शिष्य मण्डन पूरा करेगा ॥६९॥

मुहूर्त्तं भवता भाव्यमिह यावत्त्यजाम्यसून् ।
इति ब्रुवन्तं तं ब्रह्म दिदेश भवदेशिकः ॥ ७० ॥

आप मूहूर्त यहीं पर रहें जब तक मैं अपने प्राणों को छोड़ूँ। इस प्रकार कहते हुए कुमारिल भट्ट को आचार्य ने तारक ब्रह्म (ओंकार) का उपदेश किया ॥७०॥

गिरं स्वामुपसंहृत्य वीक्षमाणश्च देशिकम् ।
सत्ये प्रशमितस्वान्तः प्रतस्थे धाम वैष्णवम् ॥ ७१ ॥

अपनी वाणी का उपसंहार कर आचार्य का दर्शन करते-करते ही सत्य में अपने मन को कुमारिल भट्ट ने प्रशान्त किया और व्यापक परमधाम की ओर प्रस्थान किया ॥७१॥

उद्गच्छन् पथि सपदि स्वकं स्वरूपं
कौमारं शिखिवरवाहनं षडास्यम् ।
सन्दर्श्य क्षणमिव स क्षणप्रभाभं
धाम स्वं परमभिराममाससाद ॥ ७२ ॥

शरीर छोड़कर ऊपर की ओर उठते हुए मार्ग में अपना मयूर वाहन षडानन कार्त्तिक स्वामी का रूप क्षणभर के लिए बिजली के समान दिखाकर नित्यानन्दरसस्वरूप अपने परमधाम को वे प्राप्त हो गये ॥७२॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
सप्तमो व्यासभट्टाभ्यां संवादो यत्र सोऽगमत् ॥ ७ ॥

अथाष्टमः सर्गः

प्रतस्थे भाष्यकृद्रेवातीरे माहिष्मतीं पुरीम् ।
जलहारीः स पप्रच्छ मण्डनौको जगद्गुरुः ।। १ ।।

भाष्यकार ने प्रयाग से रेवातीर स्थित माहिष्मती पुरी की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में पनिहारिनों से आचार्य ने मण्डन का घर पूछा ॥१॥

ता दिव्यवपुषं दृष्ट्वा पुरुषं हृष्टमानसाः ।
देशिकेन्द्रं जगुर्नार्यो जलाहारनिपान्विताः ।। २ ।।

पानी का घड़ा लिए हुए वे नारियां दिव्य पुरुष आचार्य को देख कर प्रसन्न हुई और बोलने लगीं ॥२॥

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणमिति कीरवाक् ।
यत्र प्रवर्त्तते द्वारे तन्मण्डननिकेतनम् ।। ३ ।।

प्रमाण स्वतः है, प्रमाण परतः है यह शास्त्रार्थ जिस के घर द्वार पर तोते करते हों वह मण्डन का घर है ॥३॥

फलदं कर्म फलदः परमात्मेति कीरगीः ।
यत्र प्रवर्त्तते द्वारे तन्मण्डननिकेतनम् ।। ४ ।।

फलदाता कर्म है, फलदाता परमेश्वर है ऐसा शास्त्रार्थ जिस घर के द्वार पर तोते करते हों वही मण्डन का घर है ॥४॥

ध्रुवं जगदिदं नेदं ध्रुवमित्यपि कीरगीः ।
यत्र प्रवर्त्तते द्वारे तन्मण्डननिकेतनम् ।। ५ ।।

जगत् सत्य है, जगत् असत्य है ऐसा शास्त्रार्थ जिस घर के द्वार पर तोते करते हों वह मण्डन का घर है ॥५॥

पिहितद्वारमालोक्य दुर्वेशं वेश्म देशिकः ।
योगिराड् व्योममार्गेण गेहस्यान्तरवातरत् ।। ६ ।।

मण्डन के घर के पास पहुँचे तो दरवाजे अन्दर से बन्द पाये। अन्दर जाना कठिन देख कर योगबल से आचार्य ने आकाशमार्ग से घर के अन्दर प्रवेश किया ॥६॥

व्यासं च जैमिनिं चैव समाहूय तपोबलात् ।
श्राद्धे पादौ नेनिजानमपश्यन्मण्डनं गुरुः ।। ७ ।।

तपोबल से व्यास और जैमिनि को बुला कर श्राद्ध में उनके पाँव धोते हुए मण्डन को आचार्य ने देखा। [द्रष्टव्यः—व्यास की चिरजीविता तत्र-तत्र प्रसिद्ध है। जैमिनि के विषय में संभवतः जैमिनीय ब्राह्मण में प्रसिद्ध जैमिनि ही यहाँ दिग्विजयकार के अभिप्रेत होंगे। गवेषक तो उस समय के व्यास गद्दी पर विराजमान व्यास एवं कर्मकाण्डाचार्य यहाँ अभिप्रेत मानते हैं] ॥७॥

[1]अभिनन्दितमप्येव मुनिभ्यां वीक्ष्य तं यतिम्।
कुपितोऽभूत् कुतः श्राद्ध-काले यतिरुपागतः ॥ ८ ॥

व्यास तथा जैमिनि इन दोनों ने संन्यासी देखकर आचार्य का अभिनन्दन किया। उसे देख कर भी मण्डन कुपित हो गया कि श्राद्ध के समय यह संन्यासी कहां से आ गया ॥८॥

दूषयन्तं क्रूरदृशा व्यासः प्रोवाच मण्डनम्।
मा दूषय यतिं त्यक्त-सर्वैषणमनिन्दितम् ॥ ९ ॥

---

१. अभिनन्दितमप्येष मुनिभ्यां वीक्ष्य तं यतिम्।
कुपितोऽभूत्तयोस्तत्र वार्त्तैवं समवर्त्तत ॥ १ ॥
कुतो मुण्डचागलात्, पन्थाः पृच्छ्यते पृष्ट आह किम्।
पन्थाः, पीता किमु सुरा मैवं श्वेता यतः स्मर ॥ २ ॥
किं त्वं जानासि तद्वर्णमहं वर्णं भवान् रसम्।
मत्तवद्भाषसे सत्यं मत्तस्य तव दृष्टितः ॥ ३ ॥
कन्थां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम्।
कन्थां वहामि दुर्बुद्धे तव पित्रापि दुर्वहाम् ॥ ४ ॥
त्यक्त्वा पाणिगृहीतीं स्वामशक्त्या परिरक्षणे।
शिष्यपुस्तकभारेच्छोर्व्याख्याता ब्रह्मनिष्ठता ॥ ५ ॥
गुरुशुश्रूषणालस्यात्समावर्त्य गुरोः कुलात्।
स्त्रियः शुश्रूषमाणस्य व्याख्याता कर्मनिष्ठता ॥ ६ ॥
वीरहत्यामवाप्तोऽसि वह्नीनुद्वास्य यत्नतः।
आत्महत्यामवाप्तस्त्वमविदित्वा परं पदम् ॥ ७ ॥
दौवारिकान् वञ्चयित्वा कथं स्तेनवदागतः।
भिक्षुभ्योऽन्नमदत्वा त्वं स्तेनवद् भोक्ष्यसे कथम् ॥ ८ ॥
इत्थं प्रवदतोः प्राह व्यासो मध्ये हि मण्डनम्।
मा दूषय यतिं त्यक्तसर्वैषणमनिन्दितम् ॥ ९ ॥
(माधवीयशंकरदिग्विजयानुसार यह पूर्व मुद्रित पाठ है।)

मण्डन क्रूर दृष्टि से (गुस्से से) संन्यासी (आचार्य) को देख रहा था मानो (अपशकुन बता रहा था) तव व्यास जी ने कहा हे मण्डन! सर्वैषणात्यागी संन्यासी दोष रहित होते हैं, उन्हें दूषित मत करो ॥९॥

अभ्यागतो यतिर्नाम विष्णुरेव न संशयः ।
निमन्त्रय परं धर्ममनुस्मृत्य यतीश्वरम् ॥ १० ॥

अभ्यागत संन्यासी साक्षाद् विष्णु ही हैं, इसमें संशय नहीं हैं। गृहस्थों का परमधर्म समझकर यतीश्वर को निमन्त्रण दो ॥१०॥

ससंभ्रममुपस्पृश्य व्यासाज्ञप्तः स मण्डनः ।
भैक्ष्याय धर्मविद्वर्यो न्यमन्त्रयत देशिकम् ॥ ११ ॥

यह सुनते ही संभ्रम के साथ धर्मवेत्ता मंडन ने आचमन कर आचार्य को भिक्षार्थ निमन्त्रण दिया ॥११॥

विवादभैक्ष्यमिच्छामि सर्वत्रान्नं न दुर्लभम् ।
तथैवास्तु परं साक्ष्यं कस्य स्यात् कः पणो भवेत् ॥ १२ ॥

आचार्य ने कहा—अन्न की भिक्षा सर्वत्र सुलभ है। शास्त्रार्थ की भिक्षा मैं चाहता हूँ। मण्डन ने कहा—ठीक है, परन्तु साक्षी कौन होगा ? और शर्त्त क्या रहेगी ॥१२॥

तत्राहतुर्मुनिवरौ साक्षिण्युभयभारती ।
भवेदिति तथैवास्त्वित्याह हर्षेण देशिकः ॥ १३ ॥

दोनों मुनियों ने कहा साक्षी तो उभयभारती हो सकती है। आचार्य ने सहर्ष उसे स्वीकार किया ॥१३॥

पणोऽयं स्यात्पराजेता विजेतुः शिष्यतां व्रजेत् ।
स्वमाश्रमं परित्यज्य विजेत्राश्रममाप्नुयात् ॥ १४ ॥

शर्त्त यह रहेगी कि पराजयी विजयी का शिष्य बने अपना आश्रम छोड़कर विजेता का आश्रय स्वीकार करे ॥१४॥

स्वीकृत्य समयं सर्वं मण्डनः पण्डिताग्रणीः ।
श्वस्तनाद् भविता नित्यं शास्त्रचर्चेति संजगौ ॥ १५ ॥

समस्त शर्त्तों को स्वीकार कर पण्डितवर मण्डन ने कहा कि कल से नित्य शास्त्रार्थ हुआ करेगा ॥१५॥

तथेति देशिको रात्रिं रेवातीरे शिवालये ।
अत्यगादपरेद्युश्च यथाकालमुपस्थितः ॥ १६ ॥

ठीक, कहकर आचार्य भी उस रोज रात रेवातीर पर शिवालय में बिताकर दूसरे दिन ठीक समय पर उपस्थित हुए ॥१६॥

साक्ष्याय गदिता माले न्यधादुभयभारती ।
तत्कण्ठयोर्म्लानमालभग्नत्वं प्रतिजानती ॥ १७ ॥

साक्षी होने के लिये कहने पर उभयभारती ने दोनों के गले में यह प्रतीज्ञा करती हुई एक एक हार डाला कि जिसकी माला सूखेगी उसकी पराजय है ॥१७॥

गृहकार्याणि चक्रे सा भैक्ष्यभोजनहेतवे ।
उभयोर्वादिनोर्देवी सत्यधर्मव्यवस्थिता ॥ १८ ॥

उभयभारती भिक्षा भोजनादि के लिये गृह कार्य करती रही । वह सत्य-धर्म निष्ठावाली थी ॥१८॥

पक्षश्च प्रतिपक्षश्च सम्मुखाभ्यां यथामतम् ।
द्वाभ्यां परिगृहीतं च विचारायादितः स्फुटम् ॥ १९ ॥

दोनों ने एक दूसरे के सामने स्वमतानुसार विचारार्थ पक्ष और प्रति-पक्ष का ग्रहण किया ॥१९॥

ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना
शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतं भासते ।
तज्ज्ञानान्निखिलप्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्था परं
निर्वाणं जनिमुक्तमभ्युपगतं मानं श्रुतेर्मस्तकम् ॥ २० ॥

ब्रह्म ही एक परमार्थ सत्य है । वह चिद्रूप है । अज्ञान मल से रहित है । अज्ञानावृत होकर समस्त प्रपञ्च के रूप में वही भासित होता है । जैसे शुक्ति चांदी के रूप में प्रतीत होती है । ब्रह्म का ज्ञान होने पर सारा विश्व विलीन होता है आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है । यही परम निर्वाण है जिसके वाद पुनः जन्म नहीं होता । इसमें प्रमाण वेदान्त है ॥२०॥

इति प्रतिज्ञामगदीच्छंकरो लोकशंकरः ।
विश्वरूपस्तदा स्वीयां प्रतिज्ञामाह कर्मठः ॥ २१ ॥

इस प्रकार आचार्य शंकर ने अपनी प्रतिज्ञा की। तब विश्वरूप ने अपनी प्रतिज्ञा सुनायी ॥२१॥

वेदान्ता न प्रमाणं चितिवपुषि पदे तत्र संगत्ययोगात् ।
पूर्वो भागः प्रमाणं पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेषे
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां ।
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामाऽऽयुषः स्यात्समाप्तेः ॥२२

वेदान्त चिद्रूप परमात्मा में प्रमाण नहीं है। कारण सिद्धवस्तु में शक्तिग्रह ही संभव नहीं है। पदसमुदाय प्रतिपाद्य कार्य वस्तु में पूर्वकाण्ड प्रमाण है। क्योंकि उत्तम वृद्ध प्रेरित मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति से अनुमित शब्दशक्ति कार्यमात्र के ही प्रति अवगत होती है। मुक्ति कर्म से ही होती है। समस्त आयु कर्म करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥२२॥

मध्याह्ने शंकरं प्राह भिक्षार्थमुपगच्छतु ।
भारती मण्डनं प्राह भोजनायोपगच्छतु ॥ २३ ॥

मध्याह्न समय में भारती ने आचार्य को कहा—भिक्षा के लिए आइये। और मण्डन को कहा भोजन के लिये चलिये ॥२३॥

न स्वेदकम्पगगनालोकनक्रोधवाक्छलम् ।
उभयोर्वदतोरासीच्छान्तगम्भीररूपिणोः ॥ २४ ॥

बोलते समय शंकर या मंडन का न पसीना निकलता था, न कंपन होता था, न आकाशवीक्षण होता था, न क्रोध आता था और न छलवाणी का प्रयोग होता था। दोनों शान्त तथा गंभीर मुद्रा में थे ॥२४॥

दिने दिने शास्त्रचर्चाप्रकर्षः समवर्धत ।
देवाः श्रोतुमुपायाता गगने प्रचकाशिरे ॥ २५ ॥

प्रतिदिन शास्त्रचर्चा प्रकृष्ट होती गयी। सुनने के लिए आये देवताओं से गगन शोभायमान होने लगा ॥२५॥

पण्डिता मुनयश्चैव कौतूहलसमन्विताः ।
शास्त्रनिश्चयजिज्ञासां पुरस्कृत्योपसंगताः ॥ २६ ॥

बड़े बड़े पण्डित एवं ऋषि मुनि कुतूहलता के साथ शास्त्रनिश्चय की जिज्ञासा से एकत्रित हो गये ॥२६॥

समक्षमेव विदुषां माण्डनं पक्षमक्षिपत् ।
दुरुद्धरवचस्तर्कश्रुतियुक्तिप्रमाणतः ॥ २७ ॥

विद्वानों के समक्ष आचार्य ने दुरुद्धर तर्क एवं श्रुतियुक्ति प्रमाण से मण्डन पक्ष का खण्डन किया ॥२७॥

जन्यस्य नित्यताऽयुक्ता क्षीयतेगीर्दुरुद्धरा ।
मर्त्यलोकं विशन्तीति स्मृतेर्मोक्षो न कर्मतः ॥ २८ ॥

कर्म से मोक्ष संभव नहीं है। क्योंकि जो जन्य होता है वह अनित्य होता है। "एवमेव पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुति का निराकरण असंभव है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" यह स्मृति भी स्पष्ट है ॥२८॥

स्वपक्षं मथितं दृष्ट्वा परपक्षं मिमन्थिषुः ।
ऐक्यं खण्डयितुं प्राह मण्डनः परजीवयोः ॥ २९ ॥

अपना पक्ष उन्मथित देखकर मण्डन परपक्ष निराकरणार्थ जीवेश्वर एकता का निराकरण करने लगे ॥२९॥

निर्मूलमीशजीवैक्यं मैवं मानं श्रुतिर्भवेत् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि तदैक्यं संप्रचक्षते ॥ ३० ॥

मं०—ईश्वर और जीव की एकता निमूंल है—अप्रमाणिक है। आचार्य—जीवेश्वरैक्य में श्रुति प्रमाण है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य दोनों की एकता का प्रतिपादन करते हैं ॥३०॥

तत्त्वमस्यादिशब्दाः स्युर्जपार्था हुंफडादिवत् ।
मैवमर्थप्रतीतौ न नैरर्थक्यमुपेयते ॥ ३१ ॥

मं०—तत्त्वमसि आदि वाक्य केवल जपार्थ है। जैसे हुँफट् इत्यादि। आ०—जहाँ अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ निरर्थकता नहीं मानी जा सकती ॥३१॥

मखकर्त्तुः प्रशंसार्थो विधिशेषो भवत्वसौ ।
मैवं काण्डान्तरस्थत्वात्तच्छेषत्वाप्रसक्तितः ॥ ३२ ॥

मं०—यज्ञकर्त्ता की प्रशंसा के लिए यह विधिशेष है (यज्ञकर्ता ईश्वर है कहने पर प्रशंसा प्रतीत होती है) आ०—जिसकी प्रशंसा की जाती है उसी के प्रकरण में प्रशंसा होनी चाहिये। यज्ञ कर्मकाण्ड में है और यह ज्ञान-काण्ड है ॥३२॥

कर्मवृद्ध्यै भवेज्जीवे परदृष्टिविधायकः ।
नैवं लिङाद्यभावेन नोपास्तिर्विधिरत्र हि ॥ ३३ ॥

मं०—कर्म की वृद्धि के लिए उपनिषद् जीव में ईश्वरदृष्टिरूपी उपासना का विधान कर रही है। आ०—लिङ् लोट् आदि विधिप्रत्यय न होने से यह उपासनाविधि नहीं है ॥३३॥

सफलत्वाद्रात्रिसत्रन्यायात्कल्प्यो विधिर्भवेत् ।
नैवं जन्यस्य नाशित्वात्फलस्यानित्यता भवेत् ॥ ३४ ॥

मोक्ष रूपी फल से रात्रिसत्रन्यायेन विधिकल्पना कर लेनी चाहिए (अर्थात् फल साधन के विना संभव नहीं है। अतएव जहाँ फल लिखा हो वहाँ साधन-विधान का अनुमान होता है) आ०—विधि विषय साधन से उत्पन्न फल अनित्य होता है। और यहाँ मोक्षफल नित्य बताया है। अतएव साधन-जन्य यह फल नहीं है ॥३४॥

स्वर्गादिवद्भवेन्नाशि ततः किं विधिदूषणम् ।
नैवमावृत्तिशून्यत्वश्रुत्याघातप्रसङ्गतः ॥ ३५ ॥

मं०—स्वर्ग के समान मोक्ष को भी अनित्य मानने से क्या हानि है ? आ०—'न स पुनरावर्त्तते' इस श्रुति का विरोध होगा। वापिस संसार में नहीं आता इसका मतलव है—मोक्ष नित्य है ॥३५॥

तत्सादृश्यं ब्रवीत्वेतत्त्वमर्थे नैवमुच्यताम् ।
सिद्धं तद् ज्ञतया सर्वज्ञतया स्वविरुद्धगीः ॥ ३६ ॥

मं—ईश्वरसादृश्य जीव में है यह तत्त्वमसि का अर्थ है। आ०—चेतन के रूप में समान है यह सभी जानते हैं, उसे कहने की जरूरत नहीं। सर्वज्ञ के रूप में समानता स्वसिद्धान्तविरुद्ध है। अर्थात् मीमांसक जीव को सर्वज्ञ मानते ही नहीं ॥३६॥

नित्यत्वेन भवेत्साम्यमावृतं बोधयेच्छ्रुतिः ।
परत्वमावृतं कस्मान्न बोधयतु सा श्रुतिः ॥ ३७ ॥

मं०—नित्यत्वेन जीवात्मा और परमात्मा की समता है। नित्यत्व अज्ञानावृत होने से मैं मरता हूँ ऐसी भ्रान्ति होती है उसे दूर करने के लिए उसे तत्त्वमसि श्रुति अनावृत कर देती है। आ०—जब तत्त्वमसि से आपने आवृतनित्यत्व का प्राकट्य माना तो आवृतब्रह्मत्व का ही प्राकट्य क्यों नहीं मानते ? यथाश्रुतार्थ का त्याग क्यों करने लगे ? ॥३७॥

त्वत्सादृश्यं तदर्थोऽस्तु जडसांख्यनिरासकम् ।
त्वं तदस्तीति वक्तव्यं न त्वसीति तदा श्रुतौ ॥ ३८ ॥

मं—तत्त्वमसि का अर्थ करेंगे तत् त्वत्सदृशः। अर्थात् जगत्कारण तुम्हारे समान चेतन है। जड़ प्रकृति नहीं। इस प्रकार सांख्यमत निरास फल है! आ० —तव त्वं तदस्ति कहना चाहिये—'तुम्हारे समान वह है' ऐसा कहा जाता है 'तुम्हारे समान वह हो' ऐसा नहीं ॥३८॥

ईशजीवभिदाध्यक्षविरोधान्न हि युज्यते ।
नैवमध्यक्षता नास्ति परस्मिन् खल्वतीन्द्रिये ॥ ३९ ॥

जीव और ईश्वर का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। प्रत्यक्ष विरोध होने से श्रुति अभेद कैसे वता सकेगी। आ०—ईश्वर अतीन्द्रिय है, अप्रत्यक्ष है, तव ईश्वर और जीव के भेद को आपने कैसे प्रत्यक्ष कर लिया ॥३९॥

अपि चाणुर्विभुर्वा स्यादात्मा नावयवी ध्रुवम् ।
घटते न च संयोग एकदेशेऽथ वाखिले ॥ ४० ॥

दूसरी बात—आत्मा को या तो अणु मानिये। या विभु। अवयवी तो वह है नहीं (क्योंकि अवयवी होने पर विनाशी होगा) उक्त दोनों ही पक्ष में ईश्वर के साथ चक्षुरादि संयोग सम्भव नहीं। अतएव प्रत्यक्ष भी असम्भव है॥ ४० ॥

किं चाविद्यायुतादस्तु मायायुक्ताद् भिदेशितुः ।
न तेन साक्षिचैतन्ये भेदः शक्यो हि साधितुम् ॥ ४१ ॥

अन्य वातः—जीव अविद्याविशिष्ट चैतन्य है घटाकाश मठाकाश के समान उनका भेद भले हो। लेकिन महाकाश के समान शुद्ध चैतन्य साक्षी तो एक ही है॥ ४१ ॥

किं चापच्छेदनयतः प्रत्यक्षं दुर्बलं भवेत् ।
प्रवृत्तं प्रथमं तद्धि चरमेण प्रबाध्यते ॥ ४२ ॥

और भी बातः—मीमांसा में अपच्छेद न्याय प्रसिद्ध है। उसका सारांश यही कि पूर्व प्रवृत्त को उत्तर प्रवृत्त वाधित करता है। क्योंकि उत्तर तो पूर्व को वाधने के लिये ही आता है। जैसे किसी को भ्रान्ति हुई कि सर्प को मैंने देखा। लेकिन वाद में महापुरुष ने बताया कि वह सर्प नहीं रस्सी है। यहाँ उत्तर प्रवृत्त वचन ही प्रबल है। वैसे ईश जीव का भेद है ऐसा

प्रत्यक्ष ने बताया। श्रुति ने कहा भेद नहीं है। यहाँ श्रुति ही प्रबल मानी जायेगी ॥ ४२ ॥

भिन्नो नन्वीश्वराज्जीवो ह्यसार्वज्ञाद्घटादिवत्।
दृष्टान्ते लौकिको भेदः स चोरीक्रियते मया ॥ ४३ ॥

मं०:—जीव सर्वज्ञ न होने से ईश्वर नहीं है, जैसा घट, इस प्रकार अनुमान या अर्थापत्ति से जीवेश्वर भेद सिद्ध होगा। आ०—ईश्वर और घट का भेद व्यावहारिक है। उतना भेद तो हम पहले ही कह आये ॥४३॥

व्यावहारिकभेदोक्तेः श्रुतिसिद्धा भिदेति चेत्।
अफले भेदविज्ञाने तात्पर्यं हि कथं श्रुतेः ॥ ४४ ॥

मं०:—'द्वा सुपर्णा' श्रुति में जीव और ईश्वर का भेद बताया है। आ०—भेदज्ञान तो अभी भी है। कोई फल इस भेद ज्ञान से मिलता नहीं और मिला नहीं, तब उसमें श्रुति का तात्पर्य ही नहीं हो सकता ॥४४॥

अभेदज्ञानिनो मोक्षः फलं न तु भिदाविदः।
प्रत्यक्षादिप्रसिद्धानुवादमात्रमतः श्रुतौ ॥ ४५ ॥

अभेदज्ञान से मोक्ष मिलता है। भेदज्ञान से नहीं। अतः द्वा सुपर्णा श्रुति में प्रत्यक्षसिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है ॥४५॥

पैङ्गिश्रुतौ बुद्धिमाह पिप्पलं सत्त्वमत्ति यत्।
अनश्नञ्जीवं इत्याह तयोर्भेदश्च युज्यते ॥ ४६ ॥

और पैङ्गिश्रुति में द्वासुपर्णा श्रुति का तात्पर्य ऐसा बताया है कि बुद्धि और जीव दो हैं, उनमें बुद्धि ही सुखादि पिप्पल खाती है, जीव कुछ खाता नहीं। ऐसी स्थिति में जीव और बुद्धि में ही श्रुति ने भेद बताया। वह उचित ही है ॥४६॥

जीवः सत्त्वं परात्मा च क्षेत्रज्ञः पैङ्गिदर्शितः।
मैवं तत्रत्यविस्पष्टप्रसङ्गेन विरोधतः ॥ ४७ ॥

मं०—पैङ्गि श्रुति में सत्त्व और क्षेत्रज्ञ लिखा है। इतने से आप ने बुद्धि और जीव अर्थ कैसे लगाया? वहाँ सत्त्व का जीव और क्षेत्रज्ञ का परमात्मा अर्थ करेंगे। आ०—वहाँ का पूरा प्रसङ्ग देखिये। शब्दों को मरोड़ना नहीं पड़ेगा ॥४७॥

स्वप्नं पश्यति येनेदं सत्त्वमित्याह पैङ्गिगीः।
उपद्रष्टा च शारीरः क्षेत्रज्ञ इति चाब्रवीत् ॥ ४८ ॥

पैङ्गि श्रुति में कहा है जिससे यह स्वप्न देखता है वह सत्त्व है। अब कहिये स्वप्नप्रदर्शन में करण कौन ? और उपद्रष्टा क्षेत्रज्ञ को शरीर बताया शरीराभिमानी कौन ? स्पष्ट है कि वहाँ बुद्धि और जीव ही अर्थ है ॥४८॥

शरीरेऽपि परोऽस्तीति शारीरः सोऽपि युज्यते ।
मैवं शरीरे गगनं न शारीरो निगद्यते ॥ ४९ ॥

मं०—आप शरीर का शरीराभिमानी अर्थ क्यों करते हैं, शरीर में स्थित इतना अर्थ कीजिये। परमात्मा भी शरीर में है। आ०– शरीर में स्थित इतने अर्थ में यदि शारीर शब्द हो तो आकाश भी शरीर में है। उसको भी शारीर कहा जा सकेगा। परन्तु वैसा नहीं कहा जाता ॥४९॥

ननु बुद्धिर्जडा भोक्ता चेतनः स्यान्न सा तथा ।
नादाहकमयःपिण्डं दाहकं स्याद्यथा तथा ॥ ५० ॥

मं०—बुद्धि जड है। भोक्ता चेतन होता है। अतएव सत्त्व का अर्थ बुद्धि नहीं है। आ०—ऐसी बात नहीं है। लोहा दाहक नहीं होता, फिर भी (अग्नि-संनिधि से) दाहक होता है वैसी ही बात यहाँ भी है। अर्थात् चेतन सांनिध्य से जड बुद्धि में भोक्तृत्व आता है ॥५०॥

ऋतं पिबन्तौ गीराह छायातपसमां भिदाम् ।
अपूर्वार्थत्वविरहाद् बाध्याभेदगिरा हि सा ॥ ५१॥

मं०—ऋतं पिवन्तौ इस मन्त्र में छाया और धूप के समान ईश्वर और जीव में भेद बताया है। आ०—पूर्व ही कहा जा चुका है कि भेद श्रुति में कोई अपूर्व अर्थ नहीं रहता। क्योंकि भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः ऋतं पिबन्तौ यह भी वाध्य से अभेद को ही बतलाती है। क्योंकि छाया आतप में व्यवधान से कल्पित है। उसी प्रकार जीवत्व परमात्मा में कल्पित है इसी में श्रुति का तात्पर्य है ॥५१॥

प्रत्यक्षोपोद्बलनतो भेदगीः प्रबलेति चेत् ।
हन्तानुवादतां नीत्वा दुर्बला सा भवेद् बुध ॥ ५२ ॥

मं०—भेदश्रुति प्रवल है। क्योंकि भेदप्रत्यक्ष टेका देकर उसे मजबूत करता है। आ०—भेदप्रत्यक्ष टेका देता है इसका अर्थ है कि श्रुति अनुवादमात्र है। यह तो वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टं हो गया। काष्ठबुद्ध्या नदी तरणार्थं ग्राहको पकड़ने के बराबर है ॥५२॥

अन्वमोदत भङ्गं स्वपतेरुभयभारती ।
पुष्पवृष्टिरभूत् खाच्च शंकरे विजयं गते ।। ५३ ।।

इस प्रकार शास्त्रार्थ में मण्डन की पराजय हो गयी । उभयभारती ने पराजय का समर्थन किया । आकाश से उस समय शंकर पर पुष्प वृष्टि हुई ।।५३।।

म्लाना मण्डनकण्ठस्था माला भारत्युदीरिता ।
युवां भिक्षार्थमायातमित्याहोभयभारती ।। ५४ ।।

उभयभारती की डाली हुई मालाओं में मण्डन के कण्ठ की माला सूख गयी । आज उभयभारती ने कहा- आप दोनों भिक्षा के लिये आइये (अर्थात् मण्डन परास्त होने से संन्यासी होना निश्चित हो गया । अतः भोजन शब्द के स्थान में भिक्षा शब्द का प्रयोग किया) ।।५४।।

अथ शापादुपायातां धाम स्वं गन्तुमुद्यताम् ।
अरण्यदुर्गमन्त्रेण बबन्धात्रैव देशिकः ।। ५५ ।।

इसके बाद शापकारण पृथिवी पर आयी सरस्वती शापमुक्त होकर निजधाम जाने के लिये तैयार हो गयी । आचार्य ने उन्हें अरण्यदुर्गमन्त्र से रोक दिया ।।५५।।

उवाच च जगन्मातर्मदनुज्ञामनु त्वया ।
गन्तव्यमिति साप्याह तथास्त्विति मनस्विनी ।। ५६ ।।

और कहा कि हे जगन्माता सरस्वती अब आप तभी जाए जब मैं छुट्टी दूँ । मनस्विनी सरस्वती ने भी स्वीकार किया ।।५६।।

विनीय तं बुधवृषभं च मण्डनं
निरुध्य च प्रयततमां सरस्वतीम् ।
स कामपि व्यवृणुत पद्धतिं सतीं ।
समुद्धरन् सकलजगन्ति शंकरः ।। ५७ ।।

बुधाग्रणी मण्डन को इस प्रकार स्वाधीन कर तथा पवित्रतम सरस्वती का निरोध कर सकल जगदुद्धारार्थ आचार्य शंकरभगवत्पाद ने एक महत्त्वपूर्ण मार्ग को खोला ।।५७।।

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
अष्टमः समगात् सर्गो विश्वरूपपराजयः ।। ८ ।।



अथ नवमः सर्गः

इत्थं पराजितोऽप्येव संशयाविष्टमानसः ।
पप्रच्छ देशिकं नम्रो जल्पादुपरतः सुधीः ॥ १ ॥

मण्डन यद्यपि पराजित हो गया था, फिर भी उनके मन में से संशय नहीं निकला। जल्प से उपरत होकर (विजयार्थ शास्त्रार्थ से उपरत होकेर जिज्ञासु भाव से) मण्डन ने आचार्य से पूछा ॥१॥

कथं कर्म जगौ शर्मकारणं जैमिनिः प्रभो ।
सर्वज्ञः स कथं चेशं फलदं नान्वमन्यत ॥ २ ॥

हे भगवन् ! महर्षि जैमिनि ने कर्म को मोक्षकारण कैसे कहा ? सर्वज्ञ होकर ईश्वर को फलदाता क्यों नहीं माना ॥२॥

शृणु प्राकृतकर्मभ्यो निवृत्त्यै कर्म वेदवाक् ।
विधत्ते स्वर्गदं साक्षात्पारम्पर्याच्च मोक्षदम् ॥ ३ ॥

आचार्य कहने लगे:—प्राकृत कर्मों से निवृत्त करने के लिये वेद वाणी ने कर्म का विधान किया, जो साक्षात् स्वर्ग को देने वाला है और परम्परया मोक्ष को ॥३॥

कर्मणा निर्मले चित्ते विवेकादिरुदीयते ।
श्रवणादेस्ततो ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ॥ ४ ॥

कर्म से चित्त निर्मल हो जाता है तो विवेकादि उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर श्रवणादि से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष होता है ॥४॥

सदुपासनया चित्ते स्थिरे ब्रह्म स्फुटं स्फुरेत् ।
उपासनाकाण्डमपि मोक्षहेतुं ततो विदुः ॥ ५ ॥

उपासना से चित्त स्थिर होता है तो स्पष्टरूप से ब्रह्म का स्फुरण होता है। अतएव उपासना काण्ड को भी मोक्षहेतु बताया ॥५॥

मलिने चञ्चले वापि मुकुरे न मुखं स्फुरेत् ।
पटादिना प्रावृते च दोषत्रयमिदं विदुः ॥ ६ ॥

मलिन तथा चंचल दर्पणादि में मुख स्पष्ट नहीं दीखता। कपड़े आदि से आवृत होने पर भी वही बात है। अतएव ये तीन दोष माने गये ॥६॥

कर्मणा मलनाशः स्याद् विक्षेपहृदुपासना।
ज्ञानादावरणापास्तिरिति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

कर्म से मलका, उपासना से विक्षेप का और ज्ञान से आवरण का नाश होता है ॥७॥

सिद्धं हि वस्त्वधिगमान्नैव तात्पर्यगोचरम्।
क्रियामसिद्धामाचष्टे श्रुतिस्तल्लौकिकस्थले ॥ ८ ॥

सिद्ध वस्तु ज्ञात होने से तात्पर्यविषय नहीं होती। अतः लौकिकस्थल में श्रुति असिद्ध-अर्थात् साध्य क्रिया को ही कहती है ॥८॥

परिनिष्ठितमप्येव ब्रह्म तात्पर्यगोचरम्।
अनन्यभानादज्ञातज्ञापनात्फलयुक्त्वतः ॥ ९ ॥

ब्रह्म परिनिष्ठित (सिद्ध) होने पर भी श्रुतितात्पर्यविषय है। क्यों कि प्रमाणान्तर न होने से श्रुति ब्रह्म के बारे में अज्ञातार्थज्ञापक है। और सफल भी है। अनधिगत सफलार्थ प्रतिपादक वचन ही प्रमाण है ॥९॥

यस्तु तर्कसमुन्नीत ईशो नैष फलप्रदः।
यश्चौपनिषदो नायं पुरुषस्तर्कगोचरः ॥ १० ॥

जो तर्कानुमित ईश्वर है वह फलप्रद नहीं है। और जो फलप्रद औपनिषद पुरुष है वह तर्क गोचर नहीं है ॥१०॥

तार्किकैस्तर्कितं हीशं न्यषिध्यज्जैमिनिर्मुनिः।
तस्माज्जैमिनिसिद्धान्तोऽविरुद्धः श्रुतिमस्तकैः ॥ ११ ॥

तार्किकों ने जिस को तर्क से सिद्ध किया वह ईश्वर कर्मफलदाता नहीं, यह जैमिनि ने बताया। अतएव जैमिनिसिद्धान्त का वेदान्त से कोई विरोध नहीं है ॥११॥

अयमेवाशयः किं स्विदन्यो वा जैमिनेर्मुनेः।
इति तं संशयापन्नो मुनिं सस्मार मण्डनः ॥ १२ ॥

जैमिनि मुनि का यही आशय है या अन्य, इस प्रकार संशय होने से मण्डन ने जैमिनि का स्मरण किया ॥१२॥

तदा प्रत्यक्षमागत्य ध्याने तं प्राह जैमिनिः ।
मा संशयं भाष्यकृति कृथाः सत्यव्यवस्थिते ॥ १३ ॥

उस समय मण्डन के ध्यान में जैमिनि मुनि प्रत्यक्ष आकर बोले कि सत्यनिष्ठ भाष्यकार में संशय न करो ॥१३॥

भगवान् शंकरः साक्षादवतीर्णोऽशतो भुवि ।
सत्यादौ कपिलो दत्तो व्यासश्चैव यथाऽभवद् ॥ १४ ॥

साक्षात् शंकर गगवान् ये भूतल में अंशतः अवतीर्ण हुए हैं। जैसे सत्य, त्रेता और द्वापर में कपिल, दत्तात्रेय और व्यास के रूप में भगवान् अवतीर्ण हुए ॥१४॥

इत्युक्त्वान्तर्दध ऋषिः प्रतिनन्द्य स शंकरम् ।
मण्डनश्चास्तवीद् भक्त्या शंकरं हृतसंशयः ॥ १५ ॥

इतना कह कर महर्षि जैमिनि आचार्य का अभिनन्दन कर अन्तर्धान हो गये। मण्डन भी भक्ति भाव से आचार्य की स्तुति करने लगे ॥१५॥

विदितोऽद्य भवान् साक्षादुपात्तवपुरीश्वरः ।
अज्ञानान्मे प्रलपितं क्षमस्व करुणानिधे ॥ १६ ॥

अब मुझे ज्ञात हो गया कि आप साक्षात् मानवशरीरधारी शंकर भगवान हैं। आप दयानिधान हैं। अज्ञान से मैंने जो भी प्रलाप किया उसे आप क्षमा करें ॥१६॥

यत्राद्वैतपदे सर्वे मुमुहुः कपिलादयः ।
मादृशां पुनरज्ञानां विज्ञाने तत्र का गतिः ॥ १७ ॥

जिस अद्वैततत्त्व के बारे में कपिलादि महर्षि भी मूढ़ हो गये उस विज्ञान घनतत्त्व में मेरे जैसे अज्ञानियों की क्या गति ॥१७॥

अनन्तपूर्वपुण्यौघविपाकं मेऽवलोकये ।
यद् भवान् करुणासिन्धुरुद्धर्त्ता मेऽक्षिगोचरः ॥ १८ ॥

पूर्व संचित अनन्त पुण्य का ही यह परिणाम है कि आप दयासागर हमारे अक्षिगोचर हुए ॥१८॥

संसारदावदहनदग्धान्मुग्धान् हि मादृशान् ।
उद्धर्त्तुमुपयातस्य करुणासिन्धुता तव ॥ १९ ॥

संसारदावानलदग्ध अथ च मूढ़ मेरे जैसों का उद्धार करने आप स्वयं आये। यही तो आप की करुणासागरता है ॥१९॥

तदहं सकलं दारद्रविणाभिजनादिकम्।
विहाय शरणं यामि गुरोश्चरणपङ्कजम् ॥ २० ॥

अब मैं दारधनादि सब छोड़ कर गुरु चरण की शरण में आ गया हूँ ॥२०॥

अथाब्रवीदुपागत्य तरसोभयभारती।
आचार्य शृणु वाचं मे समयस्यानुसारिणीम् ॥ २१ ॥

उस समय उभयभारती आकर कहने लगी कि हे आचार्य! समयानुरूप मेरा भी वचन सुनें ॥२१॥

अजैषीन्मत्पतिं किन्तु जितोऽप्यजित एव सः।
यावद्विजेष्यसे नो मां तदर्धाङ्गवपुर्धराम् ॥ २२ ॥

यद्यपि आप ने मेरे पति को जीता, फिर भी जीत पूरी नहीं मानी जा सकती, जब तक उनकी अर्धाङ्गिनी मुझे नहीं हरायेंगे ॥२२॥

न योषिद्भिः कथां जातु कथयन्ति यशस्विनः।
तदस्थाने प्रार्थनेति मा मंस्था हेतुसत्त्वतः ॥ २३ ॥

स्त्रियों के साथ यशस्वी लोग शास्त्रार्थ नहीं करते, अतः यह प्रार्थना अनुचित है ऐसा न कहें। क्यों कि हेतु है ॥२३॥

कथामकथयद् गार्ग्या याज्ञवल्क्यः पुरा न किम्।
राजा सुलभया सार्धं न हि किं ते यशस्विनः ॥ २४ ॥

गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य ने, सुलभा के साथ राजा जनक ने शास्त्र चर्चा की तो क्या वे यशस्वी नहीं रहे ॥२४॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्याः शंकरः श्रुतिसंमताम्।[1]
स्वीचकार कथां कर्त्तुं तया पण्डितसंसदि ॥ २५ ॥

उभयभारती का श्रुतिसंमत वचन सुनकर आचार्य ने पण्डित सभा में उनसे शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया ॥२५॥

---

१. श्रुतिः सत्या न वा नाद्यो द्वैतभावप्रसङ्गतः।
असत्यत्वे कथंकारं प्रमाणं प्रणिभण्यते ॥ १ ॥

तयोरश्रान्तमवृतदृते नियमकालतः ।
वादोऽतिगहनो यत्राहानि सप्तदशात्ययन् ॥ २६ ॥

नियम समय को छोड़कर उनका शास्त्रार्थ निरन्तर चलता रहा। सत्रह दिन इस प्रकार वीत गये ॥ २६ ॥

शास्त्रेष्वजय्यमालोक्य कामे पप्रच्छ शारदा ।
कामागमानभिज्ञोऽसौ बाल्ये संन्यसनादिति ॥ २७ ॥
कलाः कियत्यः कामस्य किंरूपाः किंपदाश्रिताः ।
स्थितिः स्त्रीपुंसयोः कीदृक् प्रसङ्गादित्यचोदयत् ॥ २८ ॥

उभयभारती ने अनुभव किया कि शास्त्रों में आचार्य को जीतना असंभव है। तब उन्होंने काम विषय में प्रश्न किया। क्योंकि उनको मालूम था कि वाल्य में ही संन्यासी हो जाने से इस विषय में इनको अभिज्ञता

मैवं स्वरूपतोऽसत्या-प्यर्थतः सत्यरूपिणी ।
स्वप्नश्रुतं स्वरूपाऽस-दपि सत्यार्थकं यथा ॥ २ ॥
स्वप्नश्रुतार्थो मिथ्यैव स्वप्ने यो वुध्यते नृभिः ।
प्रवोधे सत्यशब्दस्य स्मरणात् सत्यधीर्भवेत् ॥ ३ ॥
मैवं न स्मर्यते सत्यः शब्दो जाग्रति केनचित् ।
स्वाप्नं वाक्यमनुस्मृत्य कुर्याच्छाब्दमतिं जनः ॥ ४ ॥
किं च लिप्यात्मकैः शब्दैर्मिथ्याभूतैर्मतिर्मता ।
मिथ्यागणनया सत्यगणनोत्तरमिष्यते ॥ ५ ॥
स्वप्नदृष्टा योषिदादिर्मिथ्याभूतोऽपि सूचकः ।
मिथ्यासर्पेण च भयं प्रत्यक्षमुपलभ्यते ॥ ६ ॥
अत्र वेदा अवेदाः स्यु-रिति वेदवचः स्वयम् ।
अद्वैते सति वेदादि-मिथ्यात्वं प्रव्रवीति च ॥ ७ ॥
ननु सत्यमसत्यं वा मिथ्यात्वमुभयत्र च ।
द्वैतसत्यत्वसंप्राप्तेः प्रमाणं श्रुतयः कथम् ॥ ८ ॥
उच्यते द्वैतशून्यत्वं द्वैतमिथ्यात्वशब्दितम् ।
केवलब्रह्मरूपत्वात् सत्यमेव तदिष्यते ॥ ९ ॥
अन्यथा सर्पमिथ्यात्वं सत्यं मिथ्योरगे कथम् ।
न मरीच्युदके सत्या वीचिः केनाप्युपेयते ॥ १० ॥

नहीं होगी ॥ प्रश्न—काम की कितनी कलायें हैं, उनका स्वरूप क्या, विभावादि क्या, स्त्री और पुरुष की स्थिति कैसी होती है। प्रसङ्ग खड़ा कर इन प्रश्नों को उभयभारती ने पूछा ॥ [द्रष्टव्यः—ज्ञान से मुक्ति होती है या कर्म से यह मूल प्रश्न था। और शास्त्रार्थ में ऐसा नियम है कि प्रसंगान्तर उठाकर निग्रह नहीं किया जा सकता। समयवन्ध विप्रतिपत्ति आदि का यही प्रयोजन माना गया है। अत एव कामविषयक प्रश्न का उठाना और उसका समाधान देना दोनों ही प्रकृत जय-पराजय में प्रयोजक नहीं हो सकते। तव यह प्रश्न उठता है कि तव क्या यहाँ का परकाय प्रवेश-पर्यन्त अंश कल्पनामात्र है या प्रक्षिप्त है कैसा ? उत्तर यह है कि अत्यन्त प्रसिद्ध इस घटना को कल्पनामात्र कहना उचित नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि उभयभारती सरस्वती का अवतार थी ही। उन्होंने भविष्य को देखा कि आचार्य आगे सर्वज्ञपीठ पर आरूढ़ होने जा रहे हैं। परन्तु उस समय कामशास्त्रानभिज्ञ होने पर पीठारोहण में अयोग्य होंगे। अतः आचार्य को सर्वज्ञ वनाने के लिये ही उनका यह प्रयास हुआ। उनकी धारणा थी कि मेरे पति के गुरु परिपूर्ण हो] ॥२७-२८॥

मासावधिमभीप्सामीत्याहोत्तरयितुं यतिः।
सार्धमासं द्विमासं वा गृहाणात्र न मे व्यथा ॥ २९ ॥

आचार्य ने कहा—इसका उत्तर देने के लिये एक महीने की अवधि चाहिये। भारती ने कहा डेढ मास लो, दो मास लो, मुझे इसमें आपत्ति नहीं है ॥ २९ ॥

ततो बहिरुपागत्य चिन्तयन् योगिनां वरः।
आकाशमार्गे बभ्राम प्रपश्यन् परितो भुवम् ॥ ३० ॥

योगीश्वर शङ्कर मण्डन के घर से बाहर आये और योग शक्ति से आकाश मार्ग से चारों ओर पृथिवी का अवलोकन करते हुए घूमने लगे ॥ ३० ॥

तत्रामरुकनामानं राजानं मृतमैक्षत।
प्रावृतं विलपन्तीभिर्योषित्संततिभिर्यतिः ॥ ३१ ॥

आकाश मार्ग से आचार्य ने देखा कि राजा अमरुक मृत हो गये हैं। चारों ओर अनेक रानियां रो रही हैं ॥ ३१ ॥

ततो निवृत्त्य योगीन्द्र इदमाह सनन्दनम् ।
कायान्तरं प्रविश्यैव ज्ञेयं प्रश्नोत्तरं मया ।। ३२ ।।

वापिस आकर पद्मपाद से कहा कि परकाय प्रवेश करके ही प्रश्नोत्तर की जानकारी मुझे प्राप्त करनी होगी ।। ३२ ।।

नैतद्युक्तं गुरो सर्वं वेत्ति तावद् भवान् स्वयम् ।
अदृष्टमपि पश्यन्ति कवयः पारदर्शिनः ।। ३३ ।।

पद्मपाद ने कहा—गुरुदेव ! यह उचित नहीं है। आप स्वयं सब जानते हैं। पारदर्शी कवि अदृष्ट को भी देखते हैं ।। ३३ ।।

पुरा मत्स्येन्द्रनाथो हि परासोः सिंहलेशितुः ।
प्रविश्य कायं योगीन्द्रस्तत्पत्तनमुपेयिवान् ।। ३४ ।।

पहले की बात है—सिंहलराजा के मृत शरीर में मत्स्येन्द्रनाथ प्रविष्ट होकर उनके नगर में गये ।। ३४ ।।

तत्र सर्वसमृद्धिं च मृतोत्थानं च चिन्तयन् ।
सचिवो दिव्यपुरुषं कंचिदेनमन्यत ।। ३५ ।।

राज्य में वड़ी समृद्धि हुई। इधर मृतोत्थान हुआ। मन्त्री ने निश्चय किया कि यह कोई दिव्यपुरुष योगी अवश्य होगा ।। ३५ ।।

तं वशीकर्त्तुमाहासौ सुकुमारीः कुमारिकाः ।
गीताभिनयलास्याद्यै रुपास्थिषत ता यतिम् ।। ३६ ।।

मत्स्येन्द्रनाथ को वश में करने के लिये मन्त्री ने सुन्दर कुमारियों को आज्ञा दी। वे गीतनृत्यादि से योगी को प्रसन्न करने लगीं ।। ३६ ।।

लीलाविलासलोलाभिस्ताभिर्योगी वशीकृतः ।
समाधिं स च विस्मृत्य बभूव प्राकृतो यथा ।। ३७ ।।

नाना लीलाविलासों से उन कुमारियों ने योगी को वश में किया और मत्स्येन्द्रनाथ भी समाधि भूलकर प्राकृत मनुष्य जैसे हो गये ।। ३७ ।।

तत्तनूरक्षको योगी गोरक्षः समुपेत्य तम् ।
अन्तरङ्गस्वरूपेण प्रतिबोध्यानयद् गुरुम् ।। ३८ ।।

मत्स्येन्द्रनाथ के शरीररक्षक गोरखनाथ ने देखा कि गुरु जी फँस रहे हैं तो वहाँ अन्तरंगरूप से आये और ढोलक पर ही "चेत मछंदर गोरख आया" बजा कर गुरु को उद्वोधित किया और वापिस ले गये ।। ३८ ।।

तस्माद्विषयरागेऽस्मिन् दुर्दमे न प्रमाद्यते ।
ऊर्ध्वरेतोव्रतं नः क्व क्व गर्ह्यं मदनोर्जितम् ॥ ३९ ॥

इसलिये दुर्दम विषय राग के बारे में प्रमाद न करना उचित है। कहाँ हमारा ऊर्ध्वरेतोव्रत और कहाँ कामसेवन ॥ ३९ ॥

पद्मपादवचः श्रुत्वा समवोचत देशिकः ।
मा स्म भूश्चिन्तितो ह्यत्रासङ्गे मयि कथंचनं ॥ ४० ॥

आचार्य ने कहा मेरे बारे में तुम निश्चन्त रहो मैं सर्वथा असंग हूँ ॥४०॥

मत्स्येन्द्रः शिष्यसन्देहगर्वाद्यपनिनीषया ।
एकेन लोलामतनोदन्येन वपुषा तपः ४१ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ की बात में यथार्थता इस प्रकार है कि गोरक्षनाथ का संदेह गर्वादि दूर करने के लिये एक शरीर से परकाय प्रवेश किया और अन्य शरीर से तप किया ॥ ४१ ॥

किं च नासङ्गिनः कामो हरेर्गोपीपतेर्यथा ।
तथा विधिनिषेधौ च स्यातामज्ञस्य नो कवे : ॥ ४२ ॥

अन्य बात—संग हीन को काम होता ही नहीं जैसे गोपीपति कृष्ण को। और भी बात यह कि विधि और निषेध अज्ञानी को होता है ज्ञानी को नहीं ॥ ४२ ॥

अश्वमेधसहस्त्राणि ब्रह्महत्यायुतानि च ।
कुर्वन् पुण्यैश्च पापैश्च लिप्यते नैव तत्त्ववित् ॥ ४३ ॥

शास्त्रवचन है कि तत्त्ववित् हजारों अश्वमेध करें चाहे हजारों ब्रह्महत्या। न उसे पुण्य होता है और न पाप ही ॥ ४३ ॥

त्रिशीर्षमहनच्छालावृकेभ्योऽदाद्यतीन् बहून् ।
नातोऽभोयत लोमापि हीन्द्रस्येति श्रुतेर्वचः ॥ ४४ ॥

इन्द्र ने त्रिशीर्षा को मारा, अनेक यतियों को भेड़ियों का भोज्य बना दिया, फिर भी उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ, यह श्रौत वचन है ॥४४॥

ईजे यज्ञेन च बहुदक्षिणेन महामतिः ।
न तत्फलेन जनको वैदेहो लिप्यते स्म सः ॥ ४५ ॥

बहुदक्षिण अनेक यज्ञ राजा जनक ने किया। किन्तु उसके फल से जनक लिप्त नहीं हुए ॥ ४५ ॥

न कर्मणा वर्धते वा कनीयान् वा यथार्थवित् ।
नैनं कृताकृते चापि तपतस्तत्त्ववेदिनम् ॥ ४६ ॥

तत्त्ववेत्ता कर्म से बढ़ता या घटता नहीं ! उसे कृत या अकृत सन्तप्त नहीं करते ॥ ४६ ॥

आत्मत्वेन समं पश्यन्नकर्त्ता नैव लिप्यते ।
वज्रोलियोगे यत्यादेर्नावकीर्णित्वमिष्यते ॥ ४७ ॥

सर्वात्मदर्शी अकर्ता होने से लिप्त नहीं होता । और वज्रोलियोग में यति आदि भी अवकीर्णी नहीं माने जाते ॥ ४७ ॥

किं च वर्णाश्रमाचाराः शारीरा न किलात्मगाः ।
न संन्यस्तमृतोऽन्यस्मिन् भवे भवति नो गृही ॥ ४८ ॥

और भी बात यह है कि वर्णाश्रमादि धर्म शरीरगत होते हैं । आत्मगत नहीं । संन्यासी होकर जो मृत होता है वह अन्य शरीर में क्या गृही नहीं होते ॥ ४८ ॥

तस्मात्संन्यस्तदेहेन गृहित्वे पतनं भवेत् ।
भवेच्च श्रुतिमर्यादाभेदो नान्येन वर्ष्मणा ॥ ४९ ॥

सभी कुछ मान लिया जाय । अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्वादि भी मान लिया जाय तो भी संन्यस्त शरीर से गृही होने में ही पतन होता है और श्रुति-मर्यादोल्लंघन होता है । अन्य शरीर से नहीं । (संन्यस्तमृत का द्वितीय जन्म गृही हो सकता है यह बता चुके) ॥ ४९ ॥

पदचारिदुरारोहं गिरिशृङ्गमुपेत्य च ।
शिष्यान् गोप्तुं नियुज्यात्मशरीरं योगिपुङ्गवः ॥ ५० ॥
आकृष्याङ्गुष्ठतो मूर्ध्नो बहिरेत्य स्ववर्ष्मणः ।
मूर्ध्नः प्रविश्य भूपालकायमाऽऽङ्गुष्ठमोयिवान् ॥ ५१ ॥

इतना कहने के बाद आचार्य शिष्य सहित पदचारीयों के लिये जहाँ चढ़ना अशक्य है ऐसे गिरिशृङ्ग पर पहुँचे और शिष्यों को शरीररक्षार्थ नियुक्त किया । फिर अंगुष्ठ से जीवात्मा को खींचकर क्रमशः सर्व शरीर से मूर्ध प्रदेश से बाहर निकले और उस राजा के मूर्धा से प्रविष्ट होकर अंगुष्ठ तक व्याप्त हो गये ॥ ५०-५१ ॥

चेतनां समनुप्राप्य हृदयस्पन्दनक्रमात् ।
उदतिष्ठन्महीपालो हर्षिता योषितोऽखिलाः ॥ ५२ ॥

शरीर में चेतना आयी। हृदयस्पन्दन होने लगा। राजा अमरुक उठ बैठे। समस्त रानियां एकाएक हर्षित हो उठी ॥ ५२ ॥

तं प्राप्तजीवनमवेक्ष्य पतिं प्रभूत-
हर्षस्वनः समवृणोद्वनितागणस्तम् ।
निर्वर्ण्य तन्नृपतिमीयुरमात्यमुख्या ।
दध्मुश्च शङ्खपणवादिमनीकमुख्याः ॥ ५३ ॥

राजा को जीवन प्राप्त देखकर हर्ष से रानियां किलकिलाने लगीं। उसे देखकर अमात्यादि वहाँ दौड़ आये और इधर सेना नायक शंखादि बजाने लगे ॥ ५३ ॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
नवमः समगाद् भारत्याचार्यकथया युतः ॥ ९ ॥



अथ दशमः सर्गः

उत्थितः कृतमाङ्गल्यो नृपतिर्गजमास्थितः ।
पुरीमभ्येत्य पृथिवीं शशास दिवमिन्द्रवत् ॥ १ ॥

राजा ने उठकर माङ्गलिक कर्म किया। फिर गज़ारूढ़ हो पुरी में पहुँच कर पृथिवी पर उसी प्रकार शासन किया जिस प्रकार स्वर्ग पर इन्द्र ॥ १ ॥

तं दिव्यगुणसम्पन्नमपूर्वमतिवैभवम् ।
अवेक्ष्य मन्त्रिप्रवराः संशयं प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

उनकी दिव्यगुणसम्पत्ति, और अपूर्व बुद्धिवैभव देखकर बुद्धिमान् मन्त्रियों को संशय होने लगा ॥ २ ॥

दाने ययातिवद्वाचि गुरुवद्युधि पार्थवत् ।
ज्ञाने गिरिशवत्कोऽयं प्रविष्टोऽस्ति मृतोत्थितः ॥ ३ ॥

दान में ययाति के समान उदार, वाणी में बृहस्पति के समान चतुर, युद्ध में अर्जुन के समान वीर और ज्ञान में शङ्कर के समान निर्भ्रान्त यह कौन है जो मृतशरीर में प्रविष्ट होकर उठा ॥ ३ ॥

अनृतौ पुष्पिता वृक्षा बहुदुग्धाश्च धेनवः ।
सस्याढ्या पृथिवी सर्वा सर्वा धर्मरताः प्रजाः ॥ ४ ॥

ऋतु के विना भी पुष्प खिल रहे हैं, गायें दूध बहुत दे रही हैं, सारी पृथिवी सस्यसंपन्न हो रही है और समस्त प्रजा धर्मतत्पर हो रही हैं ॥ ४ ॥

अयं योगीश्वरः कश्चिन्मा प्रापत् पूर्वकं वपुः ।
इति मन्त्रं प्रचक्रुस्ते परस्परमतन्द्रिताः ॥ ५ ॥

अवश्य यह कोई योगीश्वर है। परन्तु यह फिर वापिस पूर्वशरीर में न चले जाय, इस प्रकार बड़ी सावधानी से वे मन्त्रणा करने लगे ॥ ५ ॥

न्ययोजयंश्च भृत्यांस्ते यत्र क्वापि गतासुकम् ।
शरीरं दृश्यते तद्धि ज्वलयन्त्वविचारिताः ॥ ६ ॥

उन्होंने भृत्यों को भी यह कहकर नियुक्त किया कि जहाँ भी मृत शरीर पाया जाय तुरन्त उसे जलाओ ॥ ६ ॥

वात्स्यायनीयं सूत्रं च भाष्यं चावेक्ष्य भूपतिः ।
स्वयं व्यधत्ताभिनवं निबन्धं कामबन्धुरम् ॥ ७ ॥

राजा ने वात्स्यायनीय कामसूत्र तथा भाष्य देखकर स्वयं एक काम सम्बन्धी अभिनव ग्रन्थ बनाया [द्रष्टव्यः—अमरुकशतक जो आज प्रसिद्ध है वही उक्तग्रन्थ है ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है] ॥ ७ ॥

रक्षन्तश्च वपुस्तस्य शिष्यास्तेऽन्योन्यमूचिरे ।
मासावधिर्व्यतीतोऽद्य नैवायातस्तु देशिकः ॥ ८ ॥

आचार्यशरीर की रक्षा करते हुए सिष्यों ने कहा—एक मास की अवधि वीत गयी। अभी तक आचार्य नहीं आये ॥ ८ ॥

किं कुर्मो मृगयामः क्व कथं विद्याम कुत्र सः ।
इत्येवं व्यथितेष्वाह पद्मपादो महामुनिः ॥ ९ ॥

क्या करें ? कहाँ ढूंढ़ें ? कहाँ हैं आचार्य यह मालूम कैसे हो, इस प्रकार सब व्यथित थे। तब पद्मपाद बोले ॥ ९ ॥

छन्ना पात्रेण कस्तूरी छन्नः स्वर्भानुना शशी ।
छन्नोऽन्यवपुषास्माकं गुरुश्चेति त्रयः समाः ॥ १० ॥

कस्तूरी बरतन से ढक दी, राहु से चन्द्रमा ग्रस्त हुआ, अन्य शरीर में हमारे गुरु छिप गये, ये तीनों बराबर हैं। अर्थात् छिपाने पर भी छिप नहीं सकते ॥ १० ॥

समृद्धिर्धर्मनिरतिः सुखं शान्तिर्धृतिः स्मृतिः ।
यत्र देशे प्रदृश्येरंस्तत्रास्मद्देशिको भवेत् ॥ ११ ॥

जिस देश में समृद्धि धर्मनिष्ठा, सुख, शान्ति, धैर्य, स्मृति आदि गुण विशेषरूप से दिखाई दें वहीं हमारे गुरु होंगे ॥ ११ ॥

विमृश्यैवं वपुर्गुप्त्यै शिष्यान्निर्दिश्य कांश्चन ।
अन्यैः सहाम्बुजपदो निरगान्मार्गितुं गुरुम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार विचार कर गुरुशरीररक्षार्थ कुछ शिष्यों को वहीं रखकर अन्यों के साथ गुरुजी की खोज के लिये पद्मपाद जी निकले ॥ १२ ॥

इतस्ततो ययुः सर्वे शैलाच्छैलं वनाद्वनम् ।
ग्रामं ग्रामादमरुकक्ष्माभृद्विषयमन्ततः ॥ १३ ॥

इधर उधर वे चल पड़े (क्योंकि उनको यह मालूम नहीं था कि किसी राजा के शरीर में प्रविष्ट हुए हैं या साधारण मनुष्य के शरीर में) एक पर्वत से दूसरा पर्वत, एक जंगल से दूसरा जंगल एक गाँव से दूसरा गाँव इस प्रकार चलते चलते आखिर वे राजा अमरुक के राज्य में पहुँचे ॥ १३ ॥

भूपं मृतोत्थितं श्रुत्वा वीक्ष्य राज्यं समृद्धिमत् ।
राजप्रशंस्ति चाकर्ण्य दैन्यं मोहं च ते जहुः ॥ १४ ॥

राजा मरकर उठे, यह बात सुनी। राज्य को समृद्धिशाली देखा। सभी राजा की प्रशंसा कर रहे थे। इन सब बातों से वे सर्वथा संशयरहित होकर दैन्य एवं मोह से रहित हुए ॥ १४ ॥

धृत्वा गायकवेषांस्ते विविशुर्नृपमन्दिरम् ।
द्वितीयमिव माहेन्द्रसदनं मदनाङ्गणम् ॥ १५ ॥

गायक वेष लेकर द्वितीय इन्द्रसदन समान अति मनोहर राज सदन में वे प्रविष्ट हुए ॥ १५ ॥

रमणीशतमध्यस्थं तत्र दिव्यप्रभं प्रभुम् ।
तारागणगतं चन्द्रमिव व्यैक्षन्त ते नृपम् ॥ १६ ॥

सैकड़ों रमणियों के बीच में दिव्यकान्ति वाले राजा उसी प्रकार शोभा पा रहे थे जैसे तारों के बीच में चन्द्रमा ॥ १६ ॥

नेत्रसंज्ञावितीर्णोपवेशनास्ते च भूभुजा ।
प्राप्यानुज्ञां जगुर्गीतं मूर्च्छनाभिर्मृदुस्वरम् ॥ १७ ॥

इशारे से ही राजा ने उन्हें बैठने को कहा। फिर आज्ञा पाकर वे सुन्दर स्वर से गीत गाने लगे ॥ १७ ॥

मधुकर सुमनोभूषण सरसम्, कमलवनोद्भवकुसुमरसम् ।
हन्त निपीय पुरा पुनरधुना, कथमिव वाञ्छसि कुटजरसम् ।१८।

हे भ्रमर, फूलों के तुम आभूषण हो। कमल वन में उत्पन्न सरस मधु को पीने वाले हो। किन्तु यह कैसा आश्चर्य कि उस मधु को पीकर फिर इस कड़वे कुटज रस में तुम्हारा मन लगा। दूसरा अर्थ:—मधुब्राह्मणोक्त मधुरूपी ब्रह्म रस को शिष्यों को पिलाने वाले, सुमनोभूशण = विद्वानों के भूषण ! आप हृदय कमलादि में वननीय—सेवनीय ब्रह्म से उद्भूद सरस आनन्द रस का पान कर अब इस कड़वे संसार रस पर क्यों मोहित हो रहे हैं ॥ १८ ॥

शुकवर भङ्गमगान्नभसङ्गम, क्वचन गतौ ते नहि नहि जङ्गम ।
बन्धुरहाटकपिञ्जरमध्ये, गमनधुरन्धर बन्धं मा गमः ॥ १९ ॥

हे शुकवर ! तुम गगन में विचरण करने वाले हो। तुम गतिशील हो। तुम्हारी गति में कहीं भी रुकावट आज तक नहीं आयी। हाँ, स्मरण रखो कि सुन्दर सोने के पिञ्जरे के बन्धन में कहीं नहीं फँस जाना ॥ १९ ॥

नेति नेतिगीर्मूर्त्तामूर्त्ते, प्रतिषेधनतः परमवधिम् ।
साधयते यमनन्तमबाधम्, ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि ब्रह्म० (२)।२०।

नेति नेति श्रुति मूर्त्त और अमूर्त्त का प्रतिषेध कर परम अवधि जिस अनन्त अबाध ब्रह्म को बोधित करती है वही तुम हो ॥ २० ॥

अन्नमयादिषु तादात्म्यगतं, यं प्रवृहन्ति बृहन्तमजम् ।
मुञ्जात्सुकविरिषीकामिव सद्, ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि ब्रह्म० २१

अन्नमय प्राणमयादि में तादात्म्य को प्राप्त हुए जिस वृहत् आत्मा को मूँज से इषीक (सींक) के समान खींचकर अलग किया जाता है वही ब्रह्म तुम हो ॥ २१ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु नित्यं, व्यावृत्तास्वप्यनुवृत्तम् ।
व्यावर्त्त्य जडात्स्वस्थमभूद्यद्, ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि (२) ॥२२॥

जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति में जो कि परस्पर पृथक् है अनुवृत्त जिस ब्रह्म को जड़ से अलग कर मानव स्वरूपस्थित होता है वही ब्रह्म तुम हो ॥ २२ ॥

कनकमयं खलु कुण्डलकङ्कणमखिलं कार्यं कनककृतम् ।
यन्मयमेवं जगदखिलमिदं, ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि (२) ॥२३॥

सुवर्णोत्पन्न कङ्कण कुण्डलादि जिस प्रकार सुवर्णमय होता है वैसे ब्रह्म से उत्पन्न जगत् भी ब्रह्ममय है । वही ब्रह्म तुम हो ॥ २३ ॥

चक्षुर्वर्त्ती मण्डलवर्त्ती, योऽसौ सोऽसौ सोऽहमिति ।
व्यतिहृत्य जगुर्वेदविदो यं, ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि (२) ॥२४॥

जो चक्षु में है वही मण्डन (सूर्यमण्डल) में है । जो वह सो मैं । जो मैं सो वह । इस प्रकार व्यतिहार कर जिसको वेदवेत्ता बोलते हैं वही ब्रह्म तुम हो ॥ २४ ॥

यज्ञैर्दानैर्नित्यतपोभिः श्रुत्यनुवचनैरपि सन्तः ।
जिज्ञासन्ते यत् परतत्त्वं ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि (२) ॥२५॥

यज्ञ, दान, तप एवं वेदानुवचन से सन्त जिस परतत्व की जिज्ञासा करते हैं वही ब्रह्म तुम हो ॥ २५ ॥

शान्तो दान्त उपरतो भिक्षुर्द्वन्द्वतितिक्षुः समवहितः ।
श्रद्धालुर्यं पश्यत्यात्मनि ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि (२) ॥२६॥

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित, श्रद्धालु जिसको आत्मा में ही दर्शन करते हैं वह ब्रह्म तुम ही हो ॥ २६ ॥

नित्यं शुद्धमनन्तं बुद्धम्, सत्यं वाङ्मनसाविषयम् ।
आनन्दतनुः स्वप्रभमभयं ब्रह्म परं यत्तत्त्वमसि (२) ॥२७॥

नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अनन्त, सत्य, वाणी मन का अविषय आनन्दस्वरूप स्वयं प्रकाश जो अभय ब्रह्म है वही तुम हो ॥ २७ ॥

इत्थं प्रबोधितो राजा पद्मपादादिभिर्मुदा ।
आत्मानं प्रत्यभिज्ञाय संतोष्य विससर्ज तान् ॥ २८ ॥

पद्मपादादि के द्वारा इस प्रकार प्रवोधित होने पर राजा ने अपनी आत्मा को पहचाना । उन्होंने गायकों को संतुष्ट कर विसर्जन किया ॥२८॥

मूर्च्छां त्वरितमापन्नो निरगच्छत्ततस्तनोः ।
पूर्वं वपुरुपागत्य प्रविवेश त्वरायुतः ॥ २९ ॥

तुरन्त राजा मूर्छित हुए और उस शरीर को छोड़कर पूर्व शरीर में शीघ्र ही प्रविष्ट हुए ॥ २९ ॥

तावन्मन्त्रिभटास्तत्र समागत्यानसुं तनुम् ।
निषिद्धा अपि शिष्यौघैर्बद्ध्वाऽनलमवीविशन् ॥ ३० ॥

तब तक मन्त्रियों के भेजे गये आदमी वहाँ पहुँच चुके थे । शिष्यों के रोकने पर भी आचार्य शरीर को वांधकर अग्नि में प्रवेश करा चुके थे ॥ ३० ॥

तुष्टाव देशिकस्तर्हि वरुणं करुणानिधिम् ।
तुष्टः स शमयामास त्वरितं जातवेदसम् ॥ ३१ ॥

आचार्य ने उस समय वरुण की स्तुति की । संतुष्ट हुए वरुण ने शीघ्र ही अग्नि को शान्त किया ॥ ३१ ॥

ततः सशिष्यः समगान्मण्डनौको जगद्गुरुः ।
दृष्ट्वा संहृष्टवदनो मण्डनस्तमपूजयत् ॥ ३२ ॥

वहाँ से शिष्यों के साथ आचार्य मण्डन के घर आये । मंडन उन्हें देख कर प्रसन्न हुए, उनकी पूजा की ॥ ३२ ॥

स सत्यवाग्दृढप्रज्ञः पतित्वा पदयोः सुधीः ।
गेहदेहादिकं सर्वमाचार्याय न्यवेदयत् ॥ ३३ ॥

सत्यवचन दृढ़प्रज्ञ मण्डन ने आचार्य के चरणों में पड़कर गृहदेहादि सभी आचार्य को निवेदन किया ॥ ३३ ॥

प्रणम्य चरणाम्भोजं प्राह चोभयभारती ।
विजितास्मि न शास्त्रार्थे संप्रत्यास्ते प्रयोजनम् ॥ ३४ ॥

उभयभारती भी आचार्य के चरणों में प्रमाण कर बोली कि मुझे जीत लिया, अब शास्त्रार्थ का प्रयोजन नहीं है ॥ ३४ ॥

सर्वज्ञेन भवेद् भाव्यं गुरुणा भारतीपतेः ।
इत्यकार्षमहं प्रश्नं कामशास्त्रे क्षमस्व तत् ॥ ३५ ॥

भारती पति के गुरु को सर्वज्ञ होना चाहिये इसके लिये कामशास्त्र में मैंने प्रश्न किया । धृष्टता के लिए क्षमा करेंगे ॥ ३५ ॥

अनुज्ञां देहि मे गन्तुमित्युक्त्वामन्त्र्य देशिकम् ।
तत्रैवान्तर्दधे देवी वाग्देव्युभयभारती ॥ ३६ ॥

अब आप मुझे जाने के लिये अनुज्ञा दें ऐसा कह कर आमन्त्रण कर (गुजराती में पधार जो कहना) वाग्देवी उभयभारती वहीं अन्तर्धान हो गयी [द्रष्टव्यः—पहले वनदुर्गामन्त्र से बाँधना बताया था । उस समय जाने को जो तैयार हो गयी थी वह फिर मण्डन पर अर्धविजय का आरोप कैसे लगाती, स्वयं शास्त्रार्थ के लिये तैयार कैसे हुई, फिर अब अनुज्ञा लेकर कैसे चल पड़ी इत्यादि बातें कुछ संशयोत्पादक जैसी हैं । अतएव कुछ मनीषी यहाँ यह कल्पना करते हैं कि भिन्न भिन्न प्रसिद्धियों का माधवाचार्य ने एकत्र संग्रह किया । अर्थात् किसी ग्रन्थ में वनदुर्गामन्त्र से बन्धनपर्यन्त मण्डन कथा समाप्त हो जाती है । दूसरे ग्रन्थ में वनदुर्गा से बन्धन कथा नहीं किन्तु परकायप्रवेशादि सहित अन्त में भारती का गमन है । अस्तु । हम संगति इस प्रकार बैठा कर अब आगे चलेंगे कि प्रथम आचार्य ने मन्त्र से अवरोध किया । तब आचार्य की सर्वज्ञता संपादनार्थ ही अर्धविजय का बहाना बनाकर शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया । परकाय प्रवेशोत्तर सर्वज्ञता सिद्ध होने पर अंशतः आचार्यनिर्दिष्ट स्थान में अपनी शक्ति रखकर स्वरूपतः ब्रह्मलोक गयी । इस प्रकार संगति के बैठाने के बाद बुद्धिवादी जो भी अर्थ कर लें ॥ ३६ ॥

प्रयान्तीं तां गिरां देवीमन्तर्धानगतामपि ।
योगशक्त्या समालोक्य बभाषे भाष्यकृन्मुदा ॥ ३७ ॥

अन्तर्धान होकर जाती हुई भी वाणी देवी को योग शक्ति से भाष्यकार ने देखकर कहा ॥ ३७ ॥

जानामि त्वां गिरां देवीं त्वं विद्या शारदा सती ।
क्षेत्रे त्वमृष्यश्रृङ्गादौ संनिध्यं कल्पय स्वकम् ॥ ३८ ॥

मैं समझता हूँ कि आप वाणी देवी हैं। आप विद्या शारदा सती है। अतएव आप स्वधाम जा रही हैं, तथापि श्रृङ्गेरी आदि क्षेत्रों में आप अपना सांनिध्य बनाये रखेंगे ॥ ३८ ॥

इष्टानर्थान् प्रदेहि त्वं शरणं समुपेयुषे ।
तथेति सा निजं धाम शारदा प्रत्यपद्यत ॥ ३९ ॥

शरणागतों को इष्टवर दिया करें। शारदा भी तथास्तु कह कर स्वधाम पधार गयीं ॥ ३९ ॥

संन्यासशास्त्रविधिना दीक्षयन् मण्डनं गुरुः ।
प्रणवं तत्त्वमस्यादिं प्रथमं समुपादिशत् ॥ ४० ॥

संन्यास दीक्षा देकर आचार्य ने मण्डन को प्रणवमन्त्र एवं तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का उपदेश किया ॥ ४० ॥

ममेति भेदप्रथनान्न देहस्त्वं घटादिवत् ।
दृश्यं देहादिकं सर्वं द्रष्टा साक्षी ततः परः ॥ ४१ ॥

मेरा शरीर ऐसा सब बोलते हैं। जैसे मेरा घर। अतएव मैं शरीर नहीं, वह द्रष्टा है, साक्षी है, दृश्य से परे है ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चापि करणं ममतास्पदम् ।
सौष्ठवं दौष्ठवं चैषां तत्साक्षी पश्यतीतरः ॥ ४२ ॥

'मेरी आँख' 'मेरा मन' इस प्रकार इन्द्रियादि को भी मुझसे पृथक् ही समझते हैं। मेरी आँख अच्छी, खराब, मानो मैं पृथक् होकर इन सबको देख रहा हूँ ॥ ४२ ॥

अहं मां ननु जानामीत्यहंकारपरं वचः ।
अतोऽहंकारतोऽप्यन्यः सिद्ध्येत्सूक्ष्मसमीक्षणात् ॥ ४३ ॥

यद्यपि 'मेरा मैं' ऐसा कोई नहीं बोलता। तथापि मैं मुझे जानता हूँ ऐसा बोलते हैं। अत एव आत्मा अहंकार से भी भिन्न है। परन्तु सूक्ष्म बुद्धि से ही यह भेद मालूम पड़ता है ॥ ४३ ॥

देहेन्द्रियादिभिर्युक्तं त्वमर्थं प्राकृतो वदेत् ।
वाच्यार्थस्तु ततस्तादृक् लक्ष्यार्थस्तु ततः पृथक् ॥ ४४ ॥

प्राकृत मनुष्य देहेन्द्रियादि युक्त को त्वं पदार्थ मानता है, वह वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ तो अलग है ॥ ४४ ॥

सदेव सोम्येत्यारभ्य सर्वहेतुतयोदितः ।
सर्वज्ञः सर्वशक्तश्च तत्पदार्थः श्रुतौ मतः ॥ ४५ ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित सर्वकारण सर्वशक्त श्रुति में तत्पदार्थ कहा है ॥ ४५ ॥

सर्वज्ञाल्पज्ञयोर्नैक्यं कथंचिदुपपद्यते ।
तस्मात्तत्त्वमसीत्यत्र बोधो लक्षणया भवेत् ॥ ४६ ॥

सर्वज्ञ और अल्पज्ञ की एकता नहीं हो सकती। अतः तत्त्वमसि में लक्षणा से ही बोध होगा ॥ ४६ ॥

सोऽयं पुमानितिवचः शुद्धमेकं हि लक्षयेत् ।
भागत्यागेन तद्वद्धि विद्धि तत्त्वमसीत्यपि ॥ ४७ ॥

'सोऽयं पुरुषः' यहाँ सः = तत्कालादिविशिष्ट अयं = एतत्कालादिविशिष्ट इन दोनों की एकता संभव न होने से भागत्याग से शुद्ध देवदत्त का बोध होता है। तत्त्वमसि में भी भागत्याग लक्षणा है ॥ ४७ ॥

तीरात्तीरं चरन्मत्स्यस्तीराद्यद्वत् प्रभिद्यते ।
जाग्रत्स्वप्नादिषु चरंस्त्वमन्यस्तनुतस्तथा ॥ ४८ ॥

एक किनारे से दूसरे किनारे मछली घूमती है। अतएव तीर से मछली भिन्न है। वैसे जाग्रत् शरीर से स्वप्नशरीर, फिर वहाँ से जाग्रत् शरीर से आने वाला आत्मा शरीर से भिन्न है ॥ ४८ ॥

नेदिष्ठं विदुषां यत्तद् दविष्ठं मूढ़चेतसाम् ।
अन्तर्बहिश्च संव्याप्यं मूढाश्चिन्वन्ति वै बहिः ॥ ४९ ॥

जीवात्मा की बात हुई। परमात्मा भी विद्वानों के लिये नजदीक है मूढ़ों के लिये दूर। मूढ उसे बाहर ढूँढ़ते हैं ॥ ४९ ॥

मुमुक्षया विरागेण गुरोः करुणयापि च ।
निर्मलः शक्तिसम्पन्नस्तत्त्वं पश्यति धीरधीः ॥ ५० ॥

मुमुक्षुता, वैराग्य एवं गुरुकृपा से निर्मल एवं शक्तिसम्पन्न होकर धीर पुरुष तत्त्व का दर्शन करते हैं ॥ ५० ॥

गुरुरीशो गुरुः कल्पवल्ली सर्वेष्टसाधिका ।
पालनीया तदीयाज्ञा नित्यं श्रेयोऽभिवाञ्छता ॥ ५१ ॥

गुरु ही परमात्मा है, कल्पवल्ली है, सर्वेष्टदायी है। श्रेय चाहने वालों को चाहिये कि उनकी आज्ञा का पालन करें ॥ ५१ ॥

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
बध्नाति संसृतावीशो मोचयेच्च गुरुस्ततः ॥ ५२ ॥

शिव रुष्ट हो तो गुरु रास्ता निकाल देते हैं। परन्तु गुरु रुष्ट हो तो कौन रास्ता बतावे। ईश्वर जीव को संसार में फंसाता है, गुरु छुड़ाता है ॥५२॥

संसारो हारिणा दत्तो गुरुणा ज्ञानमेव च ।
आच्छादयेद्धरिः स्वं हि गुरुस्तं च प्रकाशयेत् ॥ ५३ ॥

हरि ने संसार दिया। गुरु ने ज्ञान। हरि अपने स्वरूप को ढकते हैं और गुरु उसको प्रकाशित करते हैं ॥ ५३ ॥

ततश्च मण्डनः शान्तो भक्त्या गुरुमपूजयत् ।
अदिशद्देशिकोऽस्याख्यां सुरेश्वर इतीश्वरः ॥ ५४ ॥

तदनन्तर मण्डन ने शान्त भक्ति भाव से गुरुपूजन किया। समर्थ आचार्य ने उनका नाम सुरेश्वर रखा ॥ ५४ ॥

ततः प्रस्थाय भगवान्भाष्यकृद्धर्मरक्षणः ।
श्रीशैलं समनुप्राप्तो यत्रास्ते मल्लिकार्जुनः ॥ ५५ ॥

वहाँ से आचार्य श्रीशैल की ओर प्रस्थान करते हैं जहाँ मल्लिकार्जुन भगवान् है (जो वौद्धों का गढ़ था) ॥ ५५ ॥

स्नात्वा तत्र च कृष्णायां वीक्ष्य चैव सदाशिवम् ।
भाष्याण्यध्यापयामास शिष्यवर्गांश्च भाष्यकृत् ॥ ५६ ॥

कृष्णा नदी में स्नान कर सदाशिव का दर्शन किया। फिर भाष्यकार ने वहीं शिष्यों को भाष्य पढ़ाया ॥ ५६ ॥

पूर्वशैलपरशैलवासिनां चैत्यसोपधिकदैत्यजन्मनाम् ।
अर्दयन् शिवममर्दयन्मतं शंकरोऽखिलशिवंकरो गुरुः ॥५७॥

पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीयरूप में विभक्त चैत्यनामधारी दैत्यावतारों को जगत्कल्याणार्थ सर्वमंगलकारी शंकर ने (शास्त्रार्थ से) मर्दन किया ॥५७॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
सर्गो मण्डनसंन्याससंयुतो दशमो गतः ॥ १० ॥

—:०:—

अथैकादशः सर्गः

अथैकदा समासीनमेकान्ते देशिकेश्वरम् ।
कोऽपि कापालिकोऽभ्यागाद् भैरवः साधुवेषभृत् ॥ १ ॥

एक समय की बात है। आचार्य एकान्त में बैठे हुए थे। साधुवेषधारी कोई भयानक कापालिक वहाँ पहुँचा ॥ १ ॥

चुडामणिं कुण्डलं च मालां गात्रेष्वलंकृतिम् ।
भस्म यज्ञोपवीतं चेत्येवं षाण्मुद्रिकाकृतिः ॥ २ ॥

उसने छः मुद्रायें धारण की थीं—चूड़ामणि, कुण्डल, माला, शरीर में अलंकार, भस्म और यज्ञोपवीत ॥ २ ॥

मस्तिष्कान्त्रवसापूर्णमांसाहुतिभिरर्चयन् ।
कपालस्मदिरापानपारणाभिश्च भैरवम् ॥ ३ ॥

भैरव की अर्चना वह मस्तिष्क, अन्त्र, मेद से पूर्ण मांसों की आहुतियों से तथा कपाल में मदिरपान रूपी पारणा से करता था ॥ ३ ॥

श्मशानवासी योगेन प्राप्तसिद्धिर्महाव्रतः ।
महाभैरवेष्टदेव आचार्यं नम्रवज्जगौ ॥ ४ ॥

वह श्मशान में रहता था। भारी व्रत रखता था। योग से कई सिद्धियों को भी उसने हासिल किया था। नम्रवत् उसने आचार्य से कहा ॥ ४ ॥

भवान् परोपकारैकविभूतिः करुणानिधिः ।
नैजं नैवार्थिनं जातु निवर्त्तयति निष्फलम् ॥ ५ ॥

आपकी विभूतियां परोपकारार्थ हैं, आप दयालु हैं। अपने पास आये अर्थी को कभी निष्फल नहीं लौटाते ॥ ५ ॥

अहं कापालिको नित्यं महाभैरवभर्चये ।
अनेनैव शरीरेण कैलासं गन्तुमिच्छुकः ॥ ६ ॥

मैं कापालिक हूँ । नित्य महाभैरव की अर्चना करता हूँ । इसी शरीर से कैलास जाना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

तुष्टः कदाचिद् दुर्गेष्टः प्राहोपायं घृणानिधिः ।
जुहुयाः सार्वभौमस्य शीर्षं सर्वविदोऽथ वा ॥ ७ ॥

कदाचित् दुर्गापति हर ने तुष्ट होकर दया से उपाय यह बताया कि सार्वभौम राजा के या सर्वज्ञ के सिर को हवन करो ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वान्तरधात्स्थाणुरहं तत्संग्रहे रतः ।
इतस्ततो भ्रमन्नेव नयामि समयं प्रभो ॥ ८ ॥

इतना कह कर भैरव तो अन्तर्धान हो गये । लेकिन मैं उसके संग्रह में इधर उधर भटकता हुआ समय बिता रहा हूँ ॥ ८ ॥

तत्राद्यं सार्वभौमस्य दुर्लभं भुवने शिरः ।
त्वं पुनः सकलज्ञश्च दयालुश्च न संशयः ॥ ९ ॥

इनमें सार्वभौम राजा का सिर तो दुर्लभ है । हाँ आप सर्वज्ञ भी हैं दयालु भी हैं ॥ ९ ॥

यद्यपि स्वेच्छया दद्याच्छिरः को वा निजं नरः ।
तथापि विश्वमिथ्यात्वं पश्यतस्तव न व्यथा ॥ १० ॥

यद्यपि स्वेच्छया अपना सिर कौन दे सकता है । तथापि विश्व को मिथ्या देखनेवाले आपको व्यथा नहीं हो सकती [द्रष्टव्य—यहाँ सूचित होता है कि मुँह से विश्व को मिथ्या कहना कापालिक के लिये भी सरल है] ॥१०॥

निजास्थीनि महेन्द्राय दधीचिर्भगवानृषिः ।
प्रदाय चिरकालाय समियाय यशोऽव्ययम् ॥ ११ ॥

भगवान दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डी इन्द्र को देकर अव्यय कीर्त्ति प्राप्त की [द्र० पौराणिक कथा बोलना भी कापालिक जैसों के लिये कठिन नहीं है] ॥ ११ ॥

जीमूतवाहनश्चैव काद्रवेयदयावशः ।
अर्पयामास कायं स्वमुद्धताय गरुत्मते ॥ १२ ॥

जीमूतवाहन ने भी सर्पों पर कृपा करते हुए अपना शरीर उद्धत गरुड को सौंपा ॥ १२ ॥

परार्थं स्ववपुः केचिद्धारयन्ति भवादृशाः ।
स्वार्थं परवपुः केचिदाददन्ते च मादृशाः ॥ १३ ॥

कोई तो परार्थ अपना शरीर देते हैं, जैसे आप हैं। और कोई स्वार्थ वश दूसरों का शरीर लेते हैं, जैसा मैं हूं ॥१३॥

क्षणिकं नश्वरं विश्वं पश्यतां हि विरागिणाम् ।
भवतां किमदेयं स्यादर्थयद्भ्यो महामते ॥ १४ ॥

समस्त विश्व को क्षणिक नश्वर देखने वाले विरागी आप के लिये अर्थियों को न देने योग्य क्या वस्तु हो सकती है ॥१४॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य स्मयमानमुखाम्बुजः ।
उवाच शृणु योगीन्द्र तथ्यमत्र यदस्ति तत् ॥ १५ ॥

सुन कर मुस्कुराते हुए आचार्य ने कहा—हे योगिराज तथ्य बात सुनिये ॥१५॥

प्रातः समाधिनिष्ठस्य सुखमाहर मे शिरः ।
न प्रकाशं यतः शक्यं जनानां पुरतस्त्वया ॥ १६ ॥

प्रातः जब मैं समधि में होऊँगा तब आराम से सिर ले जाओ। क्योंकि लोगों के सामने प्रकट रूप से यह संभव नहीं है ॥१६॥

शिष्यास्तन्नैव जानीयुर्न मर्षिष्यन्ति ते ध्रुवम् ।
मदेकशरणास्तुभ्यं मोक्तुमर्हन्ति ते कथम् ॥ १७ ॥

विशेषतया शिष्यवर्ग नहीं ही जानें, वे सहन नहीं करेंगे, एकमात्र मेरी शरण में रहने वाले वे आप के लिये मुझे कैसे छोड़ सकते हैं ॥१७॥

शूली त्रिपुण्ड्री कङ्कालमालाधारी सकुण्डलः ।
प्रातरन्येद्युरायातो मदघूर्णितलोचनः ॥ १८ ॥

दूसरे दिन प्रातः काल का समय था। शूल, त्रिपुण्ड्र और हड्डियों की माला पहने हुए वह, मदिरापानमद से जिसकी आंखें चढ़ रही थी, आचार्य के पास उपस्थित हो गया ॥१८॥

आगतं तं विलोक्याग्रे कायं त्यक्तुमना मुनिः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य तस्थौ प्रीत्या समाहितः ।। १९ ।।

भयंकराकार उस कापालिक को आये हुए देख कर अपना शरीर छोड़ने के लिये आचार्य आत्मा में आत्मा को निवेशित कर समाधिस्थ हो गये ।।१९।।

सिद्धासनसमासीनं नासाग्रकृतलोचनम् ।
समकायशिरोग्रीवं महेश्वरमिवापरम् ।। २० ।।
विलोक्य देशिकं हृष्टो नष्टशङ्को नृशंसधीः ।
उद्यतासिर्महाघोरो हन्तुमैच्छत्कपालिकः ।। २१ ।।

आचार्य सिद्धासनासीन थे । उनकी दृष्टि नासाग्र पर थी । शरीर ग्रीवा और सिर सीधे थे । साक्षात् दूसरे शंकर ही दीख रहे थे । उन्हें देखकर हर्ष के साथ निशंक भाव से वह नृशंस भयंकर कापालिक ने हाथ में तलवार उठाकर मारना चाहा ।।२०-२१।।

तथाविधमलोकिष्ट दुष्टं कापालिकं हृदि ।
ध्यानमध्यगतो धीरः पद्मपादो महामुनिः ।। २२ ।।

ध्यानस्थ पद्मपाद ने उसी अवस्था में कापालिक को ध्यानावस्था में हृदय में देखा ।।२२।।

नृहरिं स च सस्मार स्मरतामार्त्तिहं प्रभुम् ।
आविर्बभूव हृदयात् स्तम्भादिव तदा हरिः ।। २३ ।।

पद्मपाद ने उसी समय दुःखहारी नृसिंह भगवान का स्मरण किया । उसी समय जैसे स्तम्भ से पहले प्रकट हुए वैसे पद्मपाद के हृदय से नृसिंह भगवान प्रकट हुए । [द्रष्टव्यः—यद्यपि माधवीय दिग्विजय में स्वयं पद्मपाद नृसिंह स्वरूप हो गये लिखा है । तथापि दूसरों के पूछने पर नृसिंह भगवान कैसे प्रसन्न हुए यह वृत्तान्त उसी अवस्था में पद्मपाद जी सुनाते हैं । स्वयं नृसिंह यह नहीं कह सकते । अतः हृदय से आविर्भाव ही युक्त होने से यहाँ वैसा लिखा गया] ।।२३।।

उग्रः सटाच्छटाऽऽस्फोटस्फोटिताभ्रपरिभ्रमः ।
अदभ्रवपुरुग्राक्षः कापालिकमरूरुधत् ।। २४ ।।

नृसिंह भगवान् बड़े भयानक थे। जटा समुदाय के आघात से मेघों को तितर बितर कर रहे थे। विशालकाय थे। उनके नेत्र बड़े ही उग्र थे। कापालिक को सहसा उन्होंने रोक दिया ॥२४॥

निपात्य भुवि तं भीमो विददार नखाग्रतः।
क्षणमात्रेण तद्वक्षो ननर्द च मुहुर्मुहुः॥ २५ ॥

नृसिंह भगवान ने कापालिका को नीचे पटका और छाती फाड़ डाली। फिर जोर से गर्जन करने लगे ॥२५॥

श्रुत्वा तं भैरवं नादमाजग्मुः सकला जनाः।
वीक्ष्य वृत्तान्तमखिलमाश्चर्यान्वयिनोऽभवन् ॥ २६ ॥

उस भयंकर नाद को सुनकर सभी दौड़ आये और घटना देखकर आश्चर्यान्वित हो गये ॥२६॥

कथं प्रसादितः श्रीमान्नृसिंहो भगवानिति।
सविस्मयैः स्निग्धजनैः पृष्टः प्राह सनन्दनः॥ २७ ॥

आपने नरसिंह भगवान को कैसे प्रसन्न किया। ऐसा विस्मयपूर्वक स्नेहियों ने पूछा तो सनन्दन बोले ॥२९॥

पुरा बलाचले पुण्यमरण्यं किंचिदाश्रितः।
भक्तवश्यं नरहरिं ध्यायंश्चानेष्यहर्गणान् ॥ २८ ॥

मैंने पहले बलाचल में एक पवित्र जंगल में नरहरि भगवान का बहुत दिनों तक ध्यान किया ॥२८॥

किमर्थमत्र वससीत्येवं पृष्टश्च केनचित्।
किरातयूना प्रावोचं प्रत्युत्तरमहं वचः॥ २९ ॥

क्यों यहां वास करते हैं, ऐसा एक किरात के लड़के ने पुछा तो मैंने उत्तर दिया ॥२९॥

आकण्ठं मर्त्त्यमूर्त्तिर्यः कण्ठात्कण्ठीरवाङ्गयुक्।
तं मृगं मृगयेऽरण्ये न च पश्यामि कुत्रचित्॥ ३० ॥

गले तक मानव और ऊपर सिंह ऐसे मृग को मैं ढूंढ रहा हूँ लेकिन मिलता नहीं ॥३०॥

इतीरितः क्षणादेष प्रविश्य गहनं वनम् ।
निबध्य गाढं वल्लीभिरानयन्नृहरिं पुरः ॥ ३१ ॥

इतने कहते ही वह जंगल में जाकर क्षण में लताओं से बांधकर सामने नरहरि को लाया ॥३१॥

महर्षिभिरदृश्योऽपि वनेचरवशंगतः ।
कथं भवानिति मया हरिर्विज्ञापितोऽब्रवीत् ॥ ३२ ॥

बड़े बड़े महर्षि जिनका दर्शन नहीं कर पाते वे आप एक वन चर के वश में कैसे ? ऐसा मेरे पूछने पर नृसिंह बोले ॥३२॥

यथैकाग्रधियानेन ध्यातो नान्येन केनचित् ।
इत्युक्त्वा मयि कृत्वा च प्रसादं स तिरोदधौ ॥ ३३ ॥

जिस एकाग्रता से इसने मेरा ध्यान किया वैसा किसी ने नहीं किया, इतना कह कर मुझे आशीर्वाद देकर भगवान अन्तर्धान हो गये ॥३३॥

श्रुत्वा सनन्दनवचो जग्मुः प्रीतिमनुत्तमाम् ।
जगर्ज च महासिंहो दलयन्नखिलं जगत् ॥ ३४ ॥

सनन्दन का वचन सुनकर सभी प्रसन्न हुए। इधर नृसिंह भगवान जोर से गरजने लगे मानो कि जगत् का प्रलय ही होगा ॥३४॥

समाधिचलितस्तेन रवेण महता गुरुः ।
उन्मील्य नेत्रे पुरतोऽपश्यन्नरहरिं प्रभुः ॥ ३५ ॥

उस आवाज से आचार्य समाधि से चलित हुए । नेत्र खोलकर देखा तो सामने नरसिंह भगवान् दिखाई पड़े ॥१५॥

सहस्रसूर्यप्रतिमं चन्द्रिकाप्रस्फुलत्सटम् ।
वक्रेन्दुवक्रदंष्ट्रोग्रं ज्वालाजिह्वाभयंकरम् ॥ ३६ ॥
विनर्दन्तं पुरोऽकाण्डब्रह्माण्डप्रलयंकरम् ।
दृष्ट्वा नृहरिमैडिष्ट देशिको हर्षसंप्लुतः ॥ ३७ ॥

नरहरि भगवान् सहस्र सूर्य के समान तेजस्वी थे। चन्द्रिका के समान उनकी जटा थी। द्वितीया चन्द्रमा के समान दंष्ट्रायें थीं। ज्वाला के समान जिह्वा दीख रही थी। जोर से गरज रहे थे। अकस्मात् ही ब्रह्माण्ड का

प्रलय हो जाय ऐसी स्थिति हो रही थी। ऐसे नृसिंह भगवान् को देखकर हर्षयुक्त आचार्य ने स्तुति की ॥३६-३७॥

नृहरे हर कोपं स्वमहितो निहतो बली।
करुणां कुरु सर्वेश जगदेति भयं महत् ॥ ३८ ॥

हे नृहरे ! आप कोप का परित्याग करें। वलवान् शत्रु तो नष्ट हो ही गया। आप जगत् के ईश्वर हैं, करुणा करो। जगत् भय को प्राप्त हो रहे हैं ॥३८॥

सत्त्वमूर्त्ते जगन्मूर्त्ते जगदेकाश्रय प्रभो।
मा विश्वविलयं कार्षीः कथं हरगुणो हरौ ॥ ३९ ॥

आप सत्त्वगुण के मूर्ति हैं। जगत् आपका शरीर है। जगत् के आप एकाश्रय हैं। विश्वविलय न करें। रुद्र का गुण तमोगुण – संहारादि हरिमें कैसे ? ॥३९॥

मुक्तो भवति मुक्त्वा स्वं वपुस्त्वां संस्मरन्नरः।
भवता भैरवोऽप्येष हतो न स्यात्पुनर्भवी ॥ ४० ॥

आपका स्मरण कर जो नर अपना शरीर छोड़ता है वह अवश्य मुक्त होता है। इस भैरव कापालिक को आप ने मारा। इसे भी अव पुनर्जन्म न होगा। (क्योंकि मरते समय इसने आपका स्मरण क्या दर्शन ही किया) ॥४०॥

स्तम्भादाविर्भवन् भावं व्यापकं स्वमदर्शयः।
विश्वात्मतां पञ्चजनपञ्चाननतनुं दधत् ॥ ४१ ॥

स्तम्भ से आविर्भूत होकर आपने यह दिखाया था कि आप सर्वत्र व्यापक हैं। मनुष्य और पशु-नरसिंह रूप दिखाने का मतलब यही था कि आप ही सर्व-रूपधारी हैं ॥४१॥

हृद्यन्तःस्थोऽपि बाह्यस्थोऽस्युपाधिकलितात्मना।
असंवेद्योऽपि संवेद्योऽस्यस्तिभातिप्रियात्मना ॥ ४२ ॥

आप हृदय के अन्तःस्थित होने पर भी बाह्यस्थ भी हैं। उपाधिवशात् दोनों युक्त है। असंवेद्य होने पर भी समस्त जगत् में अस्ति भाति प्रिय रूप से संवेद्य हैं ॥४२॥

भव प्रशान्तो भगवन् रक्ष सर्वमिदं जगत् ।
अभयं यच्छ लोकेभ्यः शोकेभ्यस्तारयाखिलान् ।। ४३ ।।

हे भगवन् ! आप शान्त हों, समस्त जगत् की रक्षा करें, प्राणियों को अभय दें, सबको शोकमुक्त करें ।।४३।।

इति स्तुतो देशिकेन प्रशान्तो नरकेसरी ।
पद्मपादहृदम्भोजे पुनरन्तरधात् प्रभुः ।। ४४ ।।

इस प्रकार आचार्य की स्तुति से नृसिंह भगवान् प्रशान्त हुए और पद्मपाद के हृदय में अन्तर्धान हो गये ।।४४।।

गुरुणा न्यदर्शि निजनिर्ममता
गुरुदेवभक्तिरितरेण तथा ।
प्रशमं ययौ च सकलोऽपि जनः
प्रशशंस भूरि गुरुशिष्ययुगम् ।। ४४ ।।

गुरु ने शरीर प्रदान कर अपनी निर्मोहिता का दृष्टान्त सामने रखा । गुरु में और देव में भक्ति का शिष्य ने दृष्टान्त रखा । सभी लोग शान्त हो गए और गुरु शिष्य की प्रशंसा करने लगे ।।४५।।

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
सर्गश्चैकादशो यातः कापालिकवधान्वितः ।। ११ ।।



अथ द्वादशः सर्गः

अथ तीर्थाटनव्याजाल्लोकानभ्युद्धरन् गुरुः ।
महाबलेश्वरक्षेत्रं गोकर्णमुपसेदिवान् ।। १ ।।

आचार्य तीर्थाटन के बहाने जगत् का उद्धार करने के लिये महाबलेश्वर क्षेत्र गोकर्ण पहुँचे ।।१।।

आराध्य तत्र गिरिशं सर्वाभीष्टफलप्रदम् ।
ययौ हरिहरक्षेत्रं वैकुण्ठरजताद्रिभम् ।। २ ।।

गोकर्ण में सर्वेष्टदायी शंकर की पूजा कर वहाँ से हरिहर क्षेत्र आये जो वैकुण्ठ और कैलास उभयरूप था ॥२॥

तुष्टाव पद्यैः श्लिष्टार्थैर्देशिको हरिशंकरौ ।
सर्वकामप्रदौ देवावेकीभूय व्यवस्थितौ ॥ ३ ॥

हरि और हर दोनों वहाँ एक होकर स्थित हैं। आचार्य ने श्लिष्टार्थक (द्व्यर्थक) पद्यों से दोनों की स्तुति की ॥३॥

मैनेन महसा युक्तं गामवन्तं च शाश्वतीम् ।
अब्धिजन्मकराश्लिष्टं वन्देऽहं परमेश्वरम् ॥ ४ ॥

हरिपक्ष में:—मैनेन = मीनावतारीय, तेज संयुक्त शाश्वतीं गां = पृथिवी देवी की अवतारादि से रक्षा करने वाले अब्धिजन्मा = लक्ष्मी के कर = हाथों से आश्लिष्ट = आलिङ्गित भयवान हरिको प्रणाम करता हूँ। हरपक्षमें:— मैनेन = मेना से उत्पन्न पार्वती रूपी तेज से युक्त शाश्वतीं गां = नित्यवाणी वेद की, रक्षा करने वाले अब्धिजन्म = चन्द्रमा के कर = किरणों से आश्लिष्ट व्याप्त भगवान शंकर को मैं प्रणाम करता हूं ॥४॥

सजयो रावणो भूत्वा यस्यानुग्रहलेशतः ।
वशीचकार भुवनं तं नमामि प्रभुं परम् ॥ ५ ॥

विष्णुपक्ष में सः = वह जय = जयनाम का पार्षद रावणो भूत्वा रावण बनकर ! शिवपक्ष में रावण सजयो = जयी विजयी भूत्वा = होकर। शेष समान। रावण जिसके अनुग्रह से भुवन को वश में किया उस प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥५॥

नागसंवेष्टिततनुं नृत्यन्तं नटतां वरम् ।
उदञ्चितपदाम्भोजं प्रणमामि जगद्गुरुम् ॥ ६ ॥

विष्णुपक्ष में—कालियमर्दन के समय सर्प से वेष्टित शरीर नृत्य करते हुए पांव को उठाकर खड़े नटवर नागर जगद्गुरु भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ। हर पक्ष में—भूषण के रूप में नाग संवेष्टित शरीर ताण्डव नृत्य करने वाले उद्गतपाद नटवर जगद्गुरु शंकर को प्रणाम करता हूं ॥६॥

यः क्वापि भिक्षुकः क्वापि पतिर्गोवाहनः प्रभुः ।
स्त्रीजनान्तेऽपि कन्दर्पदर्पहा तं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

विष्णुपक्ष में:—जो कहीं पर (बलिमखादि में) भिक्षुक और कहीं जगत्पति, कहीं गायों को जंगल ले जा कर चराने वाले तथा गोपियों के मध्य में (रासादि प्रसंग में) कामदेव के दर्प को नष्ट करने वाले हैं, उन प्रभु को मैं प्रणाम करता हूँ। शिव पक्ष में:—कभी खप्पर हाथ में लेकर भिक्षा ले रहे हैं और कहीं जगत्पति है। कहीं वृषभवाहन है। पार्वती के समीप में ही कामदेव को भस्म करने वाले प्रभु को मैं प्रणाम करता हूँ ॥७॥

चन्द्रान्वयिनमीशानं देवं गिरिविलासिनम्।
विश्वनाथं जगन्नाथं वन्दे भक्तसुरद्रुमम् ॥ ८ ॥

विष्णुपक्ष में—चन्द्रवंश में जन्म लेने वाले, गोवर्धन गिरिपर खेलने वाले विश्व के नाथ, पुरीक्षेत्र में जगन्नाथ, भक्तकल्पद्रुम भगवान की मैं वन्दना करता हूँ। शिवपक्ष में:—चन्द्र से अन्वयी = संयुक्त कैलासगिरि पर शोभायमान, जगत् के नाथ, काशीक्षेत्र में विश्वनाथ, भक्तकल्पद्रुम ईशान शंकर की मैं वन्दना करता हूँ ॥८॥

ततो मूकाम्बिकास्थानं कोलापुरसमाह्वयम्।
प्रतस्थे देशिकः सार्धं शिष्यैः प्रणतमस्तकैः ॥ ९ ॥

वहाँ से अचार्य ने शिष्यों के साथ कोल्लूरमूकाम्बिका क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया ॥९॥

तत्रैका सरणीमध्ये द्विजपत्नी महामतिः।
ननाम पदयोर्भक्त्या देशिकस्य महात्मनः ॥ १० ॥

वहाँ मार्ग में एक मनस्विनी व्राह्मण पत्नी ने आचार्य के चरणों में भक्ति से प्रणाम किया ॥१०॥

तामयूयुजदाशीर्भिः सपुत्रा सुभगा भव।
विधवा मृतवत्सा सा रुरोदाचार्यपादयोः ॥ ११ ॥

आचार्य ने आशीर्वाद दिया तुम सपुत्रा सौभाग्यवती हो। किन्तु वह विधवा थी और उसका पुत्र मर चुका था अतः वह रोने लगी ॥११॥

तद् दृष्ट्वा दयया युक्तोऽमज्जच्छोकाम्बुधौ बुधः।
अशरीरा तदा वाणी प्रवृत्ता शृण्वतां सताम् ॥ १२ ॥

उसे देखकर दयालु आचार्य शोकमग्न हुए। तब सबके सुनते अशरीर वाणी हुई ॥१२॥

अशक्तस्य दया नाम दुःखायैवोपकल्पते ।
वचश्चैव भवेन्मिथ्या किं नु कष्टमतः परम् ॥ १३ ॥

अशक्त की दया दुःख का मूल है। और उसका वचन भी मिथ्या पड़ जाता है। इससे बढ़कर क्या कष्ट हो ॥१३॥

सत्यं जगत्त्रयीरक्षादीक्षस्यैव तव प्रभो ।
शोभतां करुणात्रेति देशिकोऽवददूर्ध्वदृक् ॥ १४ ॥

आचार्य ने ऊपर की ओर दृष्टि कर कहा:—हे प्रभो आपका वचन सत्य है। तीनों जगत् की रक्षा करने के लिए व्रतधारी आपकी ही करुणा की यहाँ शोभा है ॥१४॥

तदोन्मील्य स्वनयने सुप्तोत्थित इवार्भकः ।
उदतिष्ठद्यतः सर्वे परमं विस्मयं ययुः ॥ १४ ॥

सबको तब आश्चर्य हुआ जब वह मृत बालक आचार्य की प्रार्थना के साथ ही सोकर उठे के समान आँख खोलकर उठ खड़ा हुआ ॥१४॥

सिद्धिदं विबुधाराध्यं श्यामकाननमध्यगम् ।
मूकाम्बिकायाः सदनमध्यगादथ देशिकः ॥ १५ ॥

समस्त सिद्धिप्रद, विद्वत्सेवित, श्यामवनमध्यस्थ मूकाम्बिका क्षेत्र में वहाँ से आचार्य आये ॥१५॥

तत्र चाराधयामास जगदम्बां परात्पराम् ।
अस्तवीच्च जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकारिणीम् ॥ १६ ॥

आचार्य ने वहाँ परात्परा जगदम्बा माता की आराधना की और सृष्टि-स्थिति लयकारिणी माता की इस प्रकार स्तुति की ॥१६॥

पारे परार्धं त्वत्पादकिरणाः स्वरुणादयः ।
षष्ठ्यूर्ध्वत्रिशतं रोचींष्याविश्यैते चकासति ॥ १७ ॥

हे मातः ! स्वरुणादि आपके चरणकिरण परार्ध से भी परे हैं। वे तीन सौ साठ मुख्य किरणों को प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं ॥१७॥

अष्टात्रिंशत्कलास्तासु पञ्च प्राहुर्निवृत्तिदाः ।
या बोधिनी धारिणी च क्षमा चाप्यमृतापि च ॥ १८ ॥

मानदेति च विख्याता निवृत्तिपरमाः कलाः ।
तासामुपरि पादाब्जं द्योतमानं भजामहे ।। १९ ।।

अड़तीस कलायें हैं। उनमें पांच निवृत्तिदायी हैं। बोधिनी, धारिणी, क्षमा अमृता और मानदा ये निवृत्तिपर हैं। इनके ऊपर विराजमान आपके चरण कमल का हम भजन करते हैं।।१८-१९।।

मूलाधारे रक्तवर्णे पृथ्वीतत्त्वं वसंदले ।
स्वाधिष्ठाने च सिन्दूरे चाग्नितत्त्वं बलंदले ।। २० ।।
मणिपूरे नीलवर्णे जलतत्त्व डफंदले ।
अनाहते चारुणाभे वायुतत्त्वं कठंदलें ।। २१ ।।
विशुद्धौ च नभस्तत्वं धूम्रे अंअःदले स्थितम् ।
आज्ञायां च महत्तत्वं श्वेते हंक्षंदलेऽम्बुजे ।। २२ ।।
मूर्ध्नि स्याच्छिवतत्त्वं च सहस्रदलपङ्कजे ।
एवं तत्त्वात्मिकां देवीं त्रिपुरां भावये हृदि ।। २३ ।।

मूलाधार में रक्तवर्ण चतुर्दल कमल है। व से स तक—'वंशंषंसं' ये वर्णात्मक दल हैं, उसमें पृथिवीतत्त्व के रूप में पराम्बा रहती है। स्वाधिष्ठान में सिन्दूरवर्ण बं इत्यादि लं पर्यन्तवर्णयुक्त षड्दलकमल में अग्नितत्त्व रूप से, मणिपूर में नीलवर्ण डं ढं—फं दलवाले कमल में जलतत्त्वरूप से, अनाहत में अरुण वर्ण कं—ठं दलवाले कमल में वायु तत्त्व के रूप में, धूम्रवर्ण अं—अः दलवाले कमलमें आकाशतत्त्व के रूप से, आज्ञा में श्वेतवर्ण हंक्षं दलवाले कमल में महत्तत्त्व के रूप से और मूर्धा में सहस्रार कमल में शिवतत्त्व के रूप से विराजमान त्रिपुरा देवी का हम हृदय में ध्यान करते हैं [द्रष्टव्यः—योगसिद्धान्त में स्वाधिष्ठान में जलतत्त्व और मणिपूर में अग्नितत्त्व है] ।। २०-२३ ।।

आधारे भोगकामाश्च स्वाधिष्ठाने ततः परे ।
मणिपूरे बहिःस्थाश्च त्वामम्ब समुपासते ।। २४ ।।

मूलाधार में भोग की कामनावाले, जो उनसे ऊपर उठे हैं वे स्वाधिष्ठान में और मणिपूर में आपके धाम के बाहर तक पहुँचे हुए लोग आपकी उपासना करते हैं ।।२४।।

त्वत्पुरान्तर्गतास्ते ये भजन्ति त्वामनाहते ।
विशुद्धौ तव सामीप्यमाज्ञाचक्रे सरूपताम् ॥ २५ ॥

अनाहत में उपासना करने वाले आपके धाम के अंदर पहुँच चुके होते हैं। विशुद्धि में सामीप्य तथा आज्ञा चक्र में सारूप्य प्राप्त हुए होते हैं ॥२५॥

सहस्रपत्रकमले त्वां भजन्तो महाधियः ।
चतुर्विधैक्यानुभवात्सायुज्यं यान्ति तत्पराः ॥ २६ ॥

सहस्र पत्र कमल में उपासना करने वाले धीमान् चार प्रकार की एकता का अनुभव करते हुए सायुज्य को प्राप्त होते हैं ॥२६॥

ऐक्यं श्रीचक्रषट्चक्रद्वयस्याद्यं परस्परम् ।
श्रीचक्रमन्त्रयोः पश्चात्त्वया च ध्यायते बुधैः ॥ २७ ॥

प्रथम श्रीचक्र और षट्चक्र की एकता का फिर श्रीचक्र और मन्त्र की बाद में आपके साथ सबकी एकता का ध्यान आगमज्ञ करते हैं ॥ [द्रष्टव्यः— आगमशास्त्रीय विधान अत्यन्त विस्तारपूर्वक है। यहाँ यह लेशमात्र कहा गया है] ।

उषित्वा तत्र चाचार्यः किंचित्कालमुदारधीः ।
ततो जगाम च ग्रामं श्रीबलीत्यभिधं गुरुः ॥ २८ ॥

उदारमति आचार्य कुछ काल कोलापुर मूकाम्बिका क्षेत्र में निवास कर वहाँ से श्रीवलि ग्राम की ओर चले ॥२८॥

तत्र प्रभाकरो नाम द्विजेन्द्रः सर्वशास्त्रवित् ।
प्रवृत्तिशास्त्रनिरतो धनधान्यसमन्वितः ॥ २९ ॥

वहाँ प्रभाकर नाम का एक विप्र था। जो सर्वशास्त्र वेत्ता, कर्मठ एवं धनधान्यसंपन्न था ॥२९॥

तत्पुत्रः शान्तगम्भीरः क्षमायुक् स्मरसुन्दरः ।
न चेष्टते न हसति जडवन्नाभिभाषते ॥ ३० ॥

प्रभाकर का पुत्र बड़ा शान्त, गंभीर, क्षमाशील एवं सुन्दर था। किन्तु जड़ के समान चेष्टारहित था, न हँसता था, न बोलता था ॥३०॥

तच्चिन्तया पितुस्तस्य प्रीणन्ति न गृहादयः ।
स शुश्राव समायातं देशिकं शिष्यसंवृतम् ॥ ३१ ॥

पुत्र की चिन्ता से प्रभाकर को गृहादि अच्छे नहीं लगते थे। उन्होंने शिष्य सहित आचार्य का आगमन सुना ॥३१॥

रिक्तहस्तो हि नोपेयाद् गुरुं राजानमेव च।
इति सोपायनो गत्वा प्राणमत्ससुतो द्विजः ॥ ३२ ॥

रिक्त हस्त होकर राजा और गुरु के पास न जाना चाहिये। इसलिए भेंट साथ में लेकर पुत्रसहित प्रभाकर आचार्य के पास पहुँचे [रिक्त हस्त होकर नहीं जाना चाहिये इसका कारण एक यह है कि साधारण गुरु लोग शिष्यों की भेंट पर जीते हैं अतः शिष्य के आते ही पहले यही देखते हैं कि यह कुछ लाया है या नहीं। और राजा लोभी होते हैं, परधनजीवी होते हैं, अतः वे भी कोई पास में आ जाय तो यही देखते हैं कि कुछ लाया है या नहीं॥ क्या इस स्मृति का द्वितीय अंश आज कल की लाज रिश्वत की अवैधता के लिये चुनौती नहीं ? रिश्वत के रूप में नहीं सही किन्तु भेंट के रूप में सरकारी आदमियों को कुछ देना चाहिये यह अर्थ इस स्मृति से नहीं निकलता ? उत्तर यही है कि गुरु भगवतरूप और राजा देवांश माने जाते थे। अतः उक्त विधान है] ॥ ३२ ॥

पित्रा स नमितो बालो देशिकाङ्घ्रिसरोजयोः।
नोत्तस्थौ प्रकटं स्वीयं जाड्यं संदर्शयन्निव ॥ ३३ ॥

प्रभाकर ने पुत्र को आचार्य चरण में नमस्कार कराया तो सिर लगा कर पांवों में पड़ा ही रह गया। उठा ही नहीं। मानो कि अपनी जड़ता को प्रकट ही उसने दिखाया ॥३३॥

देशिकेन शनैस्तस्मिन् करेणोत्थापिते शिशौ।
उवाच तत्पिता कस्माज्जाड्यमस्य वद प्रभो ॥ ३४ ॥

आचार्य ने अपने हाथ से उसे धीरे से उठाया तो प्रभाकर ने पूछा कि हे प्रभो ! इसकी ऐसी जड़ता क्यों है ॥३४॥

त्रयोदशाब्दो बालोऽयं नाध्यैष्ट न च खेलति।
शठैर्बालैस्ताड्यमानो नैति रोषं न रोदिति ॥ ३५ ॥

तेरह साल का यह लड़का है। न तो इसका मन अध्ययन में है और न खेल में। शरारती लड़के इसे पीटते हैं तो भी यह न तो रुष्ट होता है और न रोता ही है ॥३५॥

भुङ्क्ते जातु न भुङ्क्ते च प्रसन्नो वर्त्ततेऽनिशम् ।
इति द्विजेन गदित आचार्यो बालमब्रवीत् ।। ३६ ।।

कभी यह भोजन करता है और कभी नहीं भी करता है। हमेशा प्रसन्न रहता है। ऐसा कहने पर आचार्य ने उससे पूछा ।।३६।।

कस्त्वं कस्य कुतो गन्ता किं नाम कुत आगतः ।
कथं च जडवल्लोके वर्तसे ब्रूहि मेऽखिलम् ।। ३७ ।।

तुम कौन हो ? किसके हो ? कहाँ जाना है ? आये कहाँ से ? क्यों जड़ के समान रहते हो। यह सब मुझे बताओ ।।३७।।

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा नाहं मर्त्यो न देवता ।
वर्णी गृही वनी न्यासी नाहं सोऽहं शिवः स्वयम् ।। ३८ ।।

बालक ने कहा—मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं। मैं मर्त्य या देवता नहीं। मैं ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ या संन्यासी नहीं। मैं वही हूँ, शिव हूँ ।।३८।।

नाहं जडो जडः सर्वः सांनिध्यान्मम जीवति ।
शोकमोहक्षुधोदन्याजरामृत्युविवर्जितः ।। ३९ ।।

मैं जड़ नहीं किन्तु जड़पदार्थ सभी मेरे संनिध्य से जी रहे हैं। शोक, मोह, क्षुधा, पिपासा, जरा और मृत्यु इन छः विकारों से मैं रहित हूँ ।।३९।।

दर्पणेन मुखाभासश्चिदाभासस्तथा धिया ।
उपाधिविगमेऽभिन्नं मुखं चिद्वावशिष्यते ।। ४० ।।

दर्पण से मुखाभास उत्पन्न होता है। वैसे बुद्धि से चिदाभास उत्पन्न होता है। उपाधि के निकलने पर जैसे केवल मुख अवशिष्ट रहता है वैसे चित् अवशिष्ट रहता है ।।४०।।

वागादेरपि वागादिरेको नानावभासते ।
शरावाद्युदके भानुरेक एव ह्यनेकवत् ।। ४१ ।।

वह आत्मा वागादि का भी वागादि है। एक होने पर भी नाना दीखता है। जैसे घट कुल्लडादि जल में एक सूर्य अनेक सा दीखता है ।।४१।।

घनच्छन्नदृगर्कं हि घनच्छन्नं विलोकते ।
तथा बद्धवदाभाति मूढस्यात्मा न तद्विदः ।। ४२ ।।

दृष्टि मेघ से आवृत होती है तो लोग समझते हैं सूर्य ही मेघ से आवृत हो गया। वैसे ही अन्तःकरण बद्ध होता है। मूढ़ आत्मा को बद्ध मानता है। ज्ञानी नहीं ॥४२॥

इत्युक्त्वोपरते तस्मिञ्जगाद यतिभूपतिः ।
नात्र वस्तुं जडो योग्यो जडस्यानुपयोगतः ॥ ४३ ॥

इतना कह कर बालक उपरत हुआ (प्रभाकर अतिशयित आश्चर्य में पड़ा हुआ था) आचार्य ने कहा यह जड़ यहाँ रहने योग्य नहीं है। जड़ का क्या उपयोग है ॥४३॥

पूर्वाभ्यासवशात्सम्यग् ज्ञाततत्त्वः परार्थवित् ।
देहादिमपि नात्मीयं नात्मानं वैष पश्यति ॥ ४४ ॥

(जड़ का अर्थ या निशा सर्वभूतानां के अनुसार संसार के विषय में जड़ है। और वस्तुतः) यह पूर्वाभ्यास के कारण तत्त्व के ज्ञाता हैं, परमार्थवेत्ता हैं। यह शरीरादि को भी न तो अपना समझता है, न आत्मा ही समझता है ॥४४॥

हस्तामलकवत्तत्त्वं यत एष प्रपश्यति ।
हस्तामलक एवायं नाम्ना चास्तु महायशाः ॥ ४५ ॥

हाथ में रखे आँवले के समान यह परमार्थतत्त्व को देखता है। अतएव इसका नाम हस्तामलक ही हो ॥४५॥

तं चादाय गुरुर्बालं साश्चर्यं द्विजवन्दितः ।
तुङ्गभद्रापगातीरशोभं शृङ्गगिरिं ययौ ॥ ४६ ॥

प्रभाकर आश्चर्यान्वित होकर आचार्य के चरणों में नतमस्तक थे। उस बालक को लेकर आचार्य वहाँ से तुङ्गभद्रातीरशोभी शृङ्गेरी की ओर चले ॥४६॥

अध्यापयंश्चिरं तत्र भाष्यादीन्देशिकाग्रणीः ।
प्रासादं शारदाम्बाया देवताया अकल्पयत् ॥ ४७ ॥

शृंगेरी में रहते हुए आचार्य ने शिष्यों को भाष्यादि पढ़ाया। और वहाँ शारदाम्बा का एक देवालय भी बनवाया ॥४७॥

कश्चिद्विनेयः सेवैकनिरतस्तनुवागभूत् ।
शिष्यो देशिकवर्यस्य तोटकं यं प्रचक्षते ॥ ४८ ॥

आचार्य का एक विनयग्राही सेवानिरत अल्पभाषी शिष्य था जिसको तोटक कहते थे ॥४८॥

देशिकायासनं नित्यं तनोत्युच्चैर्मृदु स्थितौ ।
वस्त्राणि मार्ष्टि च्छायेव नित्यं समनुवर्त्तते ॥ ४९ ॥

नित्य ही आचार्य के लिये बैठने का मुलायम आसनादि बिछावे। वस्त्र धोवे और छाया के समान अनुवर्त्तन करे ॥४९॥

न जृम्भते गुरोः पार्श्वे न प्रसारयते पदौ ।
बहु नो भाषते, नाग्रे पृष्ठदर्शी च तिष्ठति ॥ ५० ॥

गुरु के पास कभी जंभाई नहीं लेते, पाँव नहीं फैलाते, बहुत बोलते नहीं और आगे पीठ दिखाकर खड़े नहीं होते ॥५०॥

शाटीप्रक्षालने यातं वीक्ष्य नायातमेव च ।
विललम्बेऽध्यापनाय तिष्ठत्स्वन्येषु देशिकः ॥ ५१ ॥

वस्त्र धोने के लिये गये हैं लेकिन लौटे नहीं देखकर अध्यापन प्रारम्भ करने के लिये तोटक की प्रतीक्षा में आचार्य विलम्ब करने लगे ॥५१॥

शान्तिपाठाय शिष्येषु प्रोद्यतेषु सुबुद्धिषु ।
स्थीयतां गिरिरायात्वित्येवं संन्यरुणद् गुरुः ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान अन्य शिष्यों ने शान्तिपाठ करने के लिये उद्यत हुए तो आचार्य ने कहा—ठहरो गिरि को आने दो ॥५२॥

मन्दो ह्यनधिकार्येष इति संसूचयंस्तदा ।
पद्मपादोऽप्रतीक्षायै ददृशे भित्तिमिङ्गयन् ॥ ५३ ॥

तोटक मन्द बुद्धि है, अनधिकारी है, भित्ति के समान जड़ है, यह सूचित करते हुय पद्मपाद भित्ति की ओर इशारा करने लगे ॥५३॥

तस्य गर्वं निराकर्त्तुं करुणापूर्णमानसः ।
दिदेश गिरये विद्याः सद्यः शक्त्या हि देशिकः ॥ ५४ ॥

पद्मपाद के अभिमान को दूर करने के लिए आचार्य ने अपनी शक्ति से गिरि (तोटक) को समस्त विद्यायें दीं ॥५४॥

ब्रुवंस्तोटकवृत्तेन विद्यां प्रकटयन् पराम् ।
आससाद गिरिस्तत्र कृतवस्त्रप्रमार्जनः ॥ ५५ ॥

परा विद्या को प्रकट करने वाले तोटकवृत्त से बोलते हुए गिरि वस्त्र धोकर वहां पहुँच गये ॥५५॥

तस्याकर्ण्य च वाग्गुम्फं श्रुत्यन्तार्थनिगुम्फितम् ।
स्मयं त्यक्त्वा विस्मयं ते ययुः पद्मपादादयः ॥ ५६ ॥

वेदान्तार्थपूर्ण तोटक वचन सुनकर पद्मपादादि के मन में स्मय (अभिमान) के बदले विस्मय होने लगा ॥५६॥

भक्त्युत्कर्षात् प्रादुरासंस्तोटकच्छन्दसा गिरेः ।
पद्यानि तोटकाचार्यं ततः शिष्टास्तमूचिरे ॥ ५७ ॥

भक्ति के उत्कर्ष के कारण तोटक छन्द से पद्य निकले। इस लिये शिष्टों ने उनको तोटकाचार्य कहना शुरू किया ॥५७॥

पुमर्था इव धर्माद्या वेदा इव ऋगादयः ।
मुखानीव विधेरासंश्चत्वारस्तोटकादयः ॥ ५८ ॥

धर्मादि पुरुषार्थ के समान ऋगादि वेदों के समान और ब्रह्मा के मुख के समान तोटकादि चार शिष्य हुए ॥५८॥

आस्यैश्चतुर्भिरभवच्चतुरो विधाता
दोर्भिश्चतुर्भिरशुभत्पुरुषोत्तमश्च ।
वीक्ष्यैतयोरचतुरं विदधे चतुर्भिः
शिष्यैर्निजं सुचतुरं ननु शंकरश्च ॥ ५९ ॥

चार मुखों से ब्रह्मा बड़े ही चतुर हो गये। चार भुजाओं से पुरुषोत्तम विष्णु भी दैत्यवधादिचतुर हो गये। इन दोनों के सामने शङ्कर अचतुर थे। (चार से रहित चातुर्य से रहित) तब उन्होंने चार शिष्यों को बनाया और सुचतुर हो गये (सुचतुर = उत्तम चार शिष्य वाले और उत्तम चातुर्य वाले) ॥५९॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
द्वादशो वर्णितौ यत्र हस्तामलकतोटकौ ॥ १२ ॥



अथ त्रयोदशः सर्गः

कदाचित्प्रणिपत्याह गुरुं भक्त्या सुरेश्वरः ।
भाष्ये शारीरके कांचिद् वृत्तिं कर्त्तुमना मुनिः ॥ १ ॥

एक समय सुरेश्वर आचार्यचरणों में प्रणाम कर शारीरक भाष्य पर वृत्ति लिखने की इच्छा से बोलेः—॥१॥

ममास्ति करणीयं यद् भट्टपादसमिङ्गितम् ।
आदेष्टुमर्हति विभो तन्मां चरणसेवकम् ॥ २ ॥

मेरा वह कर्त्तव्य जिसे भट्टपाद ने इंगित किया, बतायें, मैं चरण सेवा में उपस्थित हूँ ॥२॥

इत्युक्तः सुप्रसन्नात्मा देशिकस्तमवोचत ।
भाष्ये निबन्धः कर्त्तव्यो भवता वार्त्तिकाभिधः ॥ ३ ॥

प्रसन्न होकर आचार्य बोले कि भाष्य पर वार्त्तिक नाम का निबन्ध लिखो ॥३॥

भवत्कृपाकटाक्षेण कर्त्तुमर्हाम्यहं प्रभो ।
नान्यथा मेऽस्ति सामर्थ्यं भाष्ये कर्त्तुं निबन्धनम् ॥ ४ ॥

आप की कृपा दृष्टि से ही मैं वार्त्तिक बना सकूँगा। अन्यथा मुझ में इतना सामर्थ्य कहाँ है ? ॥४॥

तथास्त्वित्युदितो नत्वा गुरुं देवेश्वरो ययौ ।
चित्सुखाद्यास्तदा प्रोचुः पद्मपादप्रियं गुरुम् ॥ ५ ॥

आचार्य ने तथास्तु कहा। सुरेश्वर आचार्य को प्रणाम कर चले गये। उस समय चित्सुखादि जो पद्मपाद के प्रिय थे आचार्य से बोलने लगे ॥५॥

अनर्थोऽत्र महान् भावी व्यासोक्तमपि कर्मठः ।
प्रलयं मन्यते नासौ नेश्वरं च सुरेश्वरः ॥ ६ ॥

वहुत बड़ा अनर्थ होगा। यह कर्मठ है। व्यासोक्त प्रलय को भी यह मानता नहीं और ईश्वर को भी नहीं मानता ॥६॥

अयं कर्मपरं सूत्रं सभाष्यं योजयिष्यते ।
संन्यासं स्वेच्छया नैष व्यधात् किन्तु जितोऽवशः ।। ७ ।।

ये सुरेश्वर सभाष्य सूत्र को कर्मपरक लगायेंगे। इन्होंने संन्यास भी स्वेच्छया थोड़ा ही लिया। पराजित होने से परवश होकर लिया है ।।७।।

पद्मपादो जितात्मायं गुरुभक्तः सनन्दनः ।
पदे पदेऽम्बुजं गङ्गा यमायान्तमनुव्यधात् ।। ८ ।।

ये पद्मपाद जितात्मा गुरुभक्त है गङ्गाजी ने आते हुए जिसके पांव के नीचे कमल बनाया था ।।८।।

स एव भगवन् युष्मद्भाष्येऽगाधे दुरासदे ।
वृत्तिं करोतु परमश्रद्धालुर्विदिताशयः ।। ९ ।।

हे भगवन् ! आपके गम्भीर भाष्य में वे ही व्याख्या लिखें। वे परम श्रद्धालु हैं। आशय को बराबर जानते भी हैं ।।९।।

यद्वानन्दगिरिः कुर्यात्तपस्तोषितभारती ।
वृत्तिं भवत्प्रबन्धेषु भवदाशयबोधिनीम् ।। १० ।।

अथवा ये आनन्दगिरिजी आपके ग्रन्थों में आपके आशय को बतलाने वाली वृत्ति लिखें। इन्होंने भी तप से सरस्वती को प्रसन्न किया ।।१०।।

इत्थ वदत्सु तच्छृण्वंस्तत्रागच्छत्सनन्दनः ।
स प्रणम्य गुरुं प्रास्तौद् हस्तामलकमिङ्गयन् ।। ११ ।।

इस प्रकार चित्सुखादि बोल ही रहे थे कि वहां स्वयं पद्मपाद पहुँच गये। उन्होंने गुरु को प्रणाम किया। फिर हस्तामलक की ओर इशारा कर यह प्रस्ताव रखा ।।११।।

अयं योग्यो भवद्भाष्ये विधातुं वार्त्तिकं गुरो ।
यस्तु हस्तामलकवद् बुद्धः सिद्धान्तमीक्षते ।। १२ ।।

हे गुरो ये आपके भाष्य में वार्त्तिक बनाने में योग्य हैं। बड़े प्रबुद्ध हैं। सिद्धान्तों को जो हस्तामलकवत् देखते हैं ।।१२।।

हस्तामलकमालक्ष्य व्यादिशद्देशिकस्तदा ।
सनन्दनादिकान् शिष्यान् सामिस्मितशुभाननः ।। १३ ।।

उस समय कुछ मुस्कुराते हुए आचार्य ने हस्तामलक को लक्ष्य कर सनन्दनादि शिष्यों को कहा ॥१३॥

अन्यादृगस्य नैपुण्यमन्तःप्रवणचेतसः ।
न पपाठ न चिक्रीड बाल्येऽयं परमार्थवित् ॥ १४ ॥

हस्तामलक नित्य अन्तर्मुख रहता है इसकी निपुणता और तरह की है। इसने वचपन में न अध्ययन किया और न खेला। यह परमार्थ वेत्ता हैं ॥१४॥

ते पप्रच्छुः कथं नाम विनैव श्रवणादिकम् ।
बाल्ये ज्ञानमलब्धासौ तन्निशम्याह देशिकः ॥ १५ ॥

शिष्यों ने पूछा—विना श्रवणादि किये वाल्य में इसको ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? आचार्य ने कहाः—॥१५॥

पुरासीद्यमुनातीरे साधुवृत्तो विरक्तधीः ।
सिद्धः कोऽपि स्वनासाग्रकृताक्षः स्थिरमानसः ॥ १६ ॥

कुछ वर्ष पहले यमुना किनारे एक महात्मा विरक्त योगसिद्ध थे। नासिकाग्र पर दृष्टि कर वे समाधि में बैठे हुए थे ॥१६॥

तीर्थयात्रागता विप्रबाला स्नातुं सखीयुता ।
द्विहायनं निजं सूनुं तदग्रे न्यस्य संजगौ ॥ १७ ॥

तीर्थयात्रा में आई हुई कोई ब्राह्मणी सहेली के साथ उनके पास आकर अपने दो वर्ष के बच्चे को उनके सामने रखकर बोली :—॥१७॥

निरीक्षस्व क्षणं बालं यावत्स्नास्यामि संयमिन् ।
इत्युक्त्वा सा गता नैनं सा विवेद समाहितम् ॥ १८ ॥

महात्माजी ! थोड़ी देर इस बच्चे का ख्याल रखना, हम स्नान करने जा रही हैं। इतना कह कर वह गई। परन्तु उस को यह मालूम न था कि ये समाधि में बैठे हुए हैं ॥१८॥

तस्यां गतायां बालोऽपि खेलन्दैववशादसौ ।
नद्यां पपात तन्माता यावत्प्रत्यावृतन्मृतः ॥ १९ ॥

उसके जाने पर बालक खेलता हुआ दैवयोग से नदी में गिरा और जब तक माँ लौटी तब तक मर भी गया ॥१९॥

शिशुं वीक्ष्य मृतं शोकाच्चुक्रुशुस्ता मुनेः पुरः ।
खिन्नो मुनिर्योगभूम्ना प्राविक्षच्च शिशोस्तनुम् ।। २० ।।

शिशु को मरे हुए देखकर वे नारियां जोर से रोने लगीं । योगी की समाधि टूटी । योगमहिमा से सारी बातें जानी और कुछ खिन्न हुए । फिर योगशक्ति से ही वालक के शरीर में स्वयं प्रविष्ट हुए ।।२०।।

स एवायं महातेजा हस्तामलकसंज्ञितः ।
सर्वं शास्त्रं श्रुतिं चैव वेत्त्यध्ययनमन्तरा ।। २१ ।।

वही यह महातेजस्वी हस्तामलक है । ये सब शास्त्रों को और श्रुतियों को विना अध्ययन ही जानते हैं । [द्रष्टव्यः—यहाँ माधवीय शंकरदिग्विजय से ऐसी झलक मिलती है कि वह ब्राह्मणी यमुनातीर में ही किसी गाँव की रहनेवाली थी । परंतु मूकाम्बिकाक्षेत्र से आगे एक गांव में बालक का अस्तित्व पहले बताया गया । तदनुसार यहाँ तीर्थयात्रार्थ उनके माता पिता आये होंगे यही संगति वैठ सकती है] ।।२१।।

बहिःप्रवृत्तिशून्यत्वान्नियोगं नायमर्हति ।
वृत्तिं विधातुमर्होऽयं बुद्धतत्त्वः सुरेश्वरः ।। २२ ।।

हस्तामलक की बाह्य प्रवृत्ति नही रहती । अतः इनको कुछ आज्ञा देना ठीक नहीं हैं । इधर सुरेश्वर प्रवुद्ध है । वृत्ति लिखने योग्य है ।।२२।।

तथापि नाधुना तेन कारयिष्यामि वार्त्तिकम् ।
प्रतीपा बहवो जाता उग्रा बहुविरोधिता ।। २३ ।।

फिर भी अव सुरेश्वर से वार्तिक नहीं कराऊँगा । क्योंकि विरोधी बहुत हो गये हैं । वहुविरोध बुरा होता है ।।२३।।

भाष्ये निबन्धमेकं तु विदधातु सनन्दनः ।
न वार्त्तिकं तद्धि परप्रतिज्ञातं यतोऽभवत् ।। २४ ।।

भाष्य के ऊपर सनन्दन एक निवन्ध लिखें । किन्तु वार्त्तिक नहीं । क्योंकि वार्त्तिक परप्रतिज्ञात हो गया है ।।२४।।

अथैकान्ते समाहूय प्राहाचार्यः सुरेश्वरम् ।
मा कार्षीर्वार्त्तिकं भाष्ये न सहन्त इमेऽधियः ।। २५ ।।

इसके बाद आचार्य ने सुरेश्वर को एकान्त में बुलाकर कहा कि सूत्र-भाष्य पर वार्त्तिक न लिखो। ये विचारहीन लोग सहन नहीं करते हैं ॥२५॥

अपि चाहुर्गृही सोऽयं पूर्वं स गृहवासनाम् ।
कथं नाम त्यजेन्नास्य मते संन्यास एव च ॥ २६ ॥

और ऐसा भी कहते हैं कि यह पहले गृहस्थ रहा है। वह कैसे गृहस्थ-वासना को छोड़ सकता है। इसके मत में संन्यास है भी नहीं ॥२६॥

वारिता द्वारि स द्वाःस्थैर्भिक्षवो न तु पूजिताः ।
विजितश्चावशो न्यासं बहिरूरीचकार सः ॥ २७ ॥

इसके द्वार पर आये भिक्षुओं को द्वारपालों के द्वारा हटाया और पूजा नहीं की। पराजित होने से पराधीनता से इसने बाहर-बाहर संन्यास स्वीकार किया है ॥२७॥

तस्मात् स्वतन्त्रमेवैकं निबन्धं बन्धुरं कुरु ।
अध्यात्मनिष्ठं येनैषां प्रत्ययः स्यात्प्रतिष्ठितः ॥ २८ ॥

इसकेलिये एक स्वतन्त्र अध्यात्मविषय निबन्ध लिखो, जिससे इन लोगों को विश्वास हो जाय ॥२८॥

नैष्कर्म्यसिद्धिं व्यदधान्नैष्कर्म्यस्य यतो भवेत् ।
ज्ञप्तिः प्राप्तिश्च तां सोऽपि दर्शयामास देशिकम् ॥ २९ ॥

सुरेश्वर ने प्रथम नैष्कर्म्यसिद्धि बनायी, नैष्कर्म्य-मोक्ष की जिससे सिद्धि अर्थात् ज्ञप्ति और प्राप्ति हो। उसे बनाकर फिर आचार्य को दिखाया ॥२९॥

दृष्ट्वा देशिकवर्यस्तां दर्शयामास चापरान् ।
प्रत्ययोऽजनि सर्वेषां नान्योऽस्त्येतत्समः सुधीः ॥ ३० ॥

स्वयं आचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि देखी और फिर दूसरों को दिखाया। तब सब को यह विश्वास हुआ कि सुरेश्वर के सामान ज्ञानी शिष्यों में दूसरा कोई नहीं है ॥३०॥

शशाप विश्वरूपोऽपि वार्त्तिकं विघ्नितं यतः ।
नान्यैर्विरचितं चोर्व्यां वार्त्तिकं प्रसरेदिति ॥ ३१ ॥

वार्त्तिक बनाने में विघ्न डाला इसलिये सुरेश्वर ने श्राप दिया कि दूसरा कोई वार्तिक बनावे तो भी उसका प्रसार नहीं होगा ॥३१॥

नैष्कर्म्यसिद्धिं तां दृष्ट्वा तुष्टमाचार्यमाह च ।
ख्यातिलोभादितो नैषा गुर्वादेशात्कृता मया ।। ३२ ।।

नैष्कर्म्यसिद्धि को देख कर आचार्य संतुष्ट हुए। तब सुरेश्वर ने कहा कि ख्याति लोभादि से नहीं किन्तु गुरु आज्ञा पालन के लिये मैंने यह बनाया है ॥३२॥

अपि प्राग् गृहिणं नो मां तत्संस्कारोऽनुवर्त्तते ।
न युवानं शिशोर्वृद्धं न यूनो वासना यथा ।। ३३ ।।

पहले मैं भले ही गृहस्थ रहा फिर भी गृह संस्कार मुझमें नहीं। शिशु का संस्कार युवावस्था में नहीं और युवा का संस्कार वृद्धावस्था में नहीं, वैसे पूर्वाश्रम का संस्कार उत्तराश्रम में मुझमें नहीं है ॥३३॥

नास्ति संन्यास इत्येष न मया पक्ष आस्थितः ।
मोक्षहेतौ विवादो हि विचारेण निर्वर्त्तितः ।। ३४ ।।

संन्यास नहीं है ऐसा पक्ष मैंने नहीं लिया था। मोक्ष में कारण ज्ञान या कर्म इस पर विवाद चला था और विचार से उस विवाद का ही निर्णय किया गया था ॥ ३४ ॥

भिक्षुकाः पूजिता नेति पूजिते भवति प्रभो ।
कथं यथार्थं को नाम लोकाननपिधायकः ।। ३५ ।।

मैंने भिक्षुकों की पूजा नहीं की यह बात किस प्रकार सत्य है? जब कि मैंने आपकी ही पूजा की थी। दुनियाँ का मुँह कौन बन्द कर सकता है ॥ ३५ ॥

तत्त्वनिर्णायको वादो ज्ञाततत्त्वश्च वादतः ।
विरागादकृषि न्यासमहं न तु पराजयात् ।। ३६ ।।

वाद हमेशा तत्त्वनिर्णयार्थं होता है। वाद से मुझे तत्त्व का निर्णय हुआ। वैराग्य हुआ और मैंने संन्यास लिया, न कि पराजय से संन्यास लिया ॥ ३६ ॥

कर्मकाण्डादिषु पुरा निबन्धो विहितो मया ।
नेतः परं भवत्पादसेवामुल्लङ्घ्य किंचन ।। ३७ ।।

कर्म काण्डादि में मैंने पहले ग्रन्थ बनाये। परन्तु अब मैं आपकी चरण सेवा छोड़कर कुछ नहीं करूँगा ॥ ३७ ॥

भाष्ये शारीरके कर्त्तुमशक्यं वीक्ष्य वार्त्तिकम् ।
सशुचं प्राह भगवान् त्रय्यन्ते कुरु वार्त्तिकम् ॥ ३८ ॥

शारीरक भाष्य पर वार्त्तिक लिखना अशक्य देखकर सुरेश्वर को बड़ा दुःख हुआ। तब भगवान आचार्यपाद ने कहा उपनिषदों पर वार्त्तिक लिखो ॥ ३८ ॥

शाखा मे तैत्तिरीयास्ति काण्वशाखा तवापि च ।
तदन्तभाष्ययोरिष्टं वार्त्तिकं रचय द्वयम् ॥ ३९ ॥

मेरी तैत्तिरीय शाखा है। तुम्हारी काण्वशाखा है। दोनों के भाष्यों पर वार्त्तिक बनाना अभीष्ट है। अतः वही बनाओ ॥ ३९ ॥

मा शङ्किष्ठाः पूर्वमिव शठानामवरोधनम् ।
प्रमाणमिह मद्वाक्यं तच्छ्रुत्वा स प्रसन्नधीः ॥ ४० ॥

शठों के अवरोध के बारे में पहले जैसे अब संदेह न करो। इसमें मेरा वचन ही प्रमाण है। यह सुनकर सुरेश्वर प्रसन्न हुए ॥ ४० ॥

आज्ञाऽविचारणीयैव गुरूणामिति निश्चितः ।
रचयित्वा वार्त्तिके द्वे दर्शयामास देशिकम् ॥ ४१ ॥

गुरुओं की आज्ञा अविचारणीय है। ऐसा निश्चय कर बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय पर दो वार्त्तिक लिखकर आचार्य को दिखाया ॥ ४१ ॥

भाष्ये सनन्दनोऽकार्षीट्टीकां गुरुनिदेशतः ॥
प्राक् पञ्चपादिकां पश्चाद् वृत्तिमेकादशस्वपि ॥ ४२ ॥

भाष्य के ऊपर पद्मपाद ने गुरु आज्ञा से प्रथम पञ्चपादिका और शेष ग्यारह पादों पर वृत्ति लिखी ॥ ४२ ॥

टीकां विधाय स स्वीययशोविजयडिण्डिमम् ।
सनन्दनो व्यरचयत्तामेव गुरुदक्षिणाम् ॥ ४१ ॥

अपने यश की विजय डिंडिम स्वरूपी टीका बनाकर पद्मपाद ने उसी को गुरु दक्षिणा के रूप में आचार्य को दिया ॥ ४३ ॥

गतिं ग्रहाणामालोक्य देशिको मण्डनं जगौ ।
पञ्चपादाः प्रसिद्धाः स्युस्तत्र सूत्रचतुष्टये ॥ ४४ ॥

ग्रहगति को देखकर आचार्य ने मण्डन को कहा कि सनन्दन की टीका में पाँच ही पाद प्रसिद्ध होंगे और उनमें भी चार सूत्र की व्याख्या ही लोकदृश्य होगी ॥ ४४ ॥

प्रारब्धकर्मशेषाच्च भूत्वा वाचस्पतिः पुनः ।
विधास्यसे भाष्यटीकां त्वमाभूतलयस्थिताम् ॥ ४५ ॥

प्रारब्ध कुछ अवशिष्ट है इसलिये तुम पुनः वाचस्पति के रूप में जन्म लोगे और प्रलयपर्यन्तस्थायी भाष्यटीका लिखोगे ॥ ४५ ॥

अथ चानन्दगिर्यादीन् निबन्धानात्मगोचरान् ।
दिदेश देशिकः कर्त्तुं यथादेशं च ते व्यधुः ॥ ४६ ॥

इसके बाद आचार्य ने आनन्दगिरि आदि को भी अध्यात्मनिबन्ध लिखने कहा। आदेशानुसार उन लोगों ने भी अनेक ग्रन्थ बनाये ॥ ४६ ॥

भाष्याब्जेशः शिष्यकोटिप्रबन्धस्वांशुव्रातैर्लोकचेतस्तमांसि ।
भिन्दन् दिव्यः पप्रथे दर्शनाख्यज्योतिश्चक्रे कोऽपि
सर्वोर्ध्वतेजाः ॥ ४७ ॥

भाष्यरूपी सूर्य ने अनेक शिष्यरचित नाना ग्रन्थरूपी अपनी किरणों से लोकचित्त स्थित अन्धकार को चीरता हुआ दर्शनरूपी ज्योतिचक्र में सर्वोपरि होकर प्रथित हुआ ॥ ४७ ॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
गतो वार्त्तिकनिर्माणयुतः सर्गस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

—:०:—

अथ चतुर्दशः सर्गः

पद्मपादो गुरुं तीर्थयात्रां कर्त्तुमना मुनिः ।
अनुज्ञां समयाचिष्ट देशिको व्यादिशत्तदा ॥ १ ॥

पद्मपाद मुनि तीर्थयात्रा करने के लिए गुरुजी से अनुज्ञा माँगी। आचार्य ने कहा :—॥ १ ॥

क्षेत्रं हि गुरुसांनिध्यं तीर्थं तीर्थंपदोदकम् ।
गुरूपदेशजन्यात्मदर्शनं देवदर्शनम् ॥ २ ॥

गुरुसांनिध्य ही पुण्य क्षेत्र है। गुरुपादोदक ही महातीर्थं है। गुरूपदेश से उत्पन्न आत्मदर्शन ही देवतादर्शन है ॥ २ ॥

उक्तो विविदिषुन्यासो विद्वत्संन्यास एव च ।
आद्ये सदा त्वंपदार्थः शोध्यो न तु दिशाटनम् ॥ ३ ॥

विविदिषु सन्यास और विद्वत्संन्यास दो होते हैं। उनमें विविदिषु संन्यास में त्वंपदार्थ शोधन करते रहना चाहिए। दिशाओं में पर्यटन करना ठीक नहीं ॥ ३ ॥

क्व जलं क्वाशनं क्वैव स्थेयं शय्यं क्व चेति हि ।
चिन्वतां व्यग्रचित्तानां तीर्थे क्वेवात्मचिन्तनम् ॥ ४ ॥

जल कहाँ मिलेगा, भोजन कहाँ मिलेगा, कहाँ बैठना, कहाँ सोना इस फिकर से व्यग्रचित आत्मचिन्तन क्या कर सकेगा ॥ ४ ॥

ज्वरातिसारपोडाद्यैर्यदि वा परिपीडितः ।
स्थातुं गन्तुमनिश्चिन्वन् कथमात्मानमीक्षताम् ॥ ५ ॥

कहीं ज्वर अतिसारादि हुआ तो जायें कि ठहरें यह निश्चय न कर सकने से क्या आत्मानुसंधान होगा ॥ ५ ॥

नियमेन न च स्नानं नार्चनं न समाधयः ।
क्षुधातुरस्य भिक्षैकमनसः क्वात्मचिन्तनम् ॥ ६ ॥

और नियम से न स्नान होगा, न अर्चन और न समाधि ही, क्षुधातुर होने पर भिक्षा में मन लगा रहेगा। क्या आत्मचिन्तन होगा ॥ ६ ॥

सत्यं भगवता प्रोक्तं वक्तुं युक्तं न तत्र मे ।
तथापि देशसंवीक्षाकुतूहलहृदस्म्यहम् ॥ ७ ॥

पद्मपाद ने कहा :—भगवन् ! आपका वचन सत्य है। उसपर बोलना मेरे लिये युक्त नहीं है। फिर भी देशों के देखने की कुतूहलता मेरे मन में हैं ॥ ७ ॥

पन्थानः कष्टबहुलाः किन्तु पुण्यानि तद्विना ।
न लभ्यन्ते ज्वरादिस्तु प्रारब्धैकनिबन्धनः ॥ ८ ॥

मार्ग में कष्ट होते हैं। परन्तु कष्ट के बिना पुण्य भी तो नहीं होंगे। ज्वरादि तो प्रारब्ध का फल है ॥ ८ ॥

वृद्धौ नाशे च सर्वत्र निदानं दैवमेव तत् ।
गृहे वा विपिने वापि हार्यमाव्यं हरेदवेत् ॥ ९ ॥

वृद्धि या नाश में सर्वत्र दैव ही कारण है। वह चाहे घर में हो चाहे वन में, हरणीय का हरण और रक्षणीय की रक्षा करके ही रहेगा ॥ ९ ॥

स्नानार्चनादिकं कर्म मार्गे संकोचमर्हति ।
इति मन्वादयः प्राहुर्धर्मस्तेन न हीयते ॥ १० ॥

स्नान अर्चनादि सभी मार्ग में संक्षेप से किया जा सकता है ऐसा मन्वादिवचन है, अतएव उससे धर्महानि नहीं होती ॥ १० ॥

अधिष्ठानं परं ब्रह्म सर्वत्र परिपश्यताम् ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥ ११ ॥

सर्वत्र अधिष्ठान ब्रह्म को जो देखते हैं उनके लिए जहाँ भी मन जाय वहीं समाधि है ॥ ११ ॥

तीर्थे वसन्ति सद्विद्यास्तत्र मित्रं न दुर्लभम् ।
बुधो बुधानामुदितं मित्रं सत्यार्थवेदिभिः ॥ १२ ॥

तीर्थों में ज्ञानी लोग रहते हैं। वहाँ मित्र दुर्लभ नहीं होते। ज्ञानी ज्ञानी के मित्र होते हैं ॥ १२ ॥

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य हृदि संस्थितः ।
समीपस्थोऽपि दूरस्थो यो यस्य हृदि न स्थितः ॥ १३ ॥

दूरस्थ भी वह दूरस्थ नहीं जो जिसके हृदय में हो। और समीपस्थ भी दूरस्थ है जो जिसके हृदय में न हो। [द्रष्टव्य :—यहाँ प्रायः श्लोकों में विविदिषा संन्यासी को लेकर ही कहा गया है। विविदिषा संन्यासी के लिये आश्रम कर्म आवश्यक होने से पूर्वोत्तरपक्षसंगति है] ॥ १३ ॥

आग्रहो यदि ते गन्तुं न विहन्मि मतिं तव ।
मा भूद्विशेषगमनं दुःखायेति न्यषेधयम् ॥ १४ ॥

यदि तुम्हारा जाने का आग्रह हो तो मैं बीच में विघ्न नहीं डालता। कोई कष्ट बीच में न हो इसके लिए मैंने कहा ॥ १४ ॥

तत्रेदं नियतं ध्येयं तीर्थमार्गावलम्बिना ।
चौरमार्गः परित्याज्यः सङ्गो ग्राह्यः सदा सताम् ॥ १५ ॥

हाँ, तीर्थयात्री को ये बातें ध्यान में रखना चाहिये । एक तो चोरों के मार्ग से कभी नहीं चलना चाहिये, भले ही मार्ग टूंका हो । दूसरा तकलीफ होने पर भी सत्पुरुष का ही संग ढूंढ़ना चाहिये ॥ १५ ॥

आसङ्गो नैव सद्भिश्च वियोगे दुःखदो यतः ।
चौरेभ्यो वञ्चकेभ्यश्च न प्रमाद्यं कथंचन ॥ १६ ॥

सत्पुरुषों से भी संग करो-आसंग (आसक्ति) नहीं । वियोग में दुःख होगा । चोर और ठगों के बारे में कभी प्रमाद न करना चाहिए ॥ १६ ॥

पूज्यानां नैव कर्त्तव्यः कुत्राप्येव व्यतिक्रमः ।
इत्युपादिशदाचार्यः प्रतिष्ठासुं सनन्दनम् ॥ १७ ॥

तं प्रस्थाप्य कियन्तं च कालं शृङ्गगिरौ गुरुः ।
सुरेश्वरादिभिः सार्धं निनाय यमिनां वरः ॥ १८ ॥

पूज्यों का कभी भी व्यतिक्रम न करें । इस प्रकार आचार्य ने पद्मपाद को उपदेश दिया (द्रष्टव्य :—पहले निषेध और बाद में आग्रह देखकर अनुमति यह यद्यपि सामान्य लोगों के जैसा दीख रहा है । तथापि यह केवल सामान्य बात नहीं है । क्योंकि आगे पंचपादिका के विनाश का पूर्वाभास आचार्य को मिल रहा था । इसलिए उन्होंने पद्मपाद को रोकना चाहा । प्रारब्ध को बलवान् देखकर अन्त में अनुमति दी) पद्मपाद को बिदा कर कुछ काल तक सुरेश्वरादि के साथ आचार्य शृंगेरी में रहे ॥१८॥

अथान्तिमदशापन्नां स्मरन्तीं मातरं गुरुः ।
जगाम योगशक्त्यावगत्याऽऽवेद्य निजाश्रवान् ॥१९॥

माता की अन्तिम दशा आ चुकी थी । पुत्र शङ्कर का स्मरण कर रही थीं । आचार्य को मालूम पड़ गया । आज्ञानुवर्ती शिष्यों को समाचार बता कर आचार्य वहाँ से योगशक्ति से आकाशगति के द्वारा उतर कर माता के पास पहुँचे ॥१९॥

ननाम जननीमार्यः सुतं दृष्ट्वा विचिन्त्य च ।
जहौ तापमवाप्याभ्रं ग्रीष्मतप्तेव मेदिनी ॥ २० ॥

आर्य आचार्य ने माता को प्रणाम किया। माता ने पुत्र को देख और पहचान कर उसी प्रकार ताप को छोड़ा जैसे ग्रीष्म तप्त पृथ्वी बादल को प्राप्त होकर ताप को छोड़ देती है ॥२०॥

किं कृत्यं करवाणीति पृष्टा तुष्टाम्बिकाब्रवीत् ।
सिद्धं त्वयीक्षिते सर्वं संस्कार्याऽन्ते तनुस्त्वया ॥ २१ ॥

क्या कार्य मैं करूँ ऐसा पूछने पर संतुष्ट होकर माता बोली कि तुम्हारे दर्शन से ही सब कुछ हो गया। हाँ, मेरे मरने पर शरीर का संस्कार तुम करो ॥२१॥

अथ ब्रह्म परं तस्यै निरामयमुपादिशत् ।
न मेऽत्र रमते चित्तं निर्गुणे हीति साऽब्रवीत् ॥ २२ ॥

मृत्युशय्यास्थ माता को आचार्य ने प्रथम निर्गुण ब्रह्म का उपदेश किया माता ने कहा—मेरा मन निर्गुण में नहीं लग रहा ॥२२॥

स भुजङ्गप्रयातैस्तु शिवं स्तुत्वाऽऽजुहाव च ।
शूलादिहस्तं न प्रीणात्येतमित्यम्बिकाऽब्रवीत् ॥ २३ ॥

भुजङ्गप्रयात स्तोंत्रो से शङ्कर की स्तुति कर आचार्य ने आह्वान किया। माता ने कहा ये शूलडमरूसहित हाथ वाले को मेरा मन पसन्द नहीं कर रहा ॥२३॥

वक्रतुण्डं गणेशानमम्बिकां सिंहवाहिनीम् ।
आहूतावागतौ चापि प्रीणाति स्म न तन्मनः ॥ २४ ॥

वक्रतुण्ड गणेशजी और सिंहवाहिनी दुर्गा माता का जो आह्वान से आ गये थे माता का मन पसन्द नहीं करता ॥२४॥

अथ कृष्णं सरोजाक्षं श्यामलं कुलदेवताम् ।
अस्तवीत्परया प्रीत्या देशिको वेणुभूषितम् ॥ २५ ॥

इसके बाद आचार्य ने कुल देवता श्यामसुन्दर कमलनयन वेणुभूषित कृष्ण की स्तुति की ॥२५॥

त्रिभङ्गललितं श्यामं लसत्कुञ्चितमूर्धजम् ।
गोपगोपीवृतं दिव्यं कदम्बतरुमूलगम् ॥ २६ ॥

दृष्ट्वा प्रसन्नहृदया ध्यायन्ती च तमेव सा ।
तत्याज देहमबला स्तूयमानाऽमराधिपैः ॥ २७ ॥

गाय एवं गोपियों से घेरे हुए कदम्वतरु के मूल में स्थित घुंघराले बाल वाले त्रिभंगललित श्यामसुन्दर भगवान को देखकर माता प्रसन्न हुई और उन्हीं का ध्यान करती हुई शरीर को छोड़ गयी । थी अबला, फिर भी देवाधिराज भी उनकी स्तुति उस समय कर रहे थे ॥२६-२७॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लपक्षं तीर्त्वोत्तरायणम् ।
सभानिलार्कचन्द्रांश्च समतिक्रम्य विद्युतम् ॥ २८ ॥

अमानवेन सा नीयमाना तत्पुरुषेण हि ।
ब्रह्मलोकं प्रपद्यान्ते ब्रह्मविद् ब्रह्म साऽभ्यगात् ॥ २९ ॥

उपासकों की गति के अनुसार वे माता भी, अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, अनिल, सूर्य, चन्द्र, एवं विद्युत् को पार कर अमानवतत्पुरुष के द्वारा ऊर्ध्व नीत होकर ब्रह्मलोक पहुँची और ब्रह्मज्ञान पाकर ब्रह्म को प्राप्त हो गयी ॥२८-२९॥

संश्चिकीर्षुस्तनुं बन्धूनाजुहाव स देशिकः ।
यतेरनधिकारित्वमुक्त्वा ते न समागताः ॥ ३० ॥

दाहादि संस्कार के लिए आचार्य ने बन्धुओं को बुलाया । परन्तु यह कह कर नहीं आये कि तुम संन्यासी को संस्कार करने का क्या अधिकार ॥३०॥

अर्थिताश्च ददुर्नाग्निं मथित्वैवोदभावयत् ।
ददाह मातृदेहं च गृहाभ्यर्णं यतात्मवान् ॥ ३१ ॥

मंथन कर आचार्य ने अग्नि उद्भावन किया और घर के पास ही धैर्य रख कर शरीर दाह किया ॥३१॥

ततः शशाप तान् सर्वान् सर्वे वेदबहिष्कृताः ।
गृहान्तिकश्मशानाश्च यूयं भवत दुर्नयाः ॥ ३२ ॥

दाहोत्तर आचार्य ने उन सबको श्राप दिया कि हे दुर्बुद्धि लोग ! तुम सब के सब वेद रहित हो और तुम्हारे घरों के पास ही श्मशान रहे ॥३२॥

अद्यापि वेदरहिता गृहान्तिकचिताजुषः ।
यतिभिक्षाविहीनाश्च सन्त्येकेऽम्बलवासिनः ॥ ३३ ॥

आज भी केरल में अम्बलवासी (मंदिरवासी) कहलाने वालों में कुछ ऐसे हैं जो वेदरहित हैं गृहसमीपश्मशान वाले और यतिभिक्षा रहित हैं। ये ही आचार्य शप्त ब्राह्मण हैं [द्रष्टव्य—तिरुओपाड नम्बीशन् इत्यादि उन की विशेषसंज्ञा आज प्रसिद्ध हैं। अन्य सभी वेदविशिष्ट होने से पारिशेष्यात् ये ही आचार्यशप्तत्वेन माधवाचार्याभिमत हो सकते हैं] ॥३३॥

केदारं बदरीं काशीं गयां कालीपदं पुरीम् ।
सेवमानः क्रमात्पद्मपादोऽयाद्दक्षिणां दिशम् ॥ ३४ ॥

केदार, बद्रीनाथ, काशी, गया, कलकत्ता और पुरी होते हुए पद्मपादाचार्य क्रमशः दक्षिण की ओर पहुँचे ॥३४॥

कालहस्तीश्वरं काञ्चीकल्लालेशादिकांस्तथा ।
वीक्ष्यागमत्पुण्डरीकपुरं स शिवताण्डवम् ॥ ३५ ॥

कालहस्ती, कांची तथा कल्लालेश्वर होते हुए पद्मपाद पुण्डरीकपुर आये जहां शिव-ताण्डव हुआ था ॥३५॥

वहन्त्याः शिवगङ्गायास्तत्र वृत्तमिदं जगुः ।
श्रान्तेन ताण्डवे गङ्गा स्मृतेशेन समागता ॥ ३६ ॥

वहां शिवगङ्गा बह रही है। उसका इतिवृत्त कुछ लोग यह कहते हैं कि ताण्डवनृत्य में शंकर जी थक गये तो गङ्गा का स्मरण किया और साक्षात् गङ्गा वहां आयी ॥३६॥

परे च पार्वती तत्र शिवश्रान्त्यपनुत्तये ।
गङ्गारूपं दधारेति पण्डिताः संप्रचक्षिरे ॥ ३७ ॥

दूसरे पण्डितों का कहना है कि शंकरजी की थकावट दूर करने के लिए पार्वती ने स्वयं गङ्गा का रूप धारण किया ॥३७॥

अन्ये ताण्डववेलायां जटाजूटपतत्कणा ।
गङ्गैव सेति जगदुः पण्डिताः पारदर्शिनः ॥ ३८ ॥

ताण्डवनृत्य के समय जटाजूट से गिरे हुए गङ्गा कण ही वह गङ्गा है ऐसा अन्य पारदर्शी पण्डितों का कहना है। पारदर्शी इसलिए कि शंकरजी का थकना युक्त नहीं और गङ्गा कणों का गिरना संभव भी है ॥३८॥

तीर्थायुतानि पुरुपुण्यकराणि दृष्ट्वा
तुष्टान्तरोऽब्जचरणो भुवनं पुनानः।
रामेश्वरं परमपुण्यतमं यियासु-
रायान्नदीं सुसलिलां स कवेरकन्याम् ॥ ३९ ॥

अनन्तपुण्यदायी हजारों तीर्थस्थानों का दर्शन करते हुए प्रसन्नचित्त पद्मपाद स्वयं जगत् को पवित्र करते जा रहे थे। वहाँ से फिर अत्यन्त पुण्यतम रामेश्वर जाने की इच्छा से विमलजला कावेरी नदी के किनारे आये ॥३९॥

संदर्शनेन किल या विधुनोति सद्यो
जन्मान्तरायुतकृतानि हि दुष्कृतानि।
भक्तिं प्रयच्छति हरौ विमलां च बुद्धिं
प्रासीददब्जचरणोऽपि नदीमियंस्ताम् ॥ ४० ॥

जो दर्शन मात्र से उसी समय हजारों जन्मों में किए पापों को नष्ट करती है, हरि में भक्ति उत्पन्न करती है और बुद्धि को निर्मल बना देती है उस कावेरी नदी के किनारे आकर पद्मपाद बड़े प्रसन्न हुए [द्रष्टव्यः—इन सब महत्ताओं से युक्त होने पर भी उसके किनारे रहने वाले पद्मपादमातुल की बुद्धि शुद्ध नहीं हुई, यही हरि की माया है) ॥४०॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते।
सर्गश्चतुर्दशो यत्र मातुद्धारोऽनुवर्णितः ॥ १४ ॥

❋

अथ पञ्चदशः सर्गः

मध्येमार्गमथायातो मातुलस्य गृहं सुधीः।
अद्वैतविद्यां लोकेभ्यो वितन्वानः सनन्दनः ॥ १ ॥

तीर्थयात्रा के अवसर पर अद्वैत विद्या का प्रसार करते हुए सनन्दन कावेरी के पास मार्गमध्य में अपने मामा के घर पहुँचे ॥१॥

सशिष्यमागतं श्रुत्वा बन्धुवर्गः सनन्दनम्।
जहास मुमुदे भक्त्या रुरोद च ननाम च ॥ २ ॥

शिष्यों के सहित सनन्दन को आये सुनकर बन्धुवर्गों में कोई खुशी से हँसने लगे, कोई आनन्दमग्न होने लगे, कोई भक्ति से रोने लगे और कोई चरणों में प्रणाम करने लगे ॥ २ ॥

धन्यो यत्याश्रमो यत्र न दारसुतबन्धुताः ।
शकुन्त इव वृक्षेषु यावत्कार्यं जनेष्वपि ॥ ३ ॥

धन्य है यह यति आश्रम। जिसमें पुत्र-दार-बन्धुओं की कोई खटपट नहीं। पक्षी उतना ही मतलब रखते हैं वृक्षों से, जितने से उसका कार्य सिद्ध होता है, वैसे यति भी गृहस्थों से उतना ही सम्वन्ध रखते हैं जितने से कार्य पूरा हो ॥ ३ ॥

सारं गृहीत्वा पुष्पेभ्यो यथा निर्याति षट्पदः ।
भिक्षित्वौदनमोकोभ्यो यतिरन्यत्र गच्छति ॥ ४ ॥

पुष्प से सार (मधु) लेकर भ्रमर अन्यत्र चला जाता है। यति गृहों से भोजन भिक्षा लेकर अन्यत्र चले जाते हैं ॥ ४ ॥

तृष्णान्तो न क्वचिद् दृष्टस्तृष्णान्तरजनन्यसौ ।
दारार्था प्रथमा तृष्णा पुत्रार्था च ततो यथा ॥ ५ ॥

तृष्णा का अन्त होता नहीं। एक तृष्णा दूसरी तृष्णा की जननी है। जैसे प्रथम दारतृष्णा होती है। फिर वही पुत्रतृष्णा को उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

अज्ञातगोत्रा विज्ञातस्वात्मतत्त्वा यतीश्वराः ।
यदृच्छालाभसंतुष्टाश्चरन्ति सदनुग्रहाः ॥ ६ ॥

जिनके नामगोत्र के बारे में लोगों को पता नहीं रहता ऐसे आत्मतत्त्व को जानने वाले महात्मा लोग यदृच्छा लाभ से संतुष्ट होकर विचरण करते हैं, जिनका अनुग्रह अव्यर्थ होता है ॥ ६ ॥

तीर्थीकर्त्तुं हि तीर्थानि चरन्ति यतिपुङ्गवाः ।
शुद्धात्मस्पृष्टसम्भो हि तीर्थमाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥

महात्मा पुरुष तीर्थों को तीर्थ वनाने के लिये ही विचरण करते रहते हैं। महात्मा लोग जहाँ रहते रहे वही तो आज तीर्थ कहलाते हैं ॥ ७ ॥

वस्तव्यं भवताऽत्रैव किंचित्कालं दयालुना ।
वयं हि गृहिणः पापा उद्धार्या हि भवादृशैः ॥ ८ ॥

आप दया कर कुछ दिन यहीं वास करें। हम गृहस्थी पापवान् होते हैं आप जैसे ही तो हमारा उद्धार करेंगे ॥ ८ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा पद्मपादो जगाद तान् ।
संयोगे च वियोगे च कालः प्रभवतीश्वरः ॥ ९ ॥

पद्मपाद बोले कि संयोग और वियोग में काल ही प्रभु है ॥ ९ ॥

मध्याह्ने क्षुधितं क्लान्तमन्नाद्यैर्हि ससत्कृति ।
निर्वापयन्ति येऽनन्तपुण्यास्ते गृहिणो भुवि ॥ १०

मध्याह्न में भूख से व्याकुल महात्माओं को सत्कार के साथ भोजनादि से तृप्त करने वाले गृहस्थ तो अनन्त पुण्य के भागी होते हैं ॥ १० ॥

तपो यस्यान्नतः पुष्टस्तपस्वी कुरुते कृती ।
फलमर्धं कर्त्तुरन्नदातुरर्धमिति स्मृतिः ॥ ११ ॥

जिसके अन्न से पुष्ट होकर महान् तपस्वी तप करते हैं उस तप का आधा फल कर्त्ता तपस्वी को मिलता है और आधा फल अन्नदाता को मिलता है ऐसा स्मृतिवचन है ॥ ११ ॥

देहमूलं तपः प्रोक्तमन्नमूलं कलेवरम् ।
अन्नं गृहस्थमूलं च शस्यतेऽतो गृही बुधैः ॥ १२ ॥

तप देहमूलक होता है, देह अन्नमूलक होता है और अन्न गृहस्थमूलक होता है। अतएव विद्वान् पुरुष गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करते हैं ॥ १२ ॥

उपजीवन्ति सर्वेऽपि गृहिणं द्रविणैर्युतम् ।
क्वचिच्चौर्यात्क्वचित्प्रेम्णा क्वचिद्दानात्क्वचिद्बलात् ॥ १३ ॥

सभी प्रायः धनवान् गृहस्थ के उपजीवी होते हैं। कोई चोरी से उनसे धन प्राप्त करता है, कोई प्रेम से, कोई दान से और कोई बल से। (आखिर पैसे वाले से ही पैसे लिये जा सकते हैं) ॥ १३ ॥

गृहान्तर्मूषकाद्याश्च बहिर्मृगगवादयः ।
उपजीवन्ति गृहिणं पुण्यं किं तस्य वर्ण्यते ॥ १४ ॥

यहाँ तक कि घर के अन्दर चूहे आदि और घर के बाहर गाय कुत्ते आदि भी गृहस्थ के उपजीवी होते हैं। उस गृहस्थ के पुण्य का क्या वर्णन किया जाय ॥ १४ ॥

अथ भुक्तोपविष्टं तं मातुलः कुशलं ब्रुवन् ।
पप्रच्छ किमिदं पुस्तं भाष्यटीकां स चाब्रवीत् ॥ १५ ॥

भोजन करके बैठे थे। मामा कुशल पूछ रहे थे। पूछा यह पुस्तक क्या है आप की झोली में? पद्मपाद ने कहा कि यह शारीरकभाष्य की टीका है ॥ १५ ॥

तद् द्रष्टुमिच्छवे प्रादाद् दृष्ट्वा मोदमवाप सः ।
खेदं चावाप स स्वेष्टप्राभाकरनिराकृतेः ॥ १६ ॥

उसे देखने की इच्छा प्रकट की तो पद्मपाद ने दिया। देखकर मामा साहेब प्रसन्न भी हुए और अपने इष्ट प्राभाकरमतनिराकरण देखकर खिन्न भी हुए ॥ १६ ॥

सेतुं गच्छाम्यहं न्यस्य पुस्तकं तु भवद्गृहे ।
मज्जीवोऽत्र तथा प्रीतिर्यथान्येषां गृहादिषु ॥ १७ ॥

पद्मपाद :—मैं सेतुबन्ध जा रहा हूँ। पुस्तक यहीं आपके घर में रख जाता हूँ। मेरा जीव तो इसी में है। और उतनी ही प्रीति इसमें मेरी है जितनी दूसरों को गृहादि में होती है ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वानुमतस्तत्र निर्ययौ न्यस्य पुस्तकम् ।
गन्तुर्वामाक्षि पस्पन्दे क्षुतिरुच्चैरवर्त्तत ॥ १८ ॥

इतना कहा तो मामा ने अनुज्ञा दी। पुस्तक वहीं रखकर वे निकले। निकलते ही वामाक्षिस्पन्दन होने लगा। जोरों से छींक आयी ॥ १८ ॥

तस्मिन् याते मातुलोऽस्य ग्रन्थं मेने निजार्दनम् ।
दहेयं चेद्भवेन्निन्दा नास्मि तत्खण्डने क्षमः ॥ १९ ॥

पद्मपाद के जाने पर मामा ने सोचा कि यह ग्रन्थ तो मेरा ही मर्दन करेगा। इसको अगर जला डालूँ तो लोग निन्दा करेंगे। और इसका खण्डन करूँ तो उतनी क्षमता मुझमें नहीं है ॥ १९ ॥

एकदाऽचिन्तयत्सोऽपि धक्ष्यामि स्वं निकेतनम् ।
ग्रन्थोऽयं धक्ष्यते तत्र नापकीर्त्तिश्च मे भवेत् ।। २० ।।

एक दिन मामा ने सोचा कि मैं अपना घर ही जला डालूँ । उसमें यह ग्रन्थ भी जल जायेगा और मेरी अपकीर्त्ति भी गहीं होगी ।। २० ।।

सीतावियोगखिन्नो हि रामोऽब्धि वीक्ष्य विस्मितः ।
कथं तरेयमिति स चिन्ताव्याकुलितः पुरा ।। २१ ।।

पहले समय की बात है—सीता के वियोग से दुःखी राम समुद्र किनारे पहुँचे । विशाल समुद्र को देखकर वे आश्चर्य में पड़े । सोचने लगे कि कैसे इसको पार करूँ । वे चिन्तित होने लगे ।। २१ ।।

तत्रागमत्तदागस्त्यो महर्षिस्तेजसां निधिः ।
वृत्तं विदित्वा स प्राह रामचन्द्रं महामतिम् ।। २२ ।।

उस समय वहाँ तेजस्वी महर्षि अगस्त्यजी पहुँचे । सारा वृत्तान्त मालूम हो गया तो रामचन्द्र से वे बोलने लगे ।। २२ ।।

पीत्वा शुष्कं पुरेवाहं कर्त्तुं शक्नोमि सागरम् ।
तत्र कीर्त्तिर्ममैव स्यान्न पुनस्ते रघूत्तम ।। २३ ।।

मैं पहले के समान फिर से सागर को पीकर सुखा सकता हूँ । किन्तु उसमें कीर्त्ति मेरी होगी, रघुवर ! आपकी नहीं ।। २३ ।।

सेतुं निर्मापयातस्त्वं यतः कीर्त्तिर्भवेत्तव ।
तथेति राघवः सिन्धौ दीर्घं सेतुमचीकरत् ।। २४ ।।

अतः आप स्वयं समुद्र पर सेतु बनवाओ जिससे आपकी कीर्त्ति रहेगी । ठीक, कहकर राम ने समुद्र पर लम्बा पुल बनवाया ।। २४ ।।

तं दृष्ट्वा तत्र च स्नात्वा रामनाथं सनन्दनः ।
ददर्श तत्र च कथाः काश्चित्प्रावर्त्तयद्यतिः ।। २५ ।।

सनन्दन ने उसी सेतुबन्ध का दर्शन किया, वहाँ स्नान किया, फिर रामेश्वर का दर्शन किया । उसके बाद कुछ कथा प्रारम्भ की ।। २५ ।।

अपृच्छत्तत्र कश्चित्तु कथाविस्तारहेतवे ।
रामेश्वरपदे को नु समासो बुधसंमतः ।। २६ ।।

कथा का विस्तार करने के लिए एक ने पूछा कि रामेश्वर पद में कौन सा समास है ॥ २६ ॥

षष्ठीतत्पुरुषं रामो बहुव्रीहिं महेश्वरः ।
कर्मधारयमाहुः स्म सुरेन्द्राद्याः प्रतिष्ठितौ ॥ २७ ॥

सनन्दन ने कहा :—राम का ईश्वर रामेश्वर ऐसा षष्ठी समास राम ने कहा। शंकर ने कहा राम ईश्वर जिस मेरा वह रामेश्वर ऐसा बहुव्रीहि समास है। ब्रह्मा आदि देवताओं ने कहा राम ही ईश्वर अर्थात् शंकर ऐसा कर्मधारय है ॥ २७ ॥

इत्थं तत्र कथाः कुर्वन्न्युष्य किंचिदहानि च ।
प्रतस्थे मातुलगृहं यत्रासौ कपटार्त्तिमान् ॥ २८ ॥

ऐसी ऐसी कथायें चलती रही। कुछ दिन वहाँ रहकर फिर मामा के घर की ओर पद्मपाद ने प्रस्थान किया। जहाँ मामा साहेब कपट दुःख दिखाये वैठे थे ॥ २८ ॥

मा खेदमावह महन् दग्धा बुद्धिर्न मे यतः ।
पुनष्टीकां करिष्यामीत्येवं व्यवसितः पुनः ॥ २९ ॥

पद्मपाद ने कहा श्रीमन्! आप खेद न करें। मेरी वुद्धि तो जली नहीं है। मैं फिर से टीका लिखता हूँ। ऐसा कहकर फिर से टीका लिखने वैठे ॥ २९ ॥

तन्मातुलः पुनर्भीतोऽक्षिपद् द्रव्यं किमप्यसौ ।
मनोघ्नं भोजने तस्येत्येवं केचित्प्रचक्षते ॥ ३० ॥

उनके मामा फिर से भीत हो गये और भोजन में ऐसा कोई जहर डाला जिससे पद्मपाद की बुद्धि भी मारी गयी। ऐसे कुछ लोग वर्णन करते हैं। [सत्यता कहाँ तक यह भगवान् जाने] ॥३०॥

चतुर्दिक्षु गतास्तीर्थेष्वागता मिलिता गुरुम् ।
चरन्तं केरलप्रान्ते जज्ञुरन्योन्यवार्त्तया ॥ ३१ ॥

तीर्थयात्रा के लिये चारों ओर गये हुए सभी एकत्र आकर सम्मिलित हो गये। अन्योन्य वार्त्ता से उनको मालूम पड़ गया कि आजकल आचार्य केरल प्रान्त में ही विचरण कर रहे हैं ॥३१॥

आचार्यचरणाम्भोजदर्शनोत्कण्ठमानसाः ।
प्रतस्थिरे ततः सर्वे केरलान् श्रद्धयान्विताः ॥ ३२ ॥

आचार्य चरण दर्शन के लिये उत्कण्ठित होकर वे सब केरल की ओर चल पड़े ॥३२॥

महासुरालये गीर्भिर्देशिकं यतिपुङ्गवाः ।
विष्णुं स्तुवन्तं श्रौतीभिर्ददृशुः प्रीतिसंयुताः ॥ ३३ ॥

अनन्तशयन में आचार्य का उन्होंने दर्शन किया। आचार्य भगवान विष्णु की ब्रह्मतत्त्वरूप से स्तुति कर रहे थे। ("प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं" इत्यादि द्रष्टव्य है। "तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यं" इत्यादि वहाँ के शब्द यहाँ विशेषतया अवलोकनीय है) ॥३३॥

पप्रच्छ कुशलं सर्वान् प्रसन्नवदनान् गुरुः ।
खिन्नचित्तमिवालक्ष्याऽप्राक्षीत्तत्र सनन्दनम् ॥ ३४ ॥

आचार्य ने सबसे कुशल पूछा। वे सब प्रसन्नमुख थे। परन्तु सनन्दन को खिन्न देखकर कारण पूछा ॥३४॥

मातुलस्याग्रहात्तस्य गेहे किंचिद्दिनस्थितिम् ।
शास्त्रचर्चासु तद्भङ्गं पुस्तस्याग्निनिवेशनम् ॥ ३५ ॥

भोजने विषदानं च सर्वमेव सविस्तरम् ।
निवेद्य गुरवे जातः शोकाक्रान्तः सनन्दनः ॥ ३६ ॥

मामा के आग्रह से कुछ दिन उनके घर में रहना, शास्त्र चर्चा में मामा का हारना, यात्रा में जाने पर पुस्तक को आग में जलाना, वाद में आने पर भोजन में विष देना आदि सभी बातों को विस्तारपूर्वक आचार्य के सामने निवेदन कर सनन्दन शोकाकुल होने लगे ॥३५-३६॥

अङ्ग कर्मविपाकोऽयं दुर्वारो मा खिदस्ततः ।
अयमर्थो मया प्रोक्तः सुरेशाय पुरैव हि ॥ ३७ ॥

आचार्य ने कहा—हे सनन्दन ! खेद मत करो। यह सब पूर्वकर्म का विपाक है। होने ही वाला था। यह बात मैंने सुरेश्वर को पहले ही बतायी थी।

त्वया शृङ्गगिरौ पूर्वं श्राविता पञ्चपादिका ।
तन्मे स्मृतिपथेऽद्यापि विद्यते तां लिख द्रुतम् ।। ३८ ।।

तुमने शृङ्गेरी में मुझे पंचपादिका सुनायी थी। आज भी मुझे वह याद है। तुम जलदी बैठ कर उसे लिखो ।।३८।।

पूर्वयैवानुपूर्व्या तामुपाचष्टे स्म देशिकः ।
महापुरुषधुर्येषु नैतच्चित्रं महर्षिषु ।। ३९ ।।

पहले वाली आनुपूर्वी से पूरी पंचपादिका को आचार्य ने बतला दिया। महापुरुषों में भी महान् महर्षियों में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।३९।।

अभूतिमनुमार्धाङ्गमभोगिपरिवारितम् ।
अपूर्वशंकरं वन्देऽकालाङ्कमविनायकम् ।। ४० ।।

कैलासवासी शंकर भूति = (विभूति = भस्म) सहित हैं। आचार्य शङ्कर भूति = (वैभव से) रहित हैं। कैलास शङ्कर उमाअर्धाङ्ग हैं। आचार्यशंकर अनुमा = (अनुमान) अर्धाङ्ग हैं। कैलासशंकर भोगी (सर्प) परिवारित हैं, आचार्य शंकर अभोगि (= भोगरहित त्यागी) परिवारित हैं। कैलासशंकर काल (कण्ठ में काले रंग के) अंक वाले हैं आचार्य शंकर काल (मृत्यु) अंक रहित हैं। कैलास शंकर विनायक (गणेश) सहित हैं। आचार्य शंकर विनायक (वौद्धसिद्धान्त) रहित हैं। ऐसे अपूर्व आचार्य शंकर को मैं प्रणाम करता हूँ ।।४०।।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ।। ४१ ।।

श्रुति वाक्यों से श्रवण, युक्तियों से मनन और ध्यान रूपी निदिध्यासन ये तीन आत्मदर्शन के हेतु हैं ।।४१।।

प्राधान्यं श्रवणस्यैव मननाद् ध्यानतोऽपि च ।
उत्पत्तावन्तरङ्गं हि ज्ञानस्य श्रवणं बुधाः ।। ४२ ।।

मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा श्रवण की प्रधानता है। क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति में श्रवण अन्तरङ्ग है ।।४२।।

प्रत्यक्षविस्मृते साक्षात्कारः श्रवणहेतुकः ।
दशमस्त्वमसीत्यादौ सर्वानुभवगोचरः ।। ४३ ।।

वस्तु प्रत्यक्ष हो किन्तु विस्मृत हो वहाँ साक्षात्कार का कारण श्रवण ही है। यह दशमस्त्वमसि इत्यादि में सर्वानुभव विषय है ॥४३॥

एवं सिद्धेऽपि साक्षात्त्वकारणत्वे विधिर्ह्ययम्।
नियमाय भवेद् यद्वदवघातादिकर्मसु ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रवण की साक्षात्कारकारणता सिद्ध ही है। फिर भी श्रोतव्यः यह विधि है। वह नियमार्थ है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि में अवघातनियम है।

नन्वज्ञानं कथं ज्ञाने न प्रकाशे तमः क्वचित्।
न वा परस्पराध्यासः प्रकाशतमसोः खलु ॥ ४५ ॥

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। उसमें अज्ञान कैसे हो? क्या सूर्य पर अन्धकार सम्भव है? प्रकाश और अन्धकार का अन्योन्याध्यास भी कहीं देखने में नहीं आता। तब ज्ञानरूपी ब्रह्म का और अज्ञानरूपी जगत् का अन्योन्याध्यास भी कैसे हो ॥४५॥

अत्रोच्यते यथोलूकः प्रकाशैकस्वरूपिणि।
घनान्धतमसाध्यासं धत्ते तद्वद्भवेदिह ॥ ४६ ॥

उक्त प्रश्नका उत्तर यह है कि प्रकाशस्वरूप सूर्य में उल्लू अंधकार का अध्यास करता है। वैसे ब्रह्म में अज्ञानाध्यास सम्भव है ॥४६॥

ज्ञातेऽज्ञातेऽपि नाध्यासो न ब्रह्मण्युपपद्यते।
निःसामान्यविशेषे चेन्ना,ऽहंप्रत्ययसत्त्वतः ॥ ४७ ॥

ब्रह्म ज्ञात हो तो अध्यास संभव नहीं। अज्ञात में अध्यास होता नहीं। सामान्यरूप से ज्ञात और विशेषरूप से अज्ञात में अध्यास होता है। ब्रह्म में सामान्य विशेष तो है नहीं। उत्तर यह 'अहं' करके सामान्यतया ब्रह्म ज्ञात है। अखण्ड आनन्दरूप से अज्ञात है। अतः अध्यास सम्भव है ॥४७॥

अप्रत्यक्षेऽपि चाध्यासः साक्षिभास्ये विहायसि।
बालैर्हि तलमालिन्यप्रभृतेः क्रियते यथा ॥ ४८ ॥

अप्रत्यक्ष होने पर भी साक्षिभास्य होने मात्र से आकाश में तल मालिन्यादि का अध्यास अज्ञानी करते हैं। वैसे अप्रत्यक्ष होने पर भी स्वयंप्रकाश आत्मा में अध्यास सम्भव है ॥४८॥

इत्यादिनिजसिद्धान्तप्रतिपादनबन्धुराम् ।
श्रुतियुक्त्यादिबहुलजटिलां पञ्चपादिकाम् ।। ४९ ।।
परमानन्दभरितहृदयः प्राप्य तां मुदा ।
उदतिष्ठदतिष्ठच्चारोदीद् गायति नृत्यति ।। ५० ।।

इत्यादि पूर्वदर्शितसिद्धान्तप्रतिपादनपरक श्रुतियुक्तिसमन्वित पंचपादिका को प्राप्त कर परमानन्दमग्न सनन्दन उठने बैठने रोने नाचने जैसे लगे ।।४९-५०।।

श्रुत्वाचार्यं समायातं भूपतो राजशेखरः ।
आगत्य चरणाम्भोजे ननाम विदुषां वरः ।। ५१ ।।

आचार्य को आये सुनकर राजा राजशेखर आये और उनके चरणों में प्रणाम किया ।।५१।।

श्रुतपूर्वा मया ते या सुरम्या नाटकत्रयी ।
प्रथते किमिति प्रोक्तोऽनलदाहं जगाद सः ।। ५२ ।।

आचार्य ने पूछा कि मैंने आपके तीन नाटक पहले सुने थे। उनका लोगों में प्रचार हुआ या नहीं। राजशेखर ने कहा भगवन् ! प्रमाद में तीनों नाटक जल गये ।।५२।।

स्त्रियते सा मया सर्वं लिखेति कथितो नृपः ।
अलिखद्विस्मयाविष्टः सेवां स्वां प्रार्थयच्च सः ।। ५३ ।।

आचार्य ने कहा—मुझे तीनों नाटक याद हैं, तुम लिखो। राजा ने पुनः तीनों नाटक लिखे। लिखते वखत राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अन्त में प्रार्थना की कि भगवन् ! मेरे लिए योग्य सेवा फरमायें ।।५३।।

कालटिग्रामगाः शप्ता मया तद्वत्त्वयापि च ।
तैर्वर्त्तितव्यमधुनेत्याचार्यस्तं समादिशत् ।। ५४ ।।

आचार्य ने राजा को आदेश दिया कि मैंने कालटिग्रामवासी ब्राह्मणों को वेदविहीन होने का श्राप दिया है, वैसे ही तुम उनसे वरताव करो (द्रष्टव्य :—वे ही कालटिवासी ब्राह्मण तिरस्कृत होने से केरल में इधर उधर भटकते हुये अनेक मन्दिरों में मन्दिरवासी बने) ।।५४।।

सनन्दनस्तोषमजूजुषद् भृशं
निजश्रियं प्राप्य हि पञ्चपादिकाम् ।
मुदं परामायत राजशेखरो
यशस्करीं प्राप्य च नाटकत्रयीम् ।। ५५ ।।

सनन्दन अपनी शोभारूपी पंचपादिका को प्राप्त कर खुशी मनाने लगे और राजशेखर अपने यशोरूपी तीन नाटकों को प्राप्त कर आनन्द मनाने लगे ।।५५।।

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
सर्गः पञ्चदशः पञ्चपादिकोद्धारसंयुतः ।। १५ ।।

अथ षोडशः सर्गः

अथ शिष्यैः सहस्रैश्च राज्ञा चैव सुधन्वना ।
दिशो विजेतुं प्रथमं प्रतस्थे सेतुबन्धनम् ।। १ ।।

इसके बाद आचार्य शंकरभगवत्पाद अद्वैतसिद्धान्तप्रसारार्थ हजारों शिष्यों और राजा सुधन्वा के साथ दिग्विजयार्थ प्रथम सेतुबन्ध की ओर प्रस्थान करते हैं ।।१।।

तत्रानार्याः समागत्य प्रत्यवारुन्धताखिलान् ।
शाक्तेन वाममार्गेण प्रत्यवास्थिषतापि च ।। २ ।।

वहां अनार्य शाक्तमतावलम्बियों ने उन्हें रास्ते में रोका और अपने शाक्तमत को प्रस्तुत किया ।।२।।

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रां मैथुनमेव च ।
मकारपञ्चकं धत्स्व कौलिकानां विमुक्तिदम् ।। ३ ।।

पंचमकार का सेवन करो। मद्य, मांस मछली, मुद्रा और मैथुन इन पंचमकार से कौलिकों को मोक्ष मिलता है ।।३।।

अन्यास्तु सकला विद्याः प्रकटा गणिका इव ।
इयं तु शांभवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ।। ४ ।।

अन्य सभी विद्यायें सिर उघाड़े गणिका समान हैं। यह हमारी विद्या शांभवी विद्या गुप्त कुलवधूसदृश है ॥४॥

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव एव च ।
कुलेऽकुलस्य संयोगः कौलमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

कुल शक्ति को कहते हैं। अकुल शिव को। कुल के साथ अकुल का संयोग ही कौल है ॥४॥

मैवं मद्यं च मांसं च मीनं मुद्रां च मैथुनम् ।
मकारपञ्चकं भो भो योगिनां मुक्तिदायकम् ॥ ६ ॥

आचार्य ने उत्तर दिया—हे शाक्तो ! मद्यादि पञ्चमकार कौलिकों को नहीं, योगियों को मुक्ति देने वाले हैं ॥६॥

यदग्निमण्डलमभिनिश्च्योतत् सोममण्डलात् ।
अमृतं मदनात्सद्यं तदास्वाद्य कृती नरः ॥ ७ ॥

चन्द्रमण्डल से नाभिस्थित अग्निमण्डल की ओर जो अमृत गिरता है वह मद प्रीतिजनक होने से मद्य है। उसके आस्वादन से मनुष्य कृतार्थ होता है, न कि बाह्य मद्य से ॥७॥

खेचर्या मांसजिह्वाया आगलान्तप्रवेशनम् ।
मांसभुक्तिरिति प्राहुर्मद्यपानं यया सह ॥ ८ ॥

जीभ केवल मांसात्मक है। खेचरी मुद्रा से गले तक जीभ को ले जाना ही मांसभक्षण है। उसी के साथ पूर्वोक्त मद्यपान है ॥८॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये चरन्तं प्राणसंज्ञितम् ।
मत्स्यं तत्पूरयेदन्तस्तन्मीनादनमुच्यते ॥ ९ ॥

गङ्गा और यमुना (इडा और पिंगला) के मध्य में जो प्राण चलते हैं वे मत्स्य हैं। उनको अन्दर पूरण करना मत्स्य-भक्षण है ॥९॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
प्रेक्षयन्नासिकाग्रं स्वं मुद्रायुक्त इतीर्यते ॥ १० ॥

शरीर, सिर और ग्रीवा सम रखकर नासिकाग्रभाग को देखते हुए स्थिर रहना ही मुद्रा है ॥१०॥

कुलकुण्डलिनी शक्तिर्देहिनो देहधारिणी ।
तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्त्तितम् ॥ ११ ॥

मूलाधार स्थित, देह को धारण करनेवाली, कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रारस्थ शिव के साथ संयोजन ही मैथुन है, न कि वाह्य मैथुन ॥११॥

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्ज्ञानिनां च विमुक्तिदम् ॥ १२ ॥

मकारपञ्चक ज्ञानियों को भी मोक्ष देता है ॥१२॥

यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम्।
तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्त्तितम् ॥ १३ ॥

निर्विकार निरंजन ब्रह्म में प्रमदन = हर्षित करने वाला ज्ञान ही मद्य है ॥१३॥

माशब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशं रसितं तथा।
सदा योऽश्नात्तमेवाह शंकरो मांससाधकम् ॥ १४ ॥

मा = रसना का अंस = अंश = रस को जो जीते वहीं मांससाधक है। ऐसा शिवजी ने पावर्ती को कहा ॥१४॥

मां स्यतः स्वस्वरूपाद्यौ सुखदुःखात्मकौ प्रिये।
तौ मत्स्यौ भक्षयेदित्यभ्याहेशो मत्स्यसाधकम् ॥ १५ ॥

जो आत्मस्वरूप से प्रच्युत कराये वे सुखदुःख ही मत्स्य हैं (मत् = मुझे स्य = गिराने वाले) उनको जीतना हीं मत्स्यादन है ॥१५॥

सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेन बन्धनम्।
सत्सङ्गमुद्रणं यत्तु सा मुद्रा परिकीर्त्तिता ॥ १६ ॥

सत्संग से मुक्ति और असत्संग से वन्धन होता है। सत्सङ्ग की छाप ही मुद्रा है ॥१६॥

यथा स्त्रियं परिष्वज्य न बाह्यं वेद नान्तरम्।
इति श्रुतेर्जीवपरयोगो मैथुनमीर्यते ॥ १७ ॥

श्रुति में जीवात्मा परमात्मा के योग को स्त्री पुरुष संयोग की उपमा दी है, अतः वही मैथुन है ॥१७॥

इत्थं शाक्तानानार्यान् स जित्वा पाण्ड्येषु संचरन्।
चोलेषु द्रविडेष्वेवं श्रौतं धर्ममवर्त्तयत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार अनार्य शाक्तों को जीतकर पाण्ड्य, चौल और द्रविड़ देशों में वैदिकधर्म का आचार्य ने प्रवर्तन किया ॥१८॥

ततः काञ्चीमुपागत्य देवागारं विधाप्य च ।
श्रौतधर्मेण देव्या स सपर्यां पर्यकल्पयत् ॥ १९ ॥

आचार्य ने काँची में आकर वहाँ देवी का मन्दिर बनवाया और वैदिक मार्ग से पूजा चालू करायी ॥१९॥

आन्ध्रान् विदर्भानपि च परिभ्रम्य महामनाः ।
जित्वा भैरवतन्त्रस्थान् श्रौतं धर्ममतिष्ठिपत् ॥ २० ॥

वहाँ से आन्ध्र तथा विदर्भ में भ्रमण कर भैरव तन्त्र वालों को जीता और वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की ॥२०॥

ततः कर्णाटकं प्रागात्कापालिककुलावृतम् ।
क्रकचो नृकरोटीभृच्चिताभस्मधरोऽभ्यगात् ॥ २१ ॥

वहाँ से पश्चिम की ओर कर्नाटक में आये जहाँ कापालिकों का झुंड था। मनुष्य की खोपड़ी एवं चिताभस्म धारण कर वहाँ क्रकच पहूंच गया ॥२१॥

सहस्रशिष्यसहितः सायुधोऽभ्येत्य देशिकम् ।
रुरोध तत्र शतशो निहताश्च सुधन्वना ॥ २२ ॥

वह क्रकच हजारों शिष्यों के साथ हाथ में शस्त्र लेकर आया और आचार्य को रोका। शस्त्र प्रयोग में सुधन्वा राजा ने सैकड़ों को मार गिराया ॥२२॥

क्रुद्धस्तदा कपाली स प्रभावं पश्य मेऽधुना ।
कदाशयेति प्रवदन् दध्यौ भैरवमुग्रधीः ॥ २३ ॥

उस समय क्रुद्ध होकर कपाली ने कहा– अरे दुष्टाशय ! मेरा प्रभाव तुम अभी देखोगे। इतना कहकर उग्रमति कापालिक ने भैरव का ध्यान किया ॥२३॥

महाकपाली तत्राविरासीद्विकटरूपधृक् ।
तमाह क्रकचो व्यग्रो जहि भो स्वजनद्रुहम् ॥ २४ ॥

महाकपाली भैरव प्रकट हो गये। उनका रूप वड़ा विकट था। क्रकच व्यग्र होकर बोला आप स्वजन द्रोही को मार डालो। (महाभैरव का जन = भक्त क्रकच, उसके द्रोही शंकराचार्य को मारो यह उसका अर्थ था) ॥२४॥

मम स्वरूपभूतोऽयं शंकरः स्वजनो मम।
तद्द्रोही तु त्वमेवासीत्यच्छिनत्तच्छिरो हरः ॥ २५ ॥

शंकर (आचार्य) तो मेरा ही स्वरूप है। अतः स्वजन हुआ। उसका द्रोही तुम हो। अतः तुम्हारे वचनानुसार स्वजनद्रोही को मारता हूँ। ऐसा कहकर क्रकच का ही सिर भैरव ने काट गिराया ॥२५॥

क्रकचे निहते तस्मिन् सर्वे लोकाः शर्म ययुः।
तत्र धर्मं प्रतिष्ठाप्य लोकानिदमुपादिशत् ॥ २६ ॥

क्रकच के मारे जाने पर वहाँ के लोगों को बड़ी शान्ति अनुभव होने लगी। आचार्य ने वहाँ धर्मप्रतिष्ठा कराकर सब लोगों को यह उपदेश दिया ॥२६॥

निरावरणविज्ञानस्वरूपो हि स्वयं हरः।
तादृशज्ञानसंपत्तिः स्याद्दिगम्बरता नृणाम् ॥ २७ ॥

शंकर आवरण रहित ज्ञानस्वरूप हैं। यही शंकर की दिगम्बरता है। वैसा ज्ञान प्राप्त करना यह मनुष्यों की दिगंबरता है। वस्त्रत्याग मात्र से कोई दिगम्बर नहीं होता ॥२७॥

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते हि यत्।
तद्भस्मोद्धूलयेद्देहे समत्वाख्यं हि वस्तुषु ॥ २८ ॥

गीता में जो ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है बताया वह भस्म है समता। उसका धारण ही भस्म धारण है। बाह्य भस्मधारण प्रतीक मात्र है ॥२८॥

शान्तिवैराग्यबोधाख्यैस्त्रिभिरग्रैस्तरस्विभिः।
त्रिगुणं त्रिपुरं हन्यात् त्रिशूलेन त्रिवेददृक् ॥ २९ ॥

शान्ति वैराग्य और बोध ये तीन नोक हैं। वेदत्रय दृष्टि त्रिशूल है। उससे त्रिगुणरूपी त्रिपुरासुर को मारना चाहिए ॥२९॥

महाश्मशानः संसारो जन्ममृत्युनिरन्तरः।
इति पश्यन् वसेत्सोऽयं श्मशाने वास उच्यते ॥ ३० ॥

संसार में निरन्तर मृत्यु होती है। मेरी मृत्यु भी होगी। संसार इसलिये महाश्मशान है। ऐसा समझ कर रहना ही श्मशानवास है ॥३०॥

कं सुखं पालयेद्यस्तु स कपाल उदीर्यते ।
स विरागश्च बोधश्च न पुनर्नृकरोटिका ॥ ३१ ॥

कं का अर्थ है सुख आनन्द। उसका पालन वैराग्य और बोध से होता है। अतः वे ही कपाल हैं। उनका धारण करो न कि खोपड़ी का ॥३१॥

इत्थं तत्त्वं समादिश्य ततः पश्चिममम्बुधिम् ।
प्राप्य गोकर्णमागत्य शिवं तुष्टाव देशिकः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार लोगों को तत्वोपदेश कर आचार्य ने वहाँ से पश्चिम समुद्रतीरस्थ गोकर्ण आकर वहाँ शंकर की स्तुति की ॥३२॥

शिवानन्दलहर्यादिस्तुतिभिः संस्तुतो हरः ।
आशिषः प्रादिशत्तस्मै दिशां विजयहेतवे ॥ ३३ ॥

शिवानन्दलहरी आदि से संस्तुत शंकर भगवान ने दिग्विजयार्थ आशीर्वाद दिया ॥३३॥

तत्राचार्यमुपायातं हरदत्ताभिधो बुधः ।
नीलकण्ठं निजगुरुमसूयालुर्व्यजिज्ञपत् ॥ ३४ ॥

हरदत्त नामक असूयालु पण्डित ने अपने गुरु नीलकण्ठ को आचार्य के वहाँ आने की खबर दी ॥३४॥

विवादायोदतिष्ठत् स शिवतत्परभाष्यकृत् ।
व्यासात्पूर्वं कपिलवत्स्वपक्षं चोदतिष्ठिपत् ॥ ३५ ॥

नीलकण्ठ विवाद के लिए खड़ा हो गया। वह ब्रह्म सूत्रों पर शिव परक भाष्य लिखने वाला था। व्यास से पूर्व कपिल के समान आचार्य शंकर के सामने अपना पक्ष उसने उठाया ॥३५॥

सुरेश्वरं विवादाय संनद्धमपवार्य सः ।
प्राह त्वत्कौशलं वेद्मि गुरुस्ते प्रब्रवीतु माम् ॥ ३६ ॥

सुरेश्वराचार्य विवाद के लिये तैयार हो गये तो नीलकण्ठ ने कहा कि तुम्हारी कुशलता मैं जानता हूँ। तुम्हारे गुरु ही मेरे साथ शास्त्रार्थ कर लें ॥३६॥

ऐक्यं न जीवपरयोरभेदे हेत्वभावतः ।
न वाच्यं प्रतिबिम्बत्वादभिन्नो जीव इत्यपि ।। ३७ ।।
भिन्नो हि प्रतिविम्बः स्याद्विम्बतुल्यो हि स स्मृतः ।
प्रतिबिम्बे विनष्टेऽपि बिम्बस्तिष्ठति निश्चलः ।। ३८ ।।

नीलकण्ठ :—जीव और ईश्वर की एकता में कोई हेतु नहीं है। ईश्वर का प्रतिविम्ब जीव है। इसीलिए एक है कहो तो भी ठीक नहीं। बिम्ब से प्रतिविम्ब भिन्न ही होता है। वह बिम्बतुल्य होता है, बिम्ब ही नहीं। प्रतिविम्ब नष्ट होता है तो भी बिम्ब रह जाता है। दोनों की एकता हो तो प्रतिबिम्ब नष्ट हुआ तो बिम्ब भी नष्ट हो जाता ।।३७-३८।।

विरुद्धे मौढ्यसार्वज्ञे सर्वेषामेव संमते ।
धर्मभेदाद्ध्रुवेद्धर्मिभेदश्चेति विनिश्चितम् ।। ३९ ।।

जीव में मूढ़ता है। ईश्वर में सर्वज्ञता है। दोनों विरुद्धधर्म हैं। धर्म भेद से धर्मिभेद भी निश्चित है ।।३९।।

न धर्मबाधाद्धर्म्यैक्यं संपद्येतेति सांप्रतम् ।
अश्वत्वगोत्वबाधेन गवाश्वैक्यप्रसङ्गतः ।। ४० ।।

धर्म बाधित होने पर धर्मी की एकता होगी यह कहना भी नहीं बनेगा। क्या अश्वत्व और गोत्व का बाध कर अश्व और गाय की एकता सिद्ध की जा सकती है ? ।।४०।।

प्रात्यक्षिकं च जगतः सत्यत्वं दुरपोहनम् ।
इत्यादिभिर्नीलकण्ठो युक्तिभिः प्रत्यवास्थित ।। ४१ ।।

जगत् प्रत्यक्षतः सत्य है। उसका अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इत्यादि युक्तियों से नीलकण्ठ ने शास्त्रार्थ शुरू किया ।।४१।।

सोऽयं पुरुष इत्यादौ तदेतद्देशकालताम् ।
विरुद्धां किं न संत्यज्य ह्यखण्डं बुध्यते बुधैः ।। ४२ ।।

आचार्य ने कहा—सोऽयं पुरुषः यहां विरुद्ध तत्कालदेश और एतत्काल-देश को छोड़कर अखण्ड बोध क्या नहीं होता ? ।।४२।।

गवाश्वैक्यप्रसक्तिर्या दर्शिता सा न युज्यते ।
तदैक्यबोधकं किंचित्तत्त्वमस्यादिवन्न हि ।। ४३ ।।

गौ और अश्व की एकता की प्रसक्ति जो बतायी वह अयुक्त है। क्योंकि तत्त्वमसि के समान गौरश्वोऽस्ति ऐसा कोई ऐक्यबोधकवचन नहीं है ॥४३॥

स्वाप्नार्थः स्वप्नसमये सत्य एव प्रतीयते ।
प्रतीयतां ततः किं तत् सत्यमित्यभ्युपेयते ॥ ४४ ॥

स्वप्न समय में स्वाप्नार्थ सत्य ही दीखता है। तो क्या वह सत्य हो जायेगा ? ॥४४॥

इति सिद्धान्तमाकर्ण्य नीलकण्ठः समासतः ।
पुनरप्यब्रवीद् द्वैतसत्यत्वाभिनिविष्टधीः ॥ ४५ ॥

संक्षेप से सिद्धान्त सुनने पर भी द्वैतसत्यत्वाभिनिवेश से नीलकण्ठ ने फिर से कहा ॥४५॥

जीवेशैक्येऽखिलानां च जीवानामेकता भवेत् ।
जन्ममृत्युक्रियादुःखसुखभेदः कथं तदा ॥ ४६ ॥

जीव और ईश्वर की एकता हो तो सब जीवों की भी एकता होगी। तब कोई जनमा, कोई मरा, कोई सक्रिय, कोई निष्क्रय, कोई सुखी, कोई दुःखी यह विलक्षणता कैसे ? ॥४६॥

मैवं जन्मसृती किं नु मनुते स्वात्मनो भवान् ।
सुखादयो मनोधर्माः श्रुत्यैव प्रतिपादिताः ॥ ४७ ॥

आचार्यः—तो क्या आप जन्म मरणादि को आत्मा का धर्म मानते हैं? (वह स्वसिद्धान्त विरुद्ध है) सुखदुःखादि भी मन के धर्म हैं ऐसा श्रुति ने ही बताया है ॥ ४७ ॥

एवं पुनः शरीराणां मनसां च भिदा त्वया ।
साधिताऽर्थान्तरं तेन भवतोऽत्र प्रसज्यते ॥ ४८ ॥

उस युक्ति से आपने शरीर और मन का भेद साधा। यह तो अर्थान्तर दोष है ॥ ४८ ॥

सुखादिकं चेन्मनसो भोक्तृ स्याद्भवतो मनः ।
कर्त्ता तु चेतनश्चेति भवेद् व्यधिकृतिस्तयोः ॥ ४९ ॥

नी०—सुखादि मन में है, इसका अर्थ हुआ मन भोक्ता है। और कर्ता है चेतन आत्मा। तब कर्तृत्व और भोक्तृत्व व्यधिकरण हो जायेंगे। परन्तु वह ठीक नहीं। कर्त्ता ही भोक्ता होता है, अन्य नहीं ॥ ४९ ॥

मैवं कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे द्वे अप्येव मनोगते ।
ते च चैतन्यसांनिध्यादयसो दाहकत्ववत् ॥ ५० ॥

आचार्यः—आपका कथन ठीक नहीं । कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही मन में ही हैं । चेतन के सांनिध्य से मन चेतन सा होता है । जैसे अग्नि-सांनिध्य से लोहा अग्नि जैसा होता है ॥ ५० ॥

ननु विश्वस्य मिथ्यात्वे कर्मकण्डोऽसदर्थकः ।
भवेन्मैवं यतः सत्यं ब्रूमः सांव्यवहारिकम् ॥ ५१ ॥

नी०:—यदि विश्वमिथ्या हो तो कर्मकाण्ड असत्यार्थक होगा । आ०—व्यावहारिक सत्य मानने से उक्त दोष नहीं है ॥ ५१ ॥

नन्वेवं कपिलादीनां भवेद् भेदवचो मृषा ।
भवेच्छ्रुतिविरोधे स्यादनपेक्षा स्मृतिर्यतः ॥ ५२ ॥

नी०:—आपके मत में कपिलादि मुनियों का भेद सिद्धान्त झूठा पड़ जायेगा । आ०—पड़े, श्रुतिविरोध होने पर स्मृति अनपेक्षणीय होती ही है ॥ ५२ ॥

ननु दुःखविनाशस्य पुमर्थत्वमुपेयते ।
द्वैतं तिष्ठतु मा वा का मृषात्वाभिनिवेशिता ॥ ५३ ॥

नी०:—दुःखनाश ही पुरुषार्थ है । अब द्वैत सत्य हो या असत्य । इसमें आपको क्या लेना देना है ? ॥ ५३ ॥

मैवं श्रुतिर्निगदति द्वितीयाद्वै भयं भवेत् ।
ततश्च द्वैतमिथ्यात्वमुपगम्यं मनोषिभिः ॥ ५४ ॥

आ०—श्रुति कहती है—द्वितीय से भय होता है । अतः द्वैतमिथ्यात्व माने विना सर्वदुःखनाश संभव नहीं है ॥ ५४ ॥

न वाऽचेतनदुःखान्तः पुमर्थो भवितुं क्षमः ।
प्रस्तरादिसमत्वं हि कः पुमर्थं वदेत्सुधीः ॥ ५५ ॥

दुःखान्त होकर अचेतन पड़ा रहे यह पुरुषार्थ नहीं हो सकता । पत्थर के बराबर पड़ा रहना कौन स्वीकार कर सकता है । कैसा वह पुरुषार्थ है ? ॥ ५५ ॥

तस्माच्चेतनता मोक्षे तत्र द्वैते भयं ध्रुवम् ।
चेतनस्य किलानन्दः पुमर्थः सर्वसम्मतः ॥ ५६ ॥

इसलिये मोक्ष में चेतनत्ता मान्य है। फिर वहाँ द्वैत हो तो भय अवश्यंभावी है। चेतन का आनन्द ही परम पुरुषार्थ है ॥ ५६ ॥

इत्थं भग्ने नीलकण्ठे बिभ्युश्चोदयनादयः ।
सर्वेऽपि भगवत्पादपादमेवोपशिश्रियुः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार शास्त्रार्थ में नीलकण्ठ निरुत्तर हो गया तो उदयनादि सभी घबरा गये और भगवत्पाद के चरणाश्रित हो गये [द्रष्टव्यः—यहाँ का नीलकण्ठ एवं उदयनादि प्रसिद्ध नीलकण्ठ उदयनादि से भिन्न है। क्योंकि प्रसिद्ध नीलकण्ठादि आचार्य के बहुत बाद में हुए हैं। एक नाम के अनेक व्यक्ति का होना आज भी एक काल में ही देखने में आता है। जो पराजित हो गये वे आचार्याश्रित हो जाते थे। अतएव आज उनका द्वैतपरक ग्रन्थ उपलब्ध न होता हो तो वह भी कोई खास बात नहीं है] ॥ ५७ ॥

महाराष्ट्रेष्वथागत्य वाममार्गपरायणान् ।
विजित्य श्रौतमार्गेण तुष्टुवे विट्ठलेश्वरम् ॥ ५८ ॥

वहाँ से आचार्य महाराष्ट्र में आये और वाम मार्ग परायणों को जीत कर वैदिक धर्म का प्रतिष्ठापन किया और "महायोगिपीठे तटे भीमरथ्याः" इत्यादि श्लोकों से गिट्ठल भगवान की स्तुति की ॥ ५८ ॥

गुरुः शृङ्गवेरे प्रतिष्ठाप्य भव्यं
मठं दक्षिणाशां विजित्यापि सर्वाम् ।
प्रतस्थे प्रतीचीं विजेतुं विजेता
सशिष्यो मुदा भाष्यकारः सभूपः ॥ ५९ ॥

दक्षिण देश को जीत लिया। मध्य में ही शृङ्गेरी मठ का स्थापन हुआ। वहाँ से फिर विजयशील भाष्यकार पश्चिम दिशा को जीतने के लिये शिष्यों के और सुधन्वा राजा के साथ प्रस्थान करते हैं ॥ ५९ ॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
षोडशो निरगात्सर्गो दक्षिणाशाजयान्वितः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः सर्गः

सौराष्ट्रेषु परिभ्रम्य ययौ द्वारावतीं गुरुः ।
पाञ्चरात्रागमा यत्र भग्ना देशिकसूरिणा ॥ १ ॥

आचार्य सौराष्ट्र में परिभ्रमण कर द्वारिका पहुँचे जहां पाञ्चरात्रागम वालों को परास्त किया ॥१॥

चतुर्व्यूहे भवेदाद्यो वासुदेवः स ईश्वरः ।
संकर्षणस्ततो जीवः प्रद्युम्नश्च ततो मनः ॥ २ ॥
ततोऽनिरुद्धोऽहंकार उपास्याः पाञ्चरात्रगाः ।
वेदैरप्राप्य हि श्रेयः शाण्डिल्यो यदधीतवान् ॥ ३ ॥

पाञ्चरात्र में बताया है कि चार व्यूह है। प्रथम वासुदेव है, वही ईश्वर है। उससे संकर्षण हुआ। वही जीव है। उससे प्रद्युम्न हुआ, वही मन है। उससे अनिरुद्ध हुआ। वही अहंकार है। इन चारों की उपासना करनी चाहिये। वेदों से जब श्रेय की प्राप्ति नहीं हुई तब शाण्डिल्य ने पाञ्चरात्र का अध्ययन किया ॥२-३॥

तन्न जीवासमुत्पत्तेः कर्त्तुश्च करणं न सत् ।
एकेनैव गतार्थत्वात्सर्वेषां नेशता भवेत् ॥ ४ ॥

उक्त मत अयुक्त है। क्योंकि जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पूर्वकृत कर्म के बिना उत्पत्ति सुखदुःखादि मानेंगे तो कृतहानि आदि दोष होंगे। जीव कर्त्ता है मन कारण है। कर्त्ता से कारण उत्पन्न होते देखने में नहीं आया। यदि कहें कि ये चारों ईश्वर ही हैं तो वह भी अयुक्त है। कारण जब एक ही ईश्वर से सर्वकार्य सिद्ध हो सकता है, तब चार ईश्वर मानना निरर्थक और युक्तिविपरीत भी है ॥४॥

संकर्षणो हरेर्भ्राता स्वावतारः पुराणतः ।
स चेज्जीवो भवेज्जीवपरैक्यं साधितं त्वया ॥ ५ ॥

और पुराणों के अनुसार संकर्षण हरि के भाई हैं, हरि के ही अवतार हैं। वही यदि जीव है तो जीवेश्वर एकता को ही आपने सिद्ध किया ॥५॥

वासुदेवः परं ब्रह्म संकर्षण इतीश्वरः ।
हिरण्यगर्भः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्च विराडिति ।। ६ ।।

वस्तुतः चतुर्व्यूह रहस्य यही है कि वासुदेव परब्रह्म का नाम है। संकर्षण ईश्वर है। प्रद्युम्न हिरण्यगर्भ है और अनिरुद्ध विराट् को कहते हैं ॥६॥

शं भद्रं ब्रह्म खं चाहुर्धीवृत्ति तेन मुद्रयेत् ।
ब्रह्मशङ्खाप्तिहेतुः स न त्वचाज्वालनं हि तत् ।। ७ ।।

शङ्ख शब्द का अर्थ है शं = कल्याणरूपी खं = ब्रह्म। उससे बुद्धि वृति को मुद्रित करें। ब्रह्मरूपी शंख की उससे प्राप्ति होती है। त्वचा जलाना मुद्रण का अर्थ नहीं है ॥७॥

ब्रह्माकारितवृत्तेश्चाऽऽवर्त्तनं चक्रवत्सदा ।
ब्रह्मदर्शनहेतुत्वात् सुदर्शनमितीर्यते ।। ८ ।।

ब्रह्माकार वृत्ति का चक्र के समान बार बार आवर्तन करना चाहिये। वह ब्रह्म दर्शन का कारण होने से सुदर्शन कहलाता है ॥८॥

इत्थं विकृतसिद्धान्तं परिष्कार्य महामनाः ।
तत उज्जयिनीं प्रागाच्छिष्यव्रातसमन्वितः ।। ९ ।।

इस प्रकार पाञ्चरात्रों के विकृत सिद्धान्त का परिष्कार कर शिष्यों के साथ आचार्य उज्जैन पहुँच गये ॥९॥

महाकालेश्वरं तत्र प्रणम्य जगदीश्वरम् ।
तुष्टाव बहुलार्थाभिः स्तुतिभिर्देशिकोत्तमः ।। १० ।।

उज्जैन में महाकालेश्वर को प्रणाम कर गहन अर्थ युक्त स्तुतियों से आचार्य ने शंकर की स्तुति की ॥१०॥

अद्वैतदर्शनाचार्यं विज्ञाय समुपागतम् ।
विवादायागमत्तत्र पण्डितो भट्टभास्करः।। ११ ।।

अद्वैतदर्शन के आचार्य आए हैं सुनकर पण्डित भट्टभास्कर विवाद के लिये आ गये ॥११॥

ननु मायाप्रयुक्तोऽयं भेद ईश्वरजीवयोः ।
इति ब्रूषे तदा मायाश्रयो न कतरोऽनयोः ।। १२ ।।

न वा ब्रह्माश्रया सा यन्निःसङ्गं ब्रह्म भण्यते ।
तस्मान्मायाकृतो भेद इत्येतद् दुर्नयं वचः ।। १३ ।।

भट्टभास्कर :—ईश्वर और जीव का भेद मायाप्रयुक्त है। तव इनमें एक भी माया का आश्रय नहीं होगा। क्योंकि माया से जीव और ईश्वर हुए। ब्रह्म भी माया का आश्रय नहीं। क्योंकि ब्रह्म असंग है। उसमें अज्ञान का संग किस प्रकार होगा ? अतः मायाकृत भेद है यह न्यायशून्य कथनमात्र है ।।१२-१३।।

मैवं लोके दर्पणो हि मुखात्तत्प्रतिबिम्बभित् ।
मुखाश्रितोऽपि चाभासपक्षपाती स दृश्यते ।। १४ ।।
एवमीशाश्रिता माया जीवमीशाद् भनत्ति सा ।
स्वधर्माधायिनी जीवपक्षपातिन्यपीरिता ।। १५ ।।

आचार्यः—लोक में यह देखा गया है कि दर्पण बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद करता है। मुखाश्रित होने पर भी प्रतिबिम्बपक्षपाती होता है। जैसे कि माया ईश्वर और जीव का भेद करती है। और ईश्वराश्रित होने पर भी अपने धर्मों को जीव में अधान करने से जीवपक्षपातिनी होती है ।।१४-१५।।

कल्पिता किल मायेयं तस्याः सङ्गोऽपि कल्पितः ।
न हि कल्पितसङ्गेन ससङ्गत्वं मरौ कवत् ।। १६ ।।

माया कल्पित होने के कारण उसका सङ्ग भी कल्पित है। कल्पित सङ्ग होने से कोई ससङ्ग नहीं होता। जैसे कि कल्पित जल सङ्ग होने से मरुभूमि गीली नहीं होती ।।१६।।

नन्वज्ञानात्मिका माया कथं ब्रह्मणि चेतने ।
न हि सूर्ये भवेदन्धतमसं तद्विरोधतः ।। १७ ।।

भ०—अज्ञानरूपी माया ब्रह्म में कैसे ? वह चेतन है। जैसे सूर्य पर अन्धकार नहीं होता। क्योंकि वह अन्धकार का बिरोधी है ।।१७।।

मैवं त्वदुक्तं नो जानाम्यहमज्ञ इतीदृशम् ।
ज्ञानेऽप्यज्ञानसद्भावप्रत्यक्षः सर्वसंगतः ।। १८ ।।

आ०—तुम्हारा कथित मैं नहीं जानता, मैं अज्ञानी हूँ, ऐसा सबको

अनुभव होता है। मैं अज्ञ हूँ जब इतना जाना तो सर्वथा अज्ञ कैसा ? इस से सिद्ध होता है कि ज्ञान में भी अज्ञान रह सकता है ॥१८॥

नन्वज्ञानं कल्पितं चेत्स्वेनाज्ञानान्तरेण वा ।
आद्ये त्वात्माश्रयस्ते स्यादन्त्ये स्यादनवस्थितिः ॥ १९ ॥

भ०—यदि अज्ञान कल्पित है तो स्वयं से कल्पित है या दूसरे अज्ञान से। प्रथम में आत्माश्रय, और द्वितीय में अनवस्था दोष होगा ॥१९॥

तदसत्कल्पितत्वेनानादिसिद्धं तदिष्यते ।
कल्पितत्वं किल ज्ञाननिवर्त्यत्वं हि सम्मतम् ॥ २० ॥

आ०—कल्पित आकार से अज्ञान अनादि सिद्ध है। कल्पिताकार है—ज्ञाननिवर्त्यता ॥२०॥

स्वतः पूतं जलं गाङ्गमपूतं श्वामिषं स्वतः ।
स्वतः सिद्धं परं ब्रह्म स्वतोऽज्ञानं च कल्पितम् ॥ २१ ॥

गङ्गाजल स्वतः पवित्र है, शुनकमांस स्वतः अपवित्र है, परब्रह्म स्वतः सिद्ध है। अज्ञान स्वतः कल्पित है ॥२१॥

नन्वज्ञोऽहमिति प्रोक्तेर्जीवोऽज्ञानाश्रयः स्थितः ।
अज्ञानाश्रयता नैव ब्रह्मणो युज्यते ततः ॥ २२ ॥

भ०—मैं अज्ञ हूँ इस अनुभव से जीव ही अज्ञानाश्रय सिद्ध होता है न कि ब्रह्म ॥२२॥

मैवं सामान्यचिन्निष्ठमज्ञानं तेन साधितम् ।
विशेषरूपं जीवस्य तेनाच्छादितमीक्ष्यते ॥ २३ ॥

आ०—अहमज्ञ से अज्ञान सामान्यचिन्निष्ठ है इतना ही बतलाना है। जीव के विशेषरूप का उससे आच्छादन देखने में आ रहा है ॥२३॥

ननु ब्रह्मणि चेत्तत्स्यादज्ञानि ब्रह्म ते भवेत् ।
नाज्ञानि ब्रह्म केनापि तान्त्रिकेणोपगम्यते ॥ २४ ॥

भ०—ब्रह्म में यदि अज्ञान हो तो ब्रह्म अज्ञानी है यह सिद्ध होगा। परन्तु कोई भी दार्शनिक ब्रह्म को अज्ञानी नहीं मानता ॥२४॥

नाऽऽच्छादनाख्यसम्बन्धयोगेनाज्ञानमन्वयन् ।
जीवोऽज्ञान्युच्यते लोकैर्न ब्रह्माज्ञानि भण्यते ॥ २५ ॥

आ०—आच्छादन सम्बन्ध योग से जीव का ही अज्ञान से अन्वय है। अतः जीव को अज्ञानी कहा जाता है, ब्रह्म को नहीं।।२५।।

अश्वस्थे प्रतिपक्षिण्यप्यश्वो न प्रतिपक्षिमान् ।
विरोधाह्वयसम्बन्धाद्राजादिर्हि तथाविधः ।। २६ ।।

अश्वपर शत्रु बैठा है लेकिन अश्व सशत्रु नहीं होता। किन्तु प्रतिपक्षी राजा स-शत्रु होता है। सशत्रुता में शत्रु का संयोग नहीं किन्तु विरोध संबंध संसर्ग होता है ।।२६।।

ननु जीवाश्रितं ज्ञानमज्ञानं ब्रह्मगं कथम् ।
नाशयेत्तेन चाज्ञानं मन्तव्यं जीवगं त्वया ।। २७ ।।

भ०—ज्ञान जीव में होता है। वह ब्रह्म स्थित अज्ञान को कैसे दूर करेगा ? जहाँ ज्ञान है वहीं पर नाश्य अज्ञान माना जाना चाहिये ।।२७।।

मैवं वृत्तिगतं ब्रह्मज्ञानमित्युच्यते बुधैः ।
अज्ञानं हन्ति तद् यद्वन्मण्यारूढो रविस्तृणम् ।। २८ ।।

आ०—अखण्डाकारवृत्तिगत ब्रह्म ही ज्ञान है। वह अज्ञान को नष्ट करता है। जैसे सूर्यकान्तमणि पर आरूढ़ सूर्यतेज तृण को जलाता है। आशय यह कि ब्रह्म ही ज्ञानस्वरूप होने से स्वगत अज्ञान को आसानी से नष्ट कर सकता है। उसमें वैयधिकरण्य प्रयुक्त दोष नहीं हो सकता। परंतु वृत्त्यभिव्यक्त ही अज्ञाननाशक है। इसलिए पहले से ही क्यों नहीं नष्ट किया यह प्रश्न भी नहीं उठता। जैसे घटावच्छिन्नचैतन्यगत अज्ञान को घटाकार-वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ही नष्ट करता है घटचैतन्यसामान्य नहीं ।।२८।।

नन्वज्ञानं सुषुप्तौ न सत्संपत्तिवशात्तदा ।
भवेत् पुनः कुतोऽज्ञानं जीवेश्वरविभाजकम् ।। २९ ।।

भ०—सुषुप्ति में जीव सत् में मिल जाता है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'। तब अज्ञान नहीं रहा। फिर बाद में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ जो जीव और ईश्वर को अलग करे ।। २९ ।।

मैवमज्ञानमत्रोक्तं सति सम्पद्य नो विदुः ।
न विदुः शब्दतस्तत्र स्पष्टमाचष्ट तच्छ्रुतिः ।। ३० ।।

आ०—सति सम्पद्य 'न विदुः'। इस श्रुत में 'न विदुः' से स्पष्ट ही सुषुप्ति में अज्ञान बताया है ।। ३० ।।

नन्वज्ञानं न तत्रार्थो ज्ञानाभावो ह्युदीर्यते ।
मैवं ज्ञानस्वरूपे हि ज्ञानाभावः कथं वद ।। ३१ ।।

भ०—'न विदुः' का ज्ञानभाव अर्थ है अज्ञान नहीं। आ०—ज्ञान वहाँ है तव ज्ञानाभाव कैसे ? ।। ३१ ।।

न जानातीति जानाति स्वं सुखं सुप्तिमेव च ।
ज्ञानाभावः कथं तर्हि तस्मादज्ञानमेव तत् ।। ३२ ।।

"सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्" इसमें सुख का, अहंका, सुप्ति का, और न जानने का ज्ञान स्पष्ट है। तव ज्ञानसामान्याभाव संभव नहीं। अतः अज्ञान अभावभिन्न पदार्थान्तर ही वहाँ मानना होगा ।। ३२ ।।

भेदाभेदवशात्तत्र ज्ञानाभावो भवेद्यदि ।
अज्ञानमपि तद्वत्स्यात्तत्र का नाम ते व्यथा ।। ३३ ।।

भ०—हम भेदाभेद सिद्धान्त मानते हैं। अतः अभेद से ज्ञान और भेद से ज्ञानाभाव हो सकता है। आ०—तव भेद से अज्ञान को भी मानने में आपको व्यथा क्यों हो रही ।। ३३ ।।

किं चासंगतमेवेदं भेदाभेदमतं तव ।
भेदाभेदौ विरुद्धत्वान्नैकत्र भवितुं क्षमौ ।। ३४ ।।

और, यह भेदाभेद सिद्धान्त ही असंगत है। भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध हैं। एक जगह ये कैसे रह सकते हैं ।। ३४ ।।

ननु भो गुणगुण्यादेर्भेदाभेदौ विलोकितौ ।
मैवं तत्राप्यनिर्वाच्यरूपमेवोररीकृतम् ।। ३५ ।।

भ०—गुण और गुणी आदि का परस्पर भेदाभेद देखने में आया है। अतः विरोध कैसे ? आ०—वहाँ रूपभेद से भेदाभेद है। दूसरी वात, सिद्धान्त में वहाँ भी अनिर्वचनीय ही माना है, भेदाभेद नहीं है ।। ३५ ।।

किं चाहं मानव इति भ्रमं संसारकारणम् ।
अङ्गीकरोषि तन्न स्याद् भेदाभेदमते तव ।। ३६ ।।

और भी विचार करो। आप मानते हैं कि मैं मानव हूँ ऐसा भ्रम संसार का कारण है। वह भेदाभेद मत में नहीं बनेगा ।। ३६ ।।

देहात्मनोर्भवेत्कार्य–कारणत्वाद् भिदाभिदे ।
हेम कुण्डलमित्येवमहं मानव इत्यपि ।। ३७ ।।

आत्मा देह का कारण आपने माना है। तब आत्मा और देह का भेदाभेद हुआ। सुवर्ण कुण्डल है यह ज्ञान भ्रम नहीं होता। क्योंकि सुवर्ण से कुण्डल बना। वैसे मैं मानव यह भी भ्रम कैसे होगा ? ।। ३७ ।।

नन्वीशहेतुको देहो न जीवजनितस्ततः ।
भेदाभेदौ कथं जीवेनेति चेच्चिन्तय स्वयम् ।। ३८ ।।

भ०—मैंने शरीर को जीवोत्पन्न नहीं माना, किन्तु ईश्वरोत्पन्न माना है। तब जीव के साथ शरीर का भेदाभेद कैसे हो सकता है ? आ०—स्वयं सोचो ।। ३८ ।।

ईशेन भेदाभेदौ हि जीवस्याङ्गीकरोषि यत् ।
जीवाभिन्नेश्वराभिन्नं जीवाभिन्नं कथं न ते ।। ३९ ।।

ईश्वर के साथ जीव का भेदाभेद आप मानते हैं। तब जीवाभिन्न ईश्वर से अभिन्न शरीरादि जीवाभिन्न कैसे नहीं ? तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वं यह नियम है ।। ३९ ।।

ननु बुद्बुदभिन्नत्वं तरङ्गस्यावलोक्यते ।
जलेन भेदाभेदौ स्तामुभयत्रापि यद्यपि ।। ४० ।।

भ०—तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वं ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि बुद्बुद से भिन्न तरंग होती है। जबकि बुद्बुद से अभिन्न जल से तरंग अभिन्न है ।। ४० ।।

मैवं भिन्नाङ्गजन्यत्वाद्वीचिबुदबुदयोर्भिदा ।
आत्मा निरङ्गस्तत्रेदं न शक्यं गदितुं त्वया ।। ४१ ।।

आ०—बुद्बुद का कारण जलावयव भिन्न है और तरङ्ग का कारण जलावयव भिन्न है। अतः बुद्बुद और तरङ्ग का भेद होता है। परन्तु आत्मा में अवयवभेद तो है नहीं। अतएव जीव और शरीर का अत्यन्त भेद दुर्घट है ।। ४१ ।।

ककारश्च खकारश्च भिन्नाभिन्नौ हि खान्नु ।
सत्यं खमपि साङ्गं नः पञ्चीकरणहेतुतः ।। ४२ ।।

भ०—आकाश निरवयव है। आकाश से भिन्नाभिन्न ककार भी है और खकार भी है। फिर भी ककार और खकार परस्पर भिन्नाभिन्न नहीं होते।

अतः 'तदभिन्नाभिन्नस्य' यह नियम नहीं बनता। आ०—आकाश निरवय है यह किसने कहा ? पञ्चीकारण प्रक्रिया से आकाश भी सावयव है। अतः ककार का अवयव और खकार का अवयव भिन्न ही हैं ॥४२॥

रौचकं कालभेदेन हेम कुण्डलतां व्रजेत् ।
रुचकं कुण्डलं चैव भिन्नमन्योन्यमेव च ॥ ४३ ॥

भ०—एक वार सोने से हार वनाया। फिर उसी को गलाकर वाद में कुण्डल वनाया। वहां हार और कुण्डल का अवयव एक ही है। फिर भी हार और कुण्डल भिन्न ही होते हैं, भिन्नाभिन्न नहीं ॥४३॥

मैवं कालैक्यवस्त्वैक्यकार्यभेदकथा कथम् ।
ततोऽहं नर इत्येषा प्रमा स्याद् भवतां मते ॥ ४४ ॥

आ०—भिन्न भिन्न काल में होने वाले हार और कुण्डल का भेद ठीक है। परन्तु शरीर और जीवात्मा एक ही काल में हैं, अययव भेद संभव न होने से एक ही वस्तु (ईश्वर) से वने हैं। ऐसी स्थिति में अत्यन्तभेद की कथा कैसे करते हो। अतः भेदाभेद अवश्यंभावी होने से मैं मनुष्य हूँ यह अभेदज्ञान प्रमा ही होगा, भ्रम नहीं ॥४४॥

ज्ञानात्मनि कथंकारं भ्रमश्च तव युज्यते ।
येन बन्धं विमोक्षं च तद्धानान्मनुषे ननु ॥ ४५ ॥

ज्ञान स्वरूप आत्मा में आपके (भट्टभास्कर के) मत में भ्रम किस प्रकार? जिससे वन्ध और जिसके (भ्रम के) नाश से मोक्ष सिद्ध करते हो ॥४५॥

नन्वन्तःकरणे भ्रान्तिः सा भाति पुनरात्मनि ।
जपाकुसुमरक्तत्वं स्फटिके भासते यथा ॥ ४६ ॥

भ०—मेरे मत से अन्तःकरण में भ्रान्ति है। वह आत्मा में प्रतीत होती है। जैसे जपापुष्प की रक्तता स्फटिक में ॥४६॥

तत्र भातीति कोऽर्थोऽत्रासति तत्प्रत्ययः किमु ।
भ्रान्तेर्भ्रान्तिर्भवेदात्मनीत्युक्तं भवता तदा ॥ ४७ ॥

आ०—अन्तःकरणगत भ्रान्ति आत्मा में प्रतीत होती है यहाँ 'प्रतीत होती है' का क्या अर्थ ? आत्मा में वस्तुतः भ्रान्ति नहीं, किन्तु भ्रान्ति है ऐसी मिथ्या प्रतीति होती है, ऐसा अर्थ है, तो मतलव निकला कि भ्रान्ति की भ्रान्ति आत्मा में हुई ॥४७॥

द्वितीया सा किल भ्रान्तिः कुत्रेति विनिगद्यतां ।
अनवस्था तदा प्राप्ता न वा सिद्धमभीप्सितम् ।। ४८ ।।

भ्रान्ति की भ्रान्ति यहाँ द्वितीय जो भ्रान्तिपदार्थ है वह कहाँ रहता है ? आत्मा में या अन्तःकरण में । आत्मा में मानों तो प्रथम भ्रान्ति को ही क्यों नहीं माना । उसमें जो दोष वताया वही इसमें भी प्राप्त है । यदि उसे भी अन्तःकरण में मानो तो आत्मा में भ्रान्ति कैसे इसका उत्तर देनें के लिये तृतीय भ्रान्ति माननी पड़ेगी । इस प्रकार अनवस्था भी होगी अभीष्ट सिद्धि भी नहीं होगी ॥४८॥

इत्थं मूकीकृते तस्मिन् भास्करे सूरिभास्करे ।
बाणदण्डयादयः सर्वे तत्पदं प्रतिपेदिरे ।। ४९ ।।

इस प्रकार वहाँ के सुप्रसिद्ध पण्डित भास्कर मूक हो गये तो बाण दण्डी आदि सभी आकर आचार्य चरण में स्वयमेव शरणागत हो गये । (द्रष्टव्यः—यद्यपि माधवीय शंकरदिग्विजय में खण्डनकारादिका भी यहाँ उल्लेख है । परन्तु प्रसिद्ध खण्डनकार माधवाभिप्रेत नही हो सकते । कारण वाचस्पति को स्वयमेव माधव ने सुरेश्वर का अवतार माना है । उनकी तात्पर्य टीका पर परिशुद्धि लिखने वाले उदयन को और उसका भी खण्डन करने वाले श्री हर्ष को आचार्य समकालीनत्वेन माधवाचार्य कभी भी उल्लेख नहीं कर सकते । सर्व दर्शन संग्रह लिखने वाले ने इन सब ग्रंथो को न देखा हो यह समझ के वाहर की बात है । अतः ये सभी सदृश नाम वाले आचार्यसमकालीन व्यक्त्यन्तर ही हैं) ॥४९॥

पश्चिमामिति विजित्य स काष्ठां
शारदाह्वयमठं च विधाप्य ।
देशिको दिशमुदर्चिरुदीचीं
प्रास्थितार्चितपदः स्वजनौघैः ।। ५० ।।

इस प्रकार पश्चिम दिशा को जीत कर और शारदा मठ का निर्माण करा कर उज्ज्वल तेजस्वी आचार्य स्वजनों के साथ उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं ॥५०॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
सर्गः सप्तदशो यातः पश्चिमाशाजयान्वितः ।। १७ ।।

अथाष्टादशः सर्गः

वाह्लीकानुपगत्याथ तीर्थराजे च पुष्करे।
स्नात्वा शिष्यैः सहास्तौषीद् ब्रह्माणं चतुराननम् ।। १ ।।

आचार्य उज्जैन से मारवाड़ आये। पुष्कर तीर्थ में स्नान किया और ब्रह्मा जी की स्तुति की ॥१॥

वैदिकं तत्र सिद्धान्तं लोकान् बोधयतो गुरोः।
आर्हतास्त्वरयागत्य विवादायोपतस्थिरे ।। २ ।।

वहाँ के लोगों को आचार्य वैदिक सिद्धान्त समझा रहे थे इतने में आर्हत (जैन) लोग दौड़कर आये और विवाद के लिए तैयार हो गये ॥२॥

सप्त जीवास्तिकायादीन् सप्तभङ्गीं च सिद्धिदाम्।
कथं नाङ्गीकरोषि त्वं संन्यासिन्निति तेऽब्रुवन् ।। ३ ।।

जीवास्तिकायादि सात पदार्थ और सिद्धिदायिनी सप्तभङ्गी को हे सन्यासी ! तुम क्यों नहीं मानते ? ऐसा उन्होंने कहा ॥३॥

जीवाजीवौ तथा तत्रास्रवसंवरनिर्जरौ।
बन्धमोक्षाविति मताः पदार्था जिनसेविनाम् ।। ४ ।।

जिन भक्तों के ये सात पदार्थ हैं—जीव, अजीव और उनमें आश्रव, संवर, निर्जर, वन्ध और मोक्ष ॥४॥

बद्धाः साधनयुक्ताश्च नित्यसिद्धास्तथैव च।
जीवा निगदिताः शास्त्रे त्रिधा शास्त्रार्थवेदिभिः ।। ५ ।।

शास्त्रों में (जैन शास्त्रों में) तीन प्रकार के जीव बताये हैं। वद्ध, साधन-युक्त और नित्यसिद्ध ॥५॥

भूतानि पुद्गलाश्चैव धर्माधर्मौ तथैव च।
भूताकाशस्तथा बाह्याकाशश्चाजीवसंज्ञिताः ।। ६ ।।

छः अजीव होते हैं। भूत, पुद्गल, धर्म, अधर्म, भूताकाश और वाह्या-काश (आवश्यक होने से भूतों से भूताकाश पृथक् किया) ॥६॥

वृत्तिरैन्द्रियिकी प्रज्ञाप्रस्रवादास्रवो मतः ।
संवराः खानि संवृण्वन्त्यतः शमदमादयः ॥ ७ ॥

इन्द्रियवृत्तियाँ प्रज्ञा को क्षरित करती हैं, अतः आस्रव हैं। इन्द्रियों का संवरण (नियमन) करने वाले शमदमादि संवर हैं ॥७॥

कर्मनिर्जरणात्तप्तशिलारोहादि निर्जरः ।
बन्धश्चाष्टविधो ज्ञानरोध्यरोधिविभागतः ॥ ८ ॥

कर्मों को जर्जरति करनेवाले तप्तशिलारोहणादि निर्जर हैं। बन्ध आठ हैं। चार ज्ञान विरोधी हैं और चार ज्ञानाऽविरोधी हैं ॥८॥

मोक्षो न ज्ञानतो ज्ञानावरणीयमिदं मतम् ।
दर्शनावरणीयं च मोक्षो नार्हतशास्त्रतः ॥ ९ ॥
मोहनीयं जैनशास्त्रान्मोक्षस्यानवधारणम् ।
ऐश्वर्यादि मुमुक्षूणामेते ज्ञानविरोधिनः ॥ १० ॥

ज्ञान से मोक्ष नहीं होता ऐसा ख्याल ज्ञानावरणीय वन्ध है। आर्हत शास्त्र से मोक्ष नहीं होता यह ख्याल दर्शनावरणीय है। आर्हत शास्त्र से मोक्ष होता है या नहीं ऐसा संशय मोहनीय है। और मुमुक्षुओं को ऐश्वर्यादि बन्ध है। ये चार ज्ञानविरोधी बन्ध हुए ॥९-१०॥

आयुष्कं गोत्रिकं चैव नामिकं वेदनीयकम् ।
इति ज्ञानाविरोध्याहुर्बन्धनानां चतुष्टयम् ॥ ११ ॥
शुक्रशोणितयोगश्च विकारः कललादितः ।
घनीभाव इतीदं स्यादायुष्कादि चतुष्टयम् ॥ १२ ॥

ज्ञान अविरोधि चार बंध हैं। आयुष्क, गोत्रिक, नामिक और वेदनीयक। शुक्रशोणितयोग आयुष्क है। एकीभावविकार गोत्रिक है। कललबुद्बुदादिभाव नामिक है। शुक्रशोणितघनीभाव वेदनीयक है ॥११-१२॥

शरीरतुल्यमानोऽयं जीव ऊर्ध्वं क्रमन् क्रमात् ।
यदा सिद्धशिलामेति तदा मोक्षः प्रसिद्ध्यति ॥ १३ ॥

जीव शरीरतुल्यपरिमाण वाला है। वह ऊपर की ओर बढ़ता है। ऊपर सिद्धशिला पर पहुँचने पर मुक्त होता है ॥१३॥

यद्वा लोकान्तराकाशो बाह्याकाश इति द्विधा ।
बाह्याकाशस्थितिर्नाम मोक्ष इत्यभिधीयते ।। १४ ।।

शास्त्र में मतान्तर है—दो आकाश जो जगदन्तर्गताकाश और बाह्याकाश हैं, उन में बाह्याकाश में पहुँचना ही मोक्ष है ।।१४।।

सप्तभङ्गीं शृणु यते स्याता योजय तानिमान् ।
अस्ति नास्ति चास्तिनास्तिमवक्तव्यं तथैव च ।। १५ ।।
अस्त्यवक्तव्यमेवं च नास्त्यवक्तव्यमेव च ।
तथास्तिनास्त्यवक्तव्यं सप्तभङ्गी फलप्रदा ।। १६ ।।

अब हे यतिजी ! तुम सप्तभंगी सुनो । स्यात् को जोड़कर अस्ति इत्यादि बोलो । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्याद्वक्तव्यम्, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च ।। सप्तभंगी फल दायिनी होती है ।।१५-१६।।

शृण्वार्हत कथंकारं जीवोऽयं त्वदुदीरितः ।
मिमीयात्पुत्तिकादेहे व्याप्नुयाद्धस्तिविग्रहे ।। १७ ।।

आचार्य—हे आर्हत ! यह बताओ कि शरीर के बराबर बड़ा यह जीव फतींगे के शरीर में कैसे समायेगा और हाथी के देह में कैसे व्याप्त होगा ? ।।१७।।

उपयान्त्यपयान्त्यस्यावयवा इति चेन्न तत् ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते किमेतेऽवयवा वद ।। १८ ।।
तर्हि प्रमिणुयुः शिष्टावयवाश्च कदाचन ।
कृतहानाकृतावाप्तिप्रसक्तिर्दुर्हरा तदा ।। १९ ।।

जीव में अणु जुड़ते हैं तो बड़ा होता है, हटते हैं तो छोटा होता है ऐसा कहो तो सुनो—आते हैं का उत्पन्न होते हैं और हटते हैं का नष्ट होते हैं अर्थ हो तो कभी बचे अवयवों का जीव भी नष्ट होगा और कृतहानि तथा अकृत प्राप्ति दोष होंगे ।।१८:१९।।

नन्वायान्त्यपगच्छन्ति न तु भूत्वा वियन्ति ते ।
मैवं स्वतन्त्रास्तर्ह्येते बह्वात्मानो भवन्मते ।। २० ।।

जैन—उत्पन्न ओर नष्ट नहीं होते किन्तु जीवाणु आते और जाते हैं।
आ०—तब ये स्वतन्त्र अनेक आत्मा सिद्ध होंगे जो आते हैं, जाते हैं ॥२०॥

विरुद्धाशयवत्त्वाच्च विमथ्नीयुः कलेवरम् ।
जीवितं दुर्लभं ते स्यान्मोक्षवार्त्ता सुदूरतः ॥ २१ ॥

भिन्नाशय होने से कोई शरीर को इधर कोई उधर दौड़ायेगा तो शरीर का ही मंथन होगा, जीवन ही नहीं रहेगा, मोक्ष की बात दूर रह जायेगी ॥२१॥

नन्वेकमत्या कुर्युस्ते रथेऽनेकतुरङ्गवत् ।
मैवं नियामकोऽन्योऽत्र सारथिस्तत्र कोऽपरः ॥ २२ ॥

जै०—जैसे रथ लेकर चार घोड़े एकमति से भागते हैं वैसे संभव है।
आ०—वहाँ नियामक अन्य सारथि है। यहाँ जीवाणु का नियामक अन्य कौन है? ॥२२॥

एकोऽहमस्मि नानेक इति सर्वप्रतीतितः ।
लोकशास्त्रविरुद्धं च भवन्मतमिदं भवेत् ॥ २३ ॥

और भी—मैं एक हूँ, अनेक नहीं, ऐसी सबको प्रतीति होती है (घोड़ों को नहीं) अतः यह आप का मत लोकशास्त्रविरुद्ध है ॥२३॥

नोपयान्त्यपयान्त्याहो जीवस्यावयवाः क्वचित् ।
स संकोचविकासाभ्यां जलौकोवद् व्यवस्थितः ॥ २४ ॥

जै०—जीवायव आते जाते नहीं, किन्तु जोंक के समान जीवात्मा संकुचित और विकसित होता है ॥२४॥

मैवं जलौकःकायो हि प्राणिलोहितचूषणात् ।
विकासं याति जीवोऽयं किं चूषयति तद्वद ॥ २५ ॥

आ०—जोंक का शरीर प्राणियों का खून पीने से विकसित होता है। यह जीव क्या चूसता है बताओ ॥२५॥

चूष्यमाणो ह्यनात्मा चेज्ज्ञानं व्याप्तं भवेन्न ते ।
आत्मा चेदुदितो दोषः पुनरेवोपतिष्ठते ॥ २६ ॥

जीव ने जिसको चूसा वह अनात्मा है या आत्मा? अनात्मा हो तो ज्ञान व्याप्त नहीं होगा। आत्मा हो तो पहले के दोष फिर से आयेंगे ॥२६॥

देहोऽवयवसंयोगशैथिल्याद्विकसेद्यदा ।
जीवाविकासतस्तत्र ज्ञानं न व्याप्तमुद्भवेत् ।। २७ ।।

देह जब अवयवसंयोग के शैथिल्य से फूल जाता है तब जीवविकास न होने से ज्ञान व्याप्त नहीं होगा। क्यों कि विकासक बाह्याणु नहीं है ।।२७।।

परस्परविरुद्धार्थयोजना सप्तभङ्ग्यहो ।
कथं बुधैराद्रियते कथं वा फलदा नृणाम् ।। २८ ।।

और यह सप्तभङ्गी भी परस्परविरुद्धार्थयोजनामात्र है। कौन बुद्धिमान उसका आदर करेगा। किस प्रकार वह फलप्रद है ।। २८ ।।

न प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तामस्तीत्यैकान्तिकं यदि ।
न प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तां नास्तीत्यैकान्तिकं यदि ।। २९ ।।

जै०—यदि सभी सर्वत्र है ही तब भी प्रवृत्ति और निवृत्ति न होगी। और यदि सभी सर्वत्र है ही नहीं तो भी प्रवृत्ति और निवृत्ति न होगी ।। २९ ।।

वक्तव्यैकान्तिकत्वं चेद् वृथैवाध्ययनं भवेत् ।
अवक्तव्यैकान्तिकत्वे वृथैवाध्ययनं भवेत् ।। ३० ।।

सभी सर्वपदवक्तव्य है तो अध्ययन व्यर्थ होगा। सभी सर्वपदाऽवक्तव्य है तब भी अध्ययन व्यर्थ होगा। अतः सभी अनैकान्तिक मानना होगा ।। ३० ।।

अत्रोच्यते किमर्थं भो शास्त्रमेतदुदीर्यते ।
एकत्र सन्न चान्यत्रेत्येतदध्यक्षगोचरम् ।। ३१ ।।

आ०—आपके इस शास्त्र का उपयोग क्या। देवदत्त घर में है तो बाहर नहीं है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसके लिये शास्त्र की क्या जरूरत ? ।। ३१ ।।

न व्याघ्रपदवाच्यस्य बिडालपदवाच्यता ।
अनैकान्तिकता केयं स्यात्पदेन निगद्यते ।। ३२ ।।

जो व्याघ्रपदवाच्य है वह विडालपद का वाच्य नहीं, यह भी सब जानते हैं। इसमें 'स्यात्' जोड़कर कौन सी अनैकान्तिकता ला रहे हैं।।३२।।

समानसत्ताऽसत्ता वा तथा स्वपदवाच्यता ।
नैकान्तिक्युच्यते तर्हि विरुद्धार्थः कथं न हि ।। ३३ ।।

यदि अश्वत्वेन सत्ता और असत्ता दोनों हैं और व्याघ्रपद की वाच्यता और अवाच्यता दोनों हैं तब विरुद्धार्थ कैसे नहीं ? ॥३३॥

निर्भग्नेष्वार्हतेष्वार्यो धर्मं लोकानबोधयत् ।
शूरसेनेषु कुरुषु पाञ्चालेषु च संचरन् ॥ ३४ ॥

आर्हतों के परास्त होने पर शूरसेन, कुरु, पंजाब आदि स्थानों में विचरण कर आचार्य ने लोगों को धर्मज्ञान कराया ॥३४॥

अथाऽव्रजद् व्रजं श्रीमानाचार्योऽह्यार्यधीरधीः ।
मथुरामण्डलं नाम सहान्तेवासिमण्डलः ॥ ३५ ॥
तत्र स्नात्वा च यमुनाजले मरकतोज्ज्वले ।
तुष्टाव तुष्टहृदयो देशिको यमुनां मुनिः ॥ ३६ ॥

आचार्य घूमते हुए व्रज में पहुँचे यहां यमुना में स्नान कर सुन्दर स्तुतियों से यमुना की स्तुति की ॥३५-३६॥

दासोऽहमिति वक्तव्यं कथं सोऽहं ब्रवीषि भोः ।
दाकारो मुषितस्तेन नवनीतप्रमोषिणा ॥ ३७ ॥

मथुरावासी :—'दासोऽहं' बोलो। यह क्या सोऽहं बोलते हो। आ०—माखन चोर ने दासोऽहं में से दा को चुरा लिया ॥३७॥

ननु प्रेमैव कर्त्तव्यं न ज्ञानं नीरसं भगोः ।
मैवं ज्ञाने प्रेमणि च न भिदा विद्यते मनाक् ॥ ३८ ॥
राधेश्यामेति वक्तव्यं ब्रह्मेति न कदाचन ।
श्यामे मनसि मे राधा भवधाराविवर्त्तनात् ॥ ३९ ॥
कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ ४० ॥

म०—हे आचार्य, प्रेम करो शुष्कज्ञान नहीं। आ०—प्रेम और ज्ञान में भेद ही कहाँ है ? म०—राधेश्याम बोलो, ब्रह्म नहीं। आ० मेरा मन ही श्याममय है धारा (भवधारा) के विवर्त्तित राधा उसमें नित्य है॥ कृष् का सत् और 'ण' का आनन्द अर्थ है। दोनों की एकता ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म शब्द से कृष्ण ही को मैं बोलता हूँ ॥३८-४०॥

भो भो राधे इति ब्रूया नान्यत् किंचन कोविद ।
न राधाकृष्णयोर्भेदश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ ४१ ॥
आनन्दैकरसं ब्रह्म तत्प्रेम ज्ञानतुन्दिलम् ।
लीलया तद् द्विधा जातं राधाकृष्णौ च तौ मतौ ॥ ४२ ॥

सखीभावी :—राधेराधे बोलो और कुछ नहीं। आ० राधा और कृष्ण चन्द्रिका और चन्द्रमा के समान हैं। आनन्दैकरस ब्रह्म ही प्रेम रूप है, ज्ञान रूप भी है। लीला से दो मूर्त्ति उसकी राधा और कृष्ण हुईं ॥४१-४२॥

अश्रौतानधमान् विधूय बदरीनारायणीयां तनू-
मभ्युद्धृत्य सरिद्वरान्तरगतां तत्र प्रतिष्ठाप्य च ।
ज्योतिष्पीठमपि प्रताय भगवान् काष्ठामुदीचीं जयन्
धीरः प्रास्थित शिष्यसंघसहितः प्राचीं दिशं देशिकः ॥ ४३ ॥

अवैदिक अधम मतों का निराकरण कर, अलकनन्दा में डाली गयी बदरीनाथ की मूर्त्ति का पुनरुद्धार और प्रतिष्ठा कराकर, ज्योतिर्मठ भी बनाकर, उत्तर दिशा जीतकर भगवान् आचार्यपाद ने पूर्वदिशा की ओर शिष्यों के साथ प्रस्थान किया।

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
निर्गतोऽष्टादशः सर्ग उदगाशाजयान्वितः ॥ १८ ॥



अथैकोनविंशः सर्गः

अथ पूर्वां समायातः काशीं परमदेशिकः ।
स्नात्वा त्रिपथगामिन्यां तुष्टुवे मणिकर्णिकाम् ॥ १ ॥

आचार्य वहां से पूर्व काशी आये। गंगा में स्नान कर मणिकर्णिका की स्तुति की ॥१॥

नत्वा काशीविश्वनाथमन्नपूर्णां प्रणूय च ।
ढुण्ढिं च दण्डपाणिं च भैरवं चाप्युपास्थित ॥ २ ॥

आचार्य ने काशी विश्वनाथ को प्रणाम किया। अन्नपूर्णा की स्तुति की। ढुंढी, दण्डपाणि और भैरव को नमस्कार किया ॥२॥

तत्रागतोऽतिवाचालस्तथागतमतानुगः ।
धूर्त्तादिकर्त्तृकान् वेदानुच्चैरुद्घोषयन् कुधीः ॥ ३ ॥

बौद्धमतानुयायी एक वाचाल वहां आया, जो वेदों को धूर्त्तादिनिर्मित घोषित कर रहा था ॥३॥

वेदस्यापौरुषेयत्वं वाक्यजातस्य भो कथम् ।
पूर्णे ब्रह्मणि नो ज्ञानं प्रामाण्यात्प्रच्युतं हि तत् ॥ ४ ॥

बौ०—वाक्यसमूहात्मक वेदकी अपौरुषेयता कैसी ? वह पूर्ण ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं वह प्रामाण्य से रहित है ॥४॥

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥ ५ ॥
इति स्मरसि नो कस्माद् भट्टैरुट्टङ्कितं पुरा ।
विरूपनित्ययेत्युक्तेः कर्त्तुरस्मरणादपि ॥ ६ ॥

आ०— वेदाध्ययन गुरुअध्ययनपूर्वक होता है। जैसे आजकल। अतएव गुरुपरम्परया अनादि सिद्ध होता है। भट्टकी इस उद्घोषणा को क्या आप भूल गये ? वाचा विरूपनित्यया यह श्रुति है। कर्ता का स्मरण नहीं, अतोऽपि अनादि अपौरुषेय है ॥५-६॥

अपौरुषेयता तर्हि बुद्धशास्त्रेऽपि मे भवेत् ।
बुद्धशास्त्रेति बुद्धस्य कर्त्तृत्वव्याहतिस्तदा ॥ ७ ॥

बौ०—बुद्ध शास्त्र गुर्वध्ययनपूर्वक है कहकर हम बुद्ध शास्त्र को भी अपौरुषेय सिद्ध करेंगे। आ०—बुद्धशास्त्र कहकर आपने स्वयं बुद्धकर्त्तृक माना। यह वदतोव्याघात हो गया है ॥७॥

वृष्ट्यादिभिर्दृष्टफलैः कारीर्यादिविधायकम् ।
सिद्धं प्रमाणं नित्यत्ववचनं तन्निदर्शनात् ॥ ८ ॥

कारीरी आदि याग से वृष्टि आदि दृष्टफल होता है। अतः वह वाक्य प्रमाण हुआ तो उस वाक्यके दृष्टान्त से नित्यत्वश्रुति भी प्रमाण सिद्ध होगी (विरूपनित्यताश्रुतिः प्रामाणिकी वेदवाक्यत्वात्कारीर्यादिवाक्यवत् यह अनुमान है) ॥८॥

बुद्धमन्त्रेण मे दृष्टा सिद्धिश्चेद् दृश्यतां त्वया ।
वेदाऽप्रमाणता तेन कथमायुष्मतोच्यते ॥ ९ ॥

बौ०—हम को बुद्धमन्त्र से ही सिद्धि मिली है। आ०—मैंने कब मना किया। परन्तु वेद की अप्रमाणता में इस से आपने क्या सार निकाला ?९॥

बुद्धवाणीविरुद्धत्वादप्रमाणं भवेच्छ्रुतिः ।
वेदवाणीविरुद्धत्वादप्रमाणं कथं न सा ॥ १० ॥

सार यह निकाला कि बुद्धवाणी के विरुद्ध होने से वेदवाणी अप्रमाण है। आ०—वेदवाणी के विरुद्ध होने से बुद्धवाणी अप्रमाण ऐसा क्यों नहीं ? ॥१०॥

निश्चिते पौरुषेये हि दोषाः स्युः पुरुषोद्भवाः ।
प्रामाण्यसंशयाद् बौद्धं रुणद्धि न वचः श्रुतिम् ॥ ११ ॥

बुद्धवाणी पुरुषकृत होने से पुरुषदोष की पूरी संभावना है। तब बुद्ध-वाणी में प्रामाण्य का संशय होना भी निश्चित है तो फिर वह श्रुति को वाधित नहीं कर सकती ॥११॥

प्रामाण्यसंशयाधायि न किंचित्कारणं श्रुतौ ।
विरूपनित्यया वाक्यमतोऽबाधं प्रवर्त्तते ॥ १२ ॥

प्रामाण्य संशयोद्भावक कोई भी कारण श्रुति में नहीं है। तब वाचा विरूपनित्यया श्रुति अवाधित होकर प्रवृत्त होगी ॥१२॥

पौरुषेया न सन्त्येव दोषा वेदेषु तेन हि ।
प्रामाणिकत्वं परमं स्वीकार्यं शुद्धचेतसा ॥ १३ ॥

वेदों में पौरुषेय दोष नहीं है। इसलिये शुद्धचित्त को उसकी प्रामा-णिकता स्वीकार करनी चाहिये ॥१३॥

सर्वथैवाप्रमाणत्वं न मूर्खवचसामपि ।
प्रामाणिकविरुद्धार्थकथनात्त्वप्रमाणता ॥ १४ ॥

सर्वथा अप्रमाण तो मूर्खों का वचन भी नहीं होता। प्रामाणिकविरुद्धार्थ कथन ही अप्रामाण्यप्रयोजक है ॥१४॥

विरुद्धार्थाभिधायित्वात् खण्डितं त्वन्मतं मया ।
न तु बुद्धोक्तताहेतोरिति किं नावलोकसे ॥ १५ ॥

विरुद्धार्थ कथन होने से बौद्ध मत का हम ने खण्डन किया। न कि बुद्ध ने कहा इसलिये ॥१५॥

इत्थं वेदप्रमाणत्वं कथाप्रवचनादिभिः।
तन्वन् संस्थापयामास सद्धर्मं वैदिकं गुरुः ॥ १६ ॥

इस प्रकार शास्त्रार्थ से तथा प्रवचनादि से वेद की प्रमाणता का प्रचार करते हुए वैदिकधर्म को आचार्य ने स्थापित किया ॥१६॥

काश्यां कदाचिदाचार्यो वृद्धं मरणसंनिधिम्।
अधीयानं व्याकरणमिदमाह महाशयः ॥ १७ ॥

एक समय काशी में आचार्य ने एक वृद्ध को देखा जो मरणासन्न था फिर भी 'डुकृञ् करणे' इत्यादि व्याकरण धातुओं को रट रहा था। आचार्य ने कहा ॥१७॥

भजगोविन्दमधुना मरणे समुपस्थिते।
न डुकृञ्करणे रक्षां धातुरेष करिष्यति ॥ १८ ॥

हे वृद्ध ! इस समय गोविन्द का भजन करो। मरण उपस्थित हो गया है। 'डुकृञ् करणे' तुम्हारी रक्षा नहीं करेगा ॥१८॥

शैशवेऽधीतसद्विद्यो मननाद्धतसंशयः।
भजन्नन्ते हि गोविन्दं लभते सद्गतिं नरः ॥ १९ ॥

विद्याध्ययन बाल्यवस्था में हो जाना चहिए। श्रवण के बाद मनन से संशय दूर करना चाहिए। अन्त में भजन रूपी निदिध्यासन ही काम आता है। उसी से सद्ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥१९॥

एकाकारप्रवृत्तिर्या तात्पर्येण परात्मनि।
संसारदुःखनिर्मोक्षस्तयैव भजनाह्वया ॥ २० ॥

तत्परता = प्रेम के साथ परमात्मविषयक एकाकार प्रकृष्ट वृत्ति ही भजन है उसी से संसारदुःखनिवृत्ति होती है ॥२०॥

गीत्या प्रगीतमाचार्यवचनं मर्ममर्शनम्।
श्रुत्वा सद्यो हताऽज्ञानो जगाम स परां गतिम् ॥ २१ ॥

'भज गोविन्दं भज गोविन्दं' इत्यादि गीति से गाये आचार्यवचन को सुनकर उसी समय वृद्ध प्रबुद्ध हो गया और उसने परमगति प्राप्त की ॥२१॥

देशिकः पाटलीपुत्रप्रमुखेष्वनुसंचरन् ।
बोधयन् वैदिकं धर्मं निरुद्धो बौद्धसूरिभिः ॥ २२ ॥

आचार्य पाटलीपुत्रादि (बिहार मिथिला आदि) देशों में घूमकर वैदिक धर्म का वोध दे रहे थे। वहाँ बौद्ध पंडितों ने आकर आचार्य को घेरा ॥२२॥

अदृष्टिपथगः कश्चित् परमात्मा न विद्यते ।
न प्रतीत्यसमुत्पादः संसारः कर्त्तृपूर्वकः ॥ २३ ॥

बौद्धः—परमात्मा कोई नहीं है। क्योंकि दृष्टिपथ में अभी तक वह किसी के भी नहीं आया। संसार प्रतीत्यसमुत्पादात्मक है। वह कर्त्तृ पूर्वक नहीं है ॥२३॥

अणुजाः स्कन्धजाश्चेति समुदायो द्विधा मतः ।
आधिभौतिक आद्यः स्यादन्त्य आध्यात्मिकस्तथा ॥२४॥

दो प्रकार के समुदाय हैं। अणुज तथा स्कन्धज। प्रथम आधिभौतिक तथा द्वितीय आध्यात्मिक होता है ॥२४॥

चतुर्विधाणवः प्रोक्ताः पृथिव्यब्वह्निवायवः ।
तेषां च समुदायोऽयं पृथिव्यादिर्विलोक्यते ॥ २५ ॥

पार्थिक जलीय तेजस और वायव्य ऐसे चार प्रकार के अणु होते हैं। उन्हीं का समुदाय ये प्रात्यक्षिक पृथिव्यादि हैं ॥२५॥

संज्ञासंस्कारसहिता रूपविज्ञानवेदनाः ।
पञ्च स्कन्धा इमे चित्तचैत्यलक्षणलक्षिताः ॥ २६ ॥

रूप स्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध ये पांच स्कन्ध हैं। ये चित्तरूप और चैत्यरूप होते हैं ॥२६॥

क्षणिकालयविज्ञानं चित्तमित्यभिधीयते ।
रूपादयः पुनश्चैत्या आत्मा तत्संहतिर्भवेत् ॥ २७ ॥

क्षणिक आलय विज्ञान चित्त है और रूपस्कन्धादि चैत्य है। इन्हीं का संघात आत्मा कहा जाता है ॥२७॥

सकलं क्षणिकं चेदं तस्मिन्मतचतुष्टयम् ।
सर्वास्तित्वान्तरास्तित्वविज्ञानास्तित्वशून्यताः ॥ २८ ॥

ये सभी क्षणिक हैं। इसमें चार मत हैं। सर्वास्तित्ववाद आन्तरास्तित्ववाद विज्ञानास्तित्ववाद और शून्यतावाद ॥२८॥

मैवं संघातकाभावे संघातः कथमुच्यताम् ।
दौर्यसामीप्यसौक्ष्म्यादेर्वस्त्वनध्यक्षताभियात् ॥ २९ ॥

आचार्यः—जोडने वाला कोई न हो तो उसका संघात बनेगा कैसे ? परमेश्वर का प्रत्यक्ष न होने से वह नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। कारण दूर होने से अत्यन्त समीप और सूक्ष्म होने से अन्यान्य हेतुओं से अप्रत्यक्षता संभव है। अभाव होने से ही अप्रत्यक्ष है ऐसा कोई नियम नहीं है ॥२९॥

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।
क्षणिकज्ञानिनः पूर्वस्मरणं नोपपद्यते ॥ ३० ॥

वाह्यार्थ नहीं है, वुद्धि का आकार ही घटपटादि है कहने वालों से यही कहा जाएगा कि वुद्धि स्वयं निराकार है पदार्थ से ही वह साकार होती है। पदार्थ न हो तो घटपटाद्याकार वुद्धि भी नहीं होगी। क्षणिक विज्ञान आत्मा हो तो पूर्वानुभूत का स्मरण नहीं होगा। क्योंकि अनुभव करने वाला विज्ञान उसी समय में मर गया। स्मरण करनेवाला नया आ गया। अन्यानुभूत का अन्य को स्मरण नहीं होता ॥३०॥

विज्ञानात्समविज्ञाने साम्यमक्षणिकं भवेत् ।
न च स्यादसमज्ञानं पितृज्ञातं सुतः स्मरेत् ॥ ३१ ॥

एक विज्ञान से दूसरा सदृश विज्ञान उत्पन्न होता है (घटज्ञानोत्तर घटज्ञानसमानाकार ज्ञान उत्पन्न होगा यही स्मृति है।) कहोगे तो दोनों में समता अक्षणिक हो जायेगी। दूसरी वात घटज्ञान के वाद समान घटज्ञान ही होता रहेगा मनुष्यपश्वादिज्ञान नहीं। और पिता के अनुभूत को पुत्र भी तज्जन्य होने से अनुभव करने लगेगा ॥३१॥

स्वप्रभं नित्यविज्ञानमात्मा साक्षी ततो मतः ।
विकारिणोऽप्यक्षणिकाः सन्त्यन्तःकरणादयः ॥ ३२ ॥

अतः स्वयं प्रकाश नित्यविज्ञान ही आत्मा है, साक्षी है, विकारी अन्तःकरणादि भी क्षणिक नहीं हैं। अनन्त न होने पर भी चिरकालस्थायी तो हैं ही ॥३१॥

असतो न सदुत्पत्तिः प्रमाणपदमर्हति ।
सर्वे सर्वत्र जायेरन्नसतो हेतुता यदि ॥ ३३ ॥

असत् (शून्य) से सदुत्पत्ति भी अप्रमाणिक है। असत् तो सर्वत्र है। तब सर्वत्र सभी उत्पन्न होने लगेंगे ॥३३॥

तस्मात्पूर्णं सदेवात्मशब्दितं ब्रह्म चिद्घनम् ।
सुप्तौ सुखानुभूतेश्च स्वानन्दैकरसं मतम् ।। ३४ ।।

इसलिये पूर्ण सत् चित् ब्रह्म ही आत्मा है । सुषुप्ति में सुखानुभव होने से वह आनन्दरूप भी है ।

ननु सर्वस्य विध्वंसे शून्यमेवावशिष्यते ।
शून्याच्च जगदुत्पत्तिर्बीजध्वंसाद्यथाङ्कुरः ।। ३५ ।।

बौद्ध०—बीज उगता है—तो उसका स्वरूप नष्ट होता है प्रथम, तभी अंकुर उत्पन्न होता है । यदि वह फूलेगा और फूटेगा नहीं तो अंकुर कभी नहीं होगा । यह बीजध्वंस अंकुर का कारण है । प्रलयकाल में सर्वध्वंस होगा तो शून्य रहेगा । उस शून्य से फिर जगदुत्पत्ति होगी ।।३५।।

मैवं सर्वजगत्कार्यध्वंसे हेतुस्तु शिष्यते ।
बीजध्वंसेऽपि तस्यैव शिष्यन्तेऽवयवा यथा ।। ३६ ।।

आ०—बीजध्वंस दृष्टान्त में कार्याकार ध्वंस ही आता है । प्रलय में सर्वकार्यध्वंस भले हो, किन्तु कारण तो बचेगा । जैसे बीजध्वंस होने पर बीजकारण उसके अवयव वचे रहते हैं ।।३६।।

ननु शून्यं स्वयं हेतुर्यथा ब्रह्म स्वयं तव ।
अङ्कुरेऽवयवध्वंसौ तुल्यं तत्र तवापि च ।। ३७ ।।

बौद्ध :—शून्य ही स्वयं हेतु है । जैसे आपके मत में ब्रह्म स्वयं है । अंकुर में केवल ध्वंस कारण नहीं किन्तु ध्वंस तथा अवयव दोनों कारण हैं आप को भी वहाँ मानना होगा कि अंकुर में केवल ब्रह्म कारण नहीं किन्तु ब्रह्म और बीजावयव दोनों ही कारण हैं । अतएव बीज रहित स्थल में अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती ।।३७।।

सर्वत्र सुलभं शून्यं, सत्यं, ब्रह्म न किं तथा ।
ब्रह्म खेऽप्यस्ति कुसुमं तत्र तेऽपि कथं न हि ।। ३८ ।।

जो वोलते हो कि शून्य सर्वत्र सुलभ है, अतः शून्य से जगत् उत्पन्न होता है तो सर्वत्र सव उत्पन्न होना चाहिए । उस पर हम पूछेंगे कि सर्वत्र ब्रह्म सुलभ नहीं है क्या? आप के मत में भी सर्वत्र सर्व क्यों नहीं होता? । आकाश में भी ब्रह्म है । वहां भी आपके मत में पुष्प क्यों नहीं होता ? ।।३८।।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ ३९ ॥

जहाँ दोष बराबर है(सर्वत्र सव उत्पन्न होने लगेगा यह दोष) और परिहार भी वरावर है (ब्रह्म के साथ बीजावयव भी चाहिये वैसे शून्य के साथ बीजावयव भी चाहिये ऐसा परिहार) ऐसे स्थान में एक पर पर्यनुयोग (आरोप) नहीं किया जा सकता ॥३९॥

नैवमर्थमसन् हेतुः सन्तमुत्पादयेत् कथम् ।
अस्ति हेतुस्ततः कार्यमस्तीति व्याप्तिरुच्यते ॥ ४० ॥

आचार्य०—असत् हेतु सत् कार्य को कैसे उत्पन्न करेगा ? हेतु है अतः कार्य है यही व्याप्ति है ॥४०॥

नास्ति हेतुरतः कार्यमस्तीति व्याप्तिवादिनः ।
आकाशे कुसुमं कस्मान्नोत्पद्येतासतो वद ॥ ४१ ॥

हेतु नहीं अतः कार्य है इस व्याप्ति को स्वीकार करने वालों को इसका जबाब देना चाहिये कि आकाश में पुष्प क्यों नहीं होता ? ॥४१॥

कारणान्तरराहित्यान्न पुष्पं खे भवेदतः ।
कारणास्तित्ववादे न चोद्यमुत्पद्यते मम ॥ ४२ ॥

ब्रह्म होने पर भी कारणान्तर न होने से आकाश में पुष्प नहीं होता यह कारणास्तित्ववाद में कहा जा सकता है। अतएव हमारे प्रति प्रश्न नहीं उठ सकता। आप तो कारणनास्तित्ववादी है। आपके प्रति प्रश्न उठेगा ही ॥४२॥

ननु पूर्वं घटोऽसन् हि घटं मृदि विभावयेत् ।
मृत्तु हेत्वन्तरं तत्रेत्येतन्मम च संगतम् ॥ ४३ ॥

बौ०—पहले मिट्टी में घट नहीं था तभी घट उत्पन्न हुआ। घट पहले से हो तो क्या उत्पन्न होगा। अतः असत् कारण है। मिट्टी कारणान्तर भी है। अतः मेरा मत भी संगत है ॥४३॥

असच्च सच्च हेतू स्तामित्येतदुदितं तदा ।
सिद्धं जगदसच्चेति ब्रह्म सच्चेति तेन ते ॥ ४४ ॥

आ०—इसका मतलब यह हुआ कि असत् और सत् दोनों कारण हैं। तब तो प्रलय में जगत् असत् और ब्रह्म सत् ये दो रहे, ये दो जगत् कारण

हैं यही बात सिद्ध हुई। जैसे घट असत् और मृत् सत् दो कारण हैं। तब शून्यवाद गया ॥४४॥

किं च तत्र घटासत्त्वमसिद्धं सूक्ष्मतः स्थितेः।
असम्बद्धघटोत्पत्तौ पटः कस्मान्न जायते ॥ ४५ ॥

नैयायिकानुसार शून्यवाद समाप्त हुआ। अब सांख्यानुसार भी शून्य नहीं ठहरता। सांख्यसिद्धान्त है कि मृत्तिका में घट असत् है यही असिद्ध है। सूक्ष्म रूप से घट पहले ही वहाँ विद्यमान है। यदि सूस्मरूप से कारण में कार्य न हो तो मृत्तिका से कपड़ा क्यों नहीं होता ? नियामक कौन होगा ॥४५॥

ननु सापेक्षभावत्वान्मिथ्येति ब्रूमहे जगत्।
पिता पुत्रः पतिः पत्नी भूमाल्पश्च तथा खलु ॥ ४६ ॥
अणुत्वं चेद् वृहत्त्वं स्याद् बृहत्त्वे चाणुता भवेत्।
अन्योन्याश्रयकार्याणि हन्युर्नावीव नौः सिता ॥ ४७॥
शिरोवेदनया युक्ता रात्रिः कल्पसमा भवेत्।
प्रेयसीमिलिता सैव क्षणवच्च विगच्छति ॥ ४८ ॥

वेदान्तमतानुसार पूर्वपक्षः—कार्य को सत् या असत् हम नहीं मानते। परस्पर सापेक्ष होने से मिथ्या कहेंगे। जैसे पिता पुत्र, पति पत्नी, अणु महान् आदि। अणुत्व के विना महत्त्व नहीं महत्त्व के विना अणुत्व नहीं। अन्योन्याश्रित वस्तु अपने अस्तित्व को ही खो बैठती है। जैसे नदी में एक नाव के साथ दूसरी नाव बांधी। सिर में जोरदार दर्द है तो एक रात भी कल्पसमान बीतती है और प्रेयसी के साथ क्षण समान। वहाँ कल्पवाले को कल्प सत्य है क्षणवाले को क्षण सत्य है। सत्य तो दोनों ही नहीं है ॥४६-४८॥

मैवं पितृत्वपुत्रत्वादिकाः सापेक्षलक्षणाः।
भवन्तु मिथ्या किं तेन वस्तु सत्यं व्यवस्थितम् ॥ ४९ ॥

वेदान्तानुसार सिद्धान्तः—पितृत्वपुत्रत्वादि परस्पर सापेक्ष होने से भले ही मिथ्या हो किन्तु पिता पुत्रादि वस्तु तो सापेक्ष नहीं वे सत्य हैं ॥४९॥

अधिष्ठानं विना नैव कल्पना ह्युपपद्यते।
सत्ये ब्रह्मण्यनन्तस्य जगतः कल्पना ततः ॥ ५० ॥

अधिष्ठान के विना कल्पना नहीं बनती। अतः सत्य ब्रह्म में अनन्त जगत की कल्पना है, यही सिद्धान्त स्थिर होता है ॥५०॥

अनादृत्य श्रुतिं मौखर्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥ ५१ ॥

बौद्ध मौन हो रहे थे। तव आचार्य अपसोस के साथ बोलने लगे—ये तमस्वी बौद्ध मुर्खता के कारण श्रुति का अनादर कर अनुमान नेत्र वाले होकर अहो निरात्मता को प्राप्त हो गये ॥५१॥

तदेवं बौद्धसिद्धान्ते भग्ने ते देशिकाङ्घ्रिषु।
पतित्वोचुर्बुद्धमूर्त्तिः रक्ष्यैषा पूजितत्वतः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त भग्न हो गये। तब वे बौद्ध आचार्य के चरणों में पड़े। शरणागत हो गये। और वोले इस बुद्ध मूर्त्ति की रक्षा आप अवश्य करें। क्योंकि हमने इस की पूजा की है ॥५२॥

तथेति देशिको बुद्धमूर्त्ति बुद्धगयास्थिताम्।
बुद्धावतारं स्वीकृत्य पूजायां संन्यवेशयत् ॥ ५३ ॥

आचार्य ने तथास्तु कहा। और बुद्धगया स्थित बुद्धि मूर्त्ति को बुद्धावतार स्वीकार कर पूजा में जोड़ दिया ॥५३॥

सर्वे शुद्धीकृता बौद्धाः शङ्खनादप्रसारतः।
सनातनं परं धर्मं स्थापयामास चेश्वरः ॥ ५४ ॥

आचार्य ने शङ्ख से ओंकार नाद निकालकर बड़े जोर से बजाया और समस्त बौद्धों की शुद्धि की। सनातनधर्म की स्थापना भी की। इसलिए वे ईश्वर के अवतार माने गये हैं ॥५४॥

कामरूपेषु वङ्गेषु कलिङ्गेषु च भाष्यकृत्।
बौद्धानवैदिकाञ्छाक्तानेवमेव व्यशोधयत् ॥ ५५ ॥

कामरूप वङ्गाल में और उड़ीसा में भी जाकर इसी प्रकार शङ्खनाद से बौद्धों की शुद्धि की और अवैदिकशाक्तों को भी रास्ते पर लगाया ॥५५॥

जितोऽभिनवगुप्तस्तु मन्त्रज्ञः शाक्तभाष्यकृत्।
असूयालुर्देशिकोपर्यभिचारं चिकीर्षति ॥ ५६ ॥

मन्त्रवेत्ता शाक्तसिद्धान्त भाष्यकार अभिनव गुप्त पराजित होने से असूया के कारण आचार्य पर अभिचार करने के ताक में हैं ॥५६॥

निवर्त्यासद्वार्त्तातिमिरततिमद्वैतमिहिर-
प्रभातैराचार्यैर्जगति कृतकार्यैर्गुरुतरम् ।
प्रतिष्ठाप्य प्राच्यामधिजलधि गोवर्धनमठं
जगन्नाथस्वामी नयनपथगामी च विहितः ।। ५७ ।।

असद्वार्त्तारूपी अन्धकारसंतति को अद्वैत सूर्य प्रकाश से निवृत्त कर कृतकृत्य आचार्य ने पूर्व में समुद्र के पास गोवर्धन मठ बनाया और जगन्नाथ स्वामी को "कदाचित् कालिन्दी०" इत्यादिस्तुतियों से प्रसन्न कर नेत्रगोचर किया ॥५७॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
एकोनविंशसर्गोऽत्र कथा दिग्विजयाश्रिता ।। १९ ।।



अथ विंशः सर्गः

अथाभिनवगुप्तोऽभिचचार कुमतिर्यतौ ।
भगन्दराख्यरोगश्च देशिकं समपीडयत् ।। १ ।।

कुबुद्धि अभिनवगुप्त ने आचार्य पर अभिचार किया । जिस से भगंदर रोग आचार्य को पीड़ित करने लगा ॥१॥

शोणितप्लाव्यधोवस्त्रं क्षालयत्यजुगुप्सया ।
तोटकः सकलाश्चापि भृशमातुरतां गताः ।। २ ।।

आचार्य का अधो वस्त्र खून से सन जाता था । विना घृणा तोटक उसे धोते थे । सभी इसके लिए व्याकुल थे ॥२॥

नोपेक्षणीयो भगवन्नयं शत्रुवदामयः ।
इत्युक्तोऽपि गुरुर्नैवागणयन्निर्ममां तनुम् ।। ३ ।।

भगवन् ! शत्रु और रोग की उपेक्षा न करनी चाहिये । ऐसे शिष्यों के कहने पर भी ममता न होने से आचार्य जीने शरीर की गणना न की ॥३॥

जन्मान्तराघजन्यश्च धातुवैषम्यजस्तथा ।
द्विधा व्याधिरयं त्वाद्यो भातीत्याह स्म देशिकः ॥ ४ ॥

रोग एक तो जन्मान्तरीय पाप से जन्य होता है। दूसरा धातुवैषम्य से जन्य। मुझे यह पहला मालूम पड़ता है ऐसा आचार्य कहने लगे ॥४॥

नाभुक्तं क्षीयते कर्म व्याधिं नातश्चिकित्सये ।
पतेच्छरीरं किं तेन पतिष्यत्येव यद् ध्रुवम् ॥ ५ ॥

कर्म बिना भोगे नष्ट नहीं होता। अतः मैं चिकित्सा नहीं करूँगा। शरीर गिरेगा; ठीक है, एक दिन गिरना ही है ॥५॥

मैवं गुरो जीवनं नो भवज्जीवनसंश्रयम् ।
परोपकृतये नूनं चिकित्स्यो व्याधिरेष तु ॥ ६ ॥
इत्येवं शिष्यनिर्बन्धाद् गुरुराज्ञां तदा ददौ ।
ते चानयन् भिषग्वर्यान् सिद्धान् भूपालसंश्रितान् ॥ ७ ॥

भगवन् ! आप के जीवन पर हमारा जीवन आलंबित है। परोपकार के लिए तो चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसा शिष्यों के कहने पर आचार्य ने अनुज्ञा दी। तब वे बड़े बड़े राजवैद्यों को लाए ॥६-७॥

बहूनां भिषजां तत्र प्रयत्नो वितथोऽभवत् ।
आचार्यः सकलान् प्रीत्या न्यवर्त्तयत तत्त्ववित् ॥ ८ ॥

वहुत से वैद्यों का प्रयत्न व्यर्थ हो गया तो प्रेम से आचार्य ने सबको विदा किया ॥८॥

दुश्चिकित्स्यं परिज्ञाय व्याधिमेनं महाधृतिः ।
त्यक्त्वा देहाच्च ममतां सस्मार हृदि शंकरम् ॥ ९ ॥

व्याधि को अचिकित्स्य जान कर महाधैर्य शाली आचार्य शरीर से सर्वथा ममता हटाकर भगवान शङ्कर का स्मरण करने लगे ॥९॥

हरशासनतस्तत्र स्ववैद्यावश्विनावुभौ ।
दिव्यरूपौ गुरोः क्षिप्रमुपसेदतुरन्तिकम् ॥ १० ॥

शङ्कर की आज्ञा से स्वर्ग के वैद्य दोनों अश्विनी कुमार आचार्य के पास दिव्यरूप धारण कर आये ॥१०॥

कृत्या कृताऽचिकित्स्येयं रुगित्युक्त्वा च तौ सुरौ ।
जग्मतुस्तच्च संश्रुत्य पद्मपादोऽतिमन्युमान् ।। ११ ।।
गुरुणा वार्यमाणोऽपि शत्रावपि कृपालुना ।
प्रतिवर्त्तनमन्त्रं स जजाप कठिनव्रतः ।। १२ ।।

अश्विनी कुमारों ने कहा कि यह रोग अभिचार जन्य है। इसके लिए औषधिचिकित्सा नहीं है। इतना कहकर वे चले गये। पद्मपाद उसी समय क्रुद्ध हो गये। आचार्य मना करते रहे। क्योंकि वे शत्रु पर भी दयालु थे। फिर भी पद्मपाद ने प्रतिवर्त्तन मन्त्र का कठिन व्रत रख कर जप कर ही डाला ॥११-१२॥

प्रतियातेन तेनैव गदेन परिर्तादितः ।
ममाराभिनवो गुप्तो महदागो हि दुर्धरः ।। १३ ।।

पद्मपाद के जप का परिणाम यह हुआ कि वही रोग वापिस जाकर अभिनव गुप्त को लगा और उसने उसका जीवन भी ले लिया। महान् पुरुषों को दूषित करना बड़ा बुरा होता है ॥१३॥

स्वस्थः कदाचिदाचार्यो गङ्गातीरसमाश्रितः ।
दध्यौ सायं परं ब्रह्म नित्यनिर्मलमद्वयम् ।। १४ ।।

आचार्य स्वस्थ होकर किसी समय गङ्गा किनारे बैठकर नित्य निर्मल ब्रह्म का चिन्तन कर रहे थे ॥१४॥

तत्राऽऽगच्छद् गौडपादाचार्योऽस्य परमो गुरुः ।
ससम्भ्रमं समुत्थाय शंकरस्तमपूपुजत् ।। १५ ।।

अचानक ही वहाँ परमगुरु गौडपादाचार्य आये। संभ्रम के साथ शङ्कर ने उठ कर उनकी पूजा की ॥१५॥

कच्चित्सकुशलोऽसि त्वं कच्चिज्ज्ञातं परं महः ।
कच्चिन्निर्माय भाष्याणि धर्मं लोके व्यतिष्ठिपः ॥१६॥

कैसे हो भला, कुशल तो हो, ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया और भाष्य निर्माण कर संसार में धर्म की स्थापन तो किया ॥१६॥

इति पृष्टो गौडपादैर्बद्धमूर्धाञ्जलिर्यतिः ।
ऊचे भवत्करुणया सर्वं मे साधितं प्रभो ।। १७ ।।

इस प्रकार गौडपाद के पूछने पर हाथ जोड़कर आचार्य ने कहा कि आपकी दया से सब कुछ हो गया ॥१७॥

अनुपेतं प्रव्रजन्तं व्यासो यमनुसंययौ ।
पुत्रेति कातरो, यश्च विरक्ताग्रशिरोमणिः ॥ १८ ॥
तदीयज्ञानपाथोधिं वहति श्रीपदे गुरौ ।
प्रसन्ने सकलं सिद्धं ममेति न हि संशयः ॥ १९ ॥

उपनयन विना ही संन्यासी होकर जाते हुए जिनके पीछे पुत्र पुत्र कहते हुए व्यास जी दौड़े थे; जो विरक्तों में शिरोमणि हैं, उन शुकदेव जी के ज्ञान-सागर को प्राप्त हुए आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरा सभी कार्य सिद्ध हैं, इसमें कोई संशय नहीं ॥१९॥

सूत्रेष्वकृत भाष्याणि श्रुत्यन्तेष्वपि वै भवान् ।
मत्कारिकास्वपीत्येतच्छ्रुत्वा गोविन्दवक्त्रतः ॥ २० ॥
प्रहर्षादागतोऽत्राहं दृगध्वन्यस्तवाभवम् ।
इत्युक्तो देशिको भाष्यं श्रावयामास सादरम् ॥ २१ ॥

सूत्रों, श्रुतियों एवं मेरी कारिकाओं पर आपने भाष्य लिखा, यह मैंने गोविन्दमुख से सुना और हर्ष से आपके सामने आया। इस प्रकार कहने पर आचार्य ने कारिका का भाष्य गौडपादाचार्य को सादर पढ़कर सुनाया ॥२०-२१॥

कारिकाभाष्यसंतुष्टो जगद्गुरुपदं द्रुतम् ।
लभस्वेति वरं दत्वा ततोऽन्तर्धिमगादृषिः ॥ २२ ॥

कारिका भाष्य सुनकर गौडपादाचार्य प्रसन्न हुए। और शीघ्र ही तुम जगद्गुरुपद को प्राप्त हो, ऐसा वरदान देकर अन्तर्धान हो गये ॥२२॥

अन्येद्युरुषसि स्नात्वा कृतकार्यो महामतिः ।
निदिध्यासनकार्येच्छुर्यावत्तावद्वचोऽशृणोत् ॥ २३ ॥

दूसरे दिन प्रातः स्नान कर निदिध्यासनार्थ आचार्य बैठ ही रहे थे इतने में ऐसा वचन सुनने में आया :— ॥२३॥

जम्बूद्वीपं क्षितौ शस्तं प्रशस्तं तत्र भारतम् ।
काश्मीरमण्डलं तत्र वाग्देवी यत्र शारदा ॥ २४ ॥

पृथिवी में जम्बूद्वीप उत्तम है, उसमें परमोत्तम भारत है, भारत में काश्मीर मंडल। जहाँ साक्षात् सरस्वती विराजमान है ॥२४॥

चतुर्द्वारियुतं तत्र देव्या गेहं मनोरमम् ।
यत्र सर्वज्ञपीठोऽस्ति यमारोहति सर्ववित् ॥ २५ ॥

काश्मीर में चार द्वारों से युक्त सुन्दर देवी का मंदिर है। जहां सर्वज्ञ पीठ है। उस पर सर्ववेत्ता (सर्वज्ञ) ही आरोहण कर सकता है ॥२५॥

प्राग् द्वारं कपिलाद्यैश्च दत्ताद्यैरुत्तरं पदम् ।
व्यासाद्यैः पश्चिमं चैव विवृतं दक्षिणं न तु ॥ २६ ॥

पूर्व द्वार को कपिलादि ने, उत्तर द्वार को दत्तात्रेयादिने और पश्चिम-द्वार को व्यासादि ने खोला। किन्तु दक्षिण द्वार अभी भी बन्द है ॥२६॥

शङ्करो दाक्षिणात्योऽयं श्रुत्वा वाचं जनेरिताम् ।
दक्षिणद्वार्विवृत्त्यै तु सशिष्यो निरगात्ततः ॥ २७ ॥

दाक्षिणात्य शंकर इस जनवाणी को सुनकर दक्षिण द्वार खोलने के लिये शिष्य सहित वहाँ पधारे ॥२७॥

मदच्युत्कुम्भिकुम्भान्तर्विपाटनपटुर्हरिः ।
भनक्ति जम्बुकान्नैव कुवादान्नापि देशिकः ॥ २८ ॥
सर्वज्ञपीठमारोढुमेष याति जगद्गुरुः ।
इति श्रुत्वाऽऽगमंस्तत्र वादिनो वाग्मिनो जनाः ॥ २९ ॥

हाथियों के गण्डस्थल को फाड़ने वाला शेर भला सियारों को भी मारेगा?। वैसे आचार्य कुवादियों की ओर नहीं ताकते। ये जगद्गुरु सर्वज्ञ-पीठारोहण करने के लिये जा रहे हैं। ऐसी उद्घोषणा आचार्य के अनुगामी कर रहे थे। उस समय बड़े-बड़े वाग्मी वादी उपस्थित होकर बोलने लगे ॥२८-२९॥

मा मा त्वरय भो पूर्वं देहि प्रश्ने ममोत्तरम् ।
ततो देव्यालयं गच्छेत्याह वैशेषिकः सुधीः ॥ ३० ॥

प्रथम वैशेषिक ने आकर कहा—जल्दी मत करो मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। तव देवी के मन्दिर की ओर आगे बढ़ो ॥३०॥

ननु वैशेषिके तन्त्रे एको वानेक एव वा ।
परमात्मेति निर्ब्रूहि सर्वं चेद्वेत्सि तत्त्वतः ।। ३१ ।।

सर्वज्ञ हो तो बताओ कि वैशेषिक मत में परमात्मा एक है या अनेक ? ।।३१।।

उच्यते परमात्मायमेक एव व्यवस्थितः ।
लाघवानुगृहीतत्वा—दीश्वरानुमितेरिति ।। ३२ ।।

वैशेषिक मत में एक ही परमात्मा है । लाघव तर्क अनुग्राहक है । अर्थात् अनुमान से जहाँ वस्तुसिद्धि की जाती है वहाँ अनेक और एक के सवाल में एक ही माना जाता है । इसी को लाघवतर्क कहते हैं ।।३२।।

ननु वेदपुराणादौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
पृथगुक्तास्तथा भक्ताः कृष्णादीमन्वते पृथक् ।। ३३ ।।

पुर्वपक्षः—वेदपुराणादि में ब्रह्मा विष्णु महेश्वर तीन ईश्वर कहे जाते हैं । भक्तलोग कृष्णरामादि को भी भगवान मानते हैं तब एक कैसे ? ।।३३।।

नैवं नामविभेदो हि कार्यभेदादुपेयते ।
रूपभेदस्तु तद्भक्तैर्यथाभक्ति प्रकल्प्यते ।। ३४ ।।

सिद्धान्तः—ब्रह्मा विष्णु इत्यादि कार्य भेद से ईश्वर के नाम भिन्न हैं राम कृष्णादि भक्तों के द्वारा कल्पित रूपभेद है ऐसा वैशेषिक मत है ।।३४।।

श्रेष्ठ्यध्यक्षः पितेत्येवं लोकैः सभ्यैस्तथात्मजैः ।
एक एवोच्यते यद्वदीशः कार्यवशात्पृथक् ।। ३५ ।।

दुकान में सेठ, सभा में अध्यक्ष, घर में पिता यह लोग, सभ्य, एवं पुत्र एक ही को कार्य भेद से पृथक् कहते हैं, वैसे ईश्वर भी है ।।३५।।

नन्वेका बहवो वेच्छा ईशितुर्लाघवाद्यद ।
यद्येका सर्वकार्याणि सर्वत्र स्युर्हि सर्वदा ।। ३६ ।।

पूर्व०—माना ईश्वर एक है । ईश्वर की इच्छा एक है या अनेक? अनेक मानेंगे तो लाघव का विरोध होगा । एक मानेंगे तो हमेशा हर जगह सभी कार्य होने लगेंगे ।।३६।।

नैवमिच्छैक्यतोऽप्येव नोक्तदोषः प्रसज्यते ।
सहकार्यन्तराभावात् कालादृष्टादिकं तथा ।। ३७ ।।

सिद्धान्तः—ईश्वरेच्छा एक होने पर भी अन्य सहकारियों के न होने से सर्वत्र कर्वंकार्यं नहीं होते। काल अदृष्ट आदि सहकारी हैं ॥३७॥

समये सुधरेदेष बालकश्चञ्चलोऽधुना।
इति ब्रुवन्ति लोकाश्च किल वैशेषिकं मतम् ॥ ३८ ॥

वालक बड़ा चंचल है, समय आनेपर अपने आप सुधरेगा। इस प्रकार वैशेषिक मत को सब लोग कहते हैं। समय सहकारी कारण है ॥३८॥

समये जायते वृष्टिः समये जायते मतिः।
उदेति समये भाग्यं सर्वं समयसंयतम् ॥ ३९ ॥

समय पर वृष्टि होती है, ममय पर बुद्धि आती है, समय पर भाग्य खुलता है। सभी वस्तु समय पर निर्भर करती है ॥३९॥

अदृष्टेन धनं प्रापददृष्टेन सुतोऽभवत्।
इत्यदृष्टं च सकलहेतुं लोकाः प्रचक्षते ॥ ४० ॥

अदृष्ट (भाग्य) से धन मिला, अदृष्ट से पुत्र हुआ ऐसे अदृष्ट को भी सब लोग कारण कहते हैं ॥४०॥

नन्वदृष्टेन चेत्सर्वकार्योत्पत्तिरुपेयते।
गगनस्थेन मेघेन योगोऽदृष्टस्य को वद ॥ ४१ ॥
माहिष्मत्यां यदि स्यान्मृत् कथं काश्यां घटो भवेत्।
ललाटे च मसादृष्टं वृष्टिश्च गगने कथम् ॥ ४२ ॥

पूर्वपक्षः—सर्वकार्यं में अदृष्ट कारण यदि मानो तो मेघ गगन में है भाग्य ललाट में है, दोनों का कैसा सम्बन्ध होगा? क्या माहिष्मती में मिट्टी पड़ी है तो उससे घड़ा काशी में पैदा होगा? ॥४१-४२॥

अत्राभिधीयतेऽदृष्टमात्मन्यभ्युपगम्यते।
आत्मा च व्यापकस्तेन सर्वसम्बन्धसंभवः ॥ ४३ ॥

सिद्धान्तः— अदृष्ट आत्मा में है। और आत्मा व्यापक है। तब मेघादि के साथ अदृष्टवदात्मा का संयोग सुगम है ॥४३॥

नन्वीश्वरो दयालुर्वा नृशंसो वा निगद्यताम्।
दयालुर्दुःखदः कस्मान्नृशंसः सेव्यतां कुतः ॥ ४४ ॥

पूर्वपक्षः—बताईये ईश्वर दयालु है या क्रूर ? दयालु होता तो दुःख क्यों देता ? क्रूर होता तो उसकी लोग सेवा क्यों करें ? ॥४४॥

मैवं तस्य दया नित्या सर्वत्र व्यापिकेशितुः ।
आवृतत्वाज्जनैर्दुःखं यथाकर्मानुभूयते ॥ ४५ ॥
नित्यमीश्वरसेवादिस्तदावरणभञ्जनः ।
सेवास्थाने व्यज्यते साऽमेघस्थानेऽशुंमानिव ॥ ४६ ॥

सिद्धान्तः—ईश्वर की दया नित्य हैं, व्यापक है वह। किन्तु आवृत होने से कर्मानुसार दुःख मिलता है। नित्य भगवत्सेवा से आवरण भंग होगा तो सेवक में कृपा अभिव्यक्त होगी। जैसे मेघ रहित स्थान में सूर्य अभिव्यक्त होता है ॥४५-४६॥

ननु चावरणं किं तद्वैशेषिकमताश्रितम् ।
उच्यते दुरदृष्टं तद् भक्त्या यदपनुद्यते ॥ ४७ ॥

पू० बताईये वह आवरण क्या है ? उत्तरः—दुरदृष्ट ही आवरण है जो भक्ति से दूर होता हें ॥४७॥

श्रुतिस्त्वावरणं मायां प्रकृतिं वदतीति चेत् ।
सत्यं ह्यदृष्टमेवाह श्रुतिर्मायादिशब्दतः ॥ ४८ ॥

पूर्व—श्रुति तो माया प्रकृति को आवरण बताती है। उत्तर :—हां, व हाँ माया आदि का अदृष्ट ही अर्थ है। (द्रष्टव्य :—'इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधसमये विद्येति यस्येदिता" यह उदयनाचार्य का श्लोक स्मरणीय है) ॥४८॥

धन्यो जयजयाचार्य सर्वज्ञोऽसि न संशयः ।
इत्युक्त्वोपरतो वैशेषिकश्चातिप्रसन्नधीः ॥ ४९ ॥

धन्य हो आचार्य ! जय हो ! जय हो ! आप सर्वज्ञ हैं, संशय नहीं। इतना कहकर प्रसन्नचित्त वैशेषिक उपरत हुआ ॥४९॥

अथाग्रे प्रसरन्तं तमाचार्यप्रवरं गुरुम् ।
नैयायिकः समागत्य रुद्ध्वा पप्रच्छ पण्डितः ॥ ५० ॥

आचार्य आगे बढ़े तो इतने में नैयायिक पण्डित ने आकर रोका और पूछा।

ज्ञानेन वा कर्मणा वा मोक्षो नैयायिके मते ।
अथवोभयतो ब्रूहि यदि जानासि तत्त्वतः ॥ ५१ ॥

यदि तत्त्व को जानते हो तो बताओ कि नैयायिक मत के अनुसार ज्ञान से मोक्ष होता है, या कर्म से, या उभय से ॥५१॥

उच्यते ज्ञानतो मोक्षः कर्म ज्ञानोपकारकम् ।
तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चेति वचस्ततः ॥ ५२ ॥

सिद्धान्त :—ज्ञान से मोक्ष होता है। कर्म ज्ञान का उपकारक है। दोनों को जहाँ मोक्षकारक बताया वहाँ ऐसा ही अर्थ समझें ॥५२॥

ननु दुःखस्य सत्यस्य निवृत्तिर्ज्ञानतः कथम् ।
मिथ्या दुःखमिति ब्रूषे हन्याः सिद्धान्तमेव नः ॥ ५३ ॥

पूर्वपक्ष :—न्यायमत में दुःख सत्य है। ज्ञान से उसकी निवृत्ति किस प्रकार है? दुःख को मिथ्या कहोगे तो हमारे सिद्धान्त को ही मारोगे ॥५३॥

उच्यते दुःखविध्वंसो मोक्षो बाधस्तु नेष्यते ।
सत्यध्वंसो भवेज्ज्ञानात्पारम्पर्येण कारणात् ॥ ५४ ॥

सिद्धान्त। दुःख का बाध नहीं किन्तु ध्वंस ज्ञान से भी परम्परया सम्भव है ॥५४॥

दुःखस्य कारणं देहस्तं विना तददर्शनात् ।
अत एव मुनिर्देहं भोगायतनमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

दुःख का कारण देह है। क्योंकि देह के बिना दुःख देखने में नहीं आता। इसलिए यह शरीर का ही लक्षण है—भोगायतनम्। अर्थात् सुख-दुःखादि भोग का घर शरीर है ॥५५॥

शरीरं मुनिराट् चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयमूचिवान् ।
तच्चोक्तमर्थं नितरां समर्थयति निश्चितम् ॥ ५६ ॥

गौतम ऋषी ने 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरं' ऐसा कहा। अर्थ = सुखदुःख उसका आश्रय शरीर है ॥५६॥

आत्मा तु व्यापको देहा-वच्छेदेन तथात्मनि ।
दुःखं दृष्टं न तु घटावच्छेदेनेति सार्विकम् ॥ ५७ ॥

युक्ति भी देखिये। आत्मा व्यापक है। देह में भी है घट में भी है। किन्तु देहावच्छेदेन दुःखादि होते हैं, घटाद्यवच्छेदेन नहीं ॥५७॥

शरीरं जन्मना देवनरपश्वादियोनिषु ।
लभ्यतेऽतो देहहेतुर्जन्मेत्यखिलसंमतम् ॥ ५८ ॥

देव मनुष्यादि योनि में जन्म से शरीर होता है अतः शरीर हेतु जन्म है यह भी निश्चित है ॥५८॥

जन्म स्यात्पुण्यपापाभ्यां पुण्याद्देवादियोनिषु ।
पापात्पश्वादिके मर्त्ये चोभयस्मादिति स्थितिः ॥ ५९ ॥

पुण्य और पाप से जन्म होता है। पुण्याधिक्य से देवजन्म, पापाधिक्य से पश्वादिजन्म, उभयप्राधान्य से मर्त्यजन्म होता है ॥५९॥

पुण्यपापे प्रवृत्त्या स्तां सदसत्कर्मरूपया ।
सर्वारम्भेषु दोषश्च गुणश्चास्ति यथायथम् ॥ ६० ॥

प्रवृत्ति से पुण्यपाप होते हैं। सभी प्रवृत्ति में कुछ दोष और कुछ गुण तारतम्य से होते हैं ॥६०॥

दोषैरेव भवेन्नृणां प्रवृत्तिः कर्मलक्षणा ।
रागो द्वेषश्च मोहश्च त्रयो दोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ६१ ॥

दोष से प्रवृत्ति होती है। दोष तीन हैं—राग-द्वेष और मोह ॥६१॥

सुकृतं स्वर्गरागात्स्यात्परस्त्रीरागतो ह्यघम् ।
महद्द्वेषादघं पापिद्वेषान्नेति तु पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

स्वर्गराग से सत्कर्म परदारराग से पाप कर्म, महापुरुषद्वेष से पाप कर्म, पापिद्वेष से अपसरण पुण्य कर्म इत्यादि अनियत है ॥६२॥

मिथ्याज्ञानाद् भवेयुश्च सर्वे दोषा न संशयः ।
द्विष्टेष्टसाधनज्ञानाद् द्वेषरागौ यतो मतौ ॥ ६३ ॥

मिथ्या ज्ञान से रागादि होते हैं। क्योंकि द्विष्टसाधनताज्ञान से द्वेष इष्टसाधनताज्ञान से राग होता है ॥६३॥

मिथ्याज्ञानाद् भवेदिष्टानिष्टबुद्धिरधोजुषाम् ।
क्षणिकं ब्रह्मलोकान्तसुखमिष्टं कथं भवेत् ॥

संयोगो विप्रयोगान्तो दुःखान्तं च तथा सुखम् ।
जीवितं मरणान्तं च किमिष्टं तत्र संभवेत् ॥ ६४ ॥

मिथ्या ज्ञान से इष्टानिष्ट बुद्धि होती है। ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी सुख क्षणिक हैं। क्या वह इष्ट हो सकता है? संयोग विप्रयोगान्त है, सुख दुखान्त है, जीवन मरणान्त है। बताइये इसमें इष्ट क्या है ? ॥६४॥

अनित्याशुचिदुःखेषु नित्यशुद्धसुखेक्षणम् ।
अनात्मन्यात्मबुद्धिश्च मिथ्याज्ञानमुदीर्यते ॥ ६५ ॥
एकविंशतिदुःखेषु सुखख्यात्यात्मना नरः ।
मिथ्याज्ञानेन कुरुते रागद्वेषादिकं कुधीः ॥ ६६ ॥

अनित्य क्षणिक सुखादि को नित्य, अशुचि को शुचि, एकविंशति दुःख को सुख और आत्मा को अनात्मा समझना मिथ्याज्ञान है। इसी से रागद्वेषादि होते हैं। सारांशः—दुःख का कारण देह, देह का कारण जन्म, जन्म का कारण पुण्यपाप, पुण्यपाप का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण रागद्वेषादि, रागद्वेषादि का कारण इष्टसाधनतादि ज्ञान, इष्टसाधनतादिज्ञान में कारण मिथ्याज्ञान ॥६५-६६॥

आत्मेन्द्रियार्थबुद्ध्यादितत्त्वज्ञाने समुद्गते ।
मिथ्याज्ञानं वियात्येतन्नश्येच्चोक्तपरम्परा ॥ ६७ ॥
अशरीरं वाव सन्तं स्पृशतो न प्रियाप्रिये ।
आत्यन्तिकी दुःखहानिरेषा मुक्तिः प्रबोधतः ॥ ६८ ॥

आत्मा इन्द्रिय अर्थ बुद्धि आदि का तत्त्वज्ञान हुआ तो मिथ्याज्ञान नष्ट होगा। उससे दोष, प्रवृत्ति, पुण्यापुण्य, जन्म और शरीर का क्रमशः विनाश होगा। अशरीर होने पर प्रिय तथा अप्रिय नहीं रहेगा। यही आत्यन्तिक-दुःखहानिरूप मोक्ष है ॥६७-६८॥

दुःखध्वंसेत्यनेनात्र दुःखानुत्पत्तिरुच्यते ।
जातस्य हि स्वतो ध्वंसात्कारणाभावतस्तु सा ॥ ६९ ॥

वस्तुतः दुःखध्वंस का दुःखानुत्पत्ति अर्थ है। क्योंकि उत्पन्न दुःख का ध्वंस स्वतः हो जायेगा। उसके लिये ज्ञान की जरूरत नहीं है। अतएव ज्ञाननाश्य न होने से दुःखमिथ्यात्व की शंका भी नहीं हो सकती ॥६९॥

रहस्यमेतद् गदितं निशम्य
सगद्गदं प्राह स पण्डिताग्रचः ।
धन्योऽसि सार्वज्ञमुपागतोऽसि
नमो नमस्ते गुरवे गुरूणाम् ॥ ७० ॥

नैयायिक रहस्य को सुनकर पण्डित गद्गद हो गये। बोलने लगे, धन्य हो, आप सर्वज्ञ वन गये हैं, गरुओं के भी गुरु आपको बार-बार प्रणाम ॥७०॥

शङ्कराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
विंशः सर्गोऽयमौलूक्यवैशेषिकमतान्वितः ॥ २० ॥



अथ एकविंशः सर्गः

काणादैर्गौतमीयैश्चानुगतः संप्रयन् गुरुः ।
सांख्यैर्मध्येऽवरुध्योक्तः पृच्छामस्त्वां कुरूत्तरम् ॥ १ ॥

वैशेषिक तथा नैयायिकों ने आचार्य का अनुगमन किया। आगे बढ़ रहे थे तो मध्य में सांख्यों ने आकर रोका और कहा कि हमारे भी प्रश्न का उत्तर दो ॥१॥

भोगमोक्षौ कथङ्कारं संपादयति पूरुषः ।
तत्कर्त्तृत्वे विकारी स्याद् विकारित्वे विनश्यति ॥ २ ॥

पुरुष भोग और अपवर्ग को कैसे प्राप्त करता है? यदि भोगमोक्षादि का वह संपादन करता है तो विकारी होगा। विकारी का विनाश = अदर्शन (णश अदर्शने) = अव्यक्तीभाव भी अवश्यम्भावी है ॥२॥

उच्यते प्रकृतिः पुंसो भोगमोक्षकरी मता ।
सृष्टचा च तत्त्वविज्ञानोद्भावनाचव यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

उत्तरः—भोग और मोक्ष को पुरुष के निमित्त प्रकृति संपादन करती है। सृष्टि से भोग और तत्त्वज्ञान से मोक्ष ॥३॥

स्वतन्त्रा प्रकृतिर्नैनां प्रवर्त्तयति पूरुषः ।
अतोऽकर्त्ताऽविकारी च न वा नाशः प्रसज्यते ॥ ४ ॥

प्रकृति को पुरुष प्रर्वात्तत करता है, अतः कर्ता होने से विकारी होगा ऐसी भी शंका नहीं है। क्योंकि प्रकृति स्वतन्त्र है। अतएव नाशप्रसक्ति भी पुरुष की नहीं ॥४॥

नन्वज्ञा प्रकृतिः सैषा प्रवर्तेत कथं स्वयम् ।
मैवं वत्सविवृद्धयर्थं क्षीरवत्सा प्रवर्त्तते ॥ ५ ॥

पूर्व०—प्रकृति अज्ञ है, वह स्वयं प्रवृत्त कैसे होगी। उसको क्या मालूम कि पुरुष को भोग और अपवर्ग चाहिए। सिद्धान्त :—बछड़े की वृद्धि के लिए अज्ञ भी दूध स्वयं गाय के थनों में आता है। वैसे स्वयं प्रकृति भी करेगी ॥५॥

यथोपभुक्तं कुक्षिस्थमन्नं रक्तादिभावतः ।
अस्मदाद्यैरविज्ञातं स्वयमेव प्रवर्तते ॥ ६ ॥

चेतन गाय थनों में दूध नहीं लाती, किन्तु स्वयमेव दूध आता है। उदाहरणान्तर लीजिए। हम भोजन कर लेते हैं। उसके बाद क्या होता है हमको भी मालूम नहीं। फिर भी रस रक्तादि भाव से स्वयमेव वह प्रवृत्त होता है ॥६॥

यथा व्रणं पूरयितुं शरीरप्रकृतिः स्वयम् ।
तथैव मूलप्रकृतिः स्वयमेव प्रवर्तते ॥ ७ ॥

जैसे हमारा शरीर कहीं कट गया, व्रण हो गया तो शरीरप्रकृति स्वयमेव व्रण को भर देती है। यही मूल प्रकृति में भी बात है ॥७॥

प्रवृत्तिः प्रथमा नूनं भुक्तिवच्चेतनाश्रिता ।
मैवं वाच्यमनादित्वात्प्रकृतेः प्रथमाऽसती ॥ ८ ॥

प्रथम भोजन में प्रवृत्ति तो चेतननिमित्तक है। वैसे ही प्रथम संसार को प्रवृत्त करने वाला कोई चेतन ही मानना पड़ेगा। तब कर्त्ता होने से चेतन विकारी होगा इत्यादि शङ्का भी नहीं होती। कारण, अनादि प्रकृति में प्रथम प्रवृत्ति ही असिद्ध है। अनादि नियम से वह प्रवृत्त होती आ रही है ॥ ८ ॥

नियमस्याप्यनादित्वान्नियन्तृविधयापि न ।
विकारी चेतनः कोऽपि प्रत्यक्षा एव चेतनाः ॥ ९ ॥

नियम से प्रकृति की प्रवृत्त होती है तो नियन्ता कौन? यह भी शंका नहीं हो सकती। कारण नियम भी अनादि सिद्ध सबको ही मानना पड़ेगा। कब से यह नियम शुरू हुआ। उससे पहले कोई नियम नहीं था क्या? इसका उत्तर सभी दार्शनिक अनादि कह कर ही दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में फिर चेतन को मानना ही क्यों? इसका उत्तर है कि चेतन सबके लिए अनुभव सिद्ध हैं। उसका अपलाप कौन करेगा? [द्रष्टव्य :—इस प्रकार प्रात्यक्षिक जीवात्मा सिद्ध होंगे। परमात्मा कैसे सिद्ध हो सकते हैं इसके लिए सांख्य वालों ने कुछ भी नहीं बताया] ॥९॥

नन्वेवं प्रकृतिर्मोक्षं स्वयं कुर्वीत भोगवत् ।
व्यर्थः पुरुषकारस्तत्कथं नैव प्रसज्यते ॥ १० ॥

पूर्वपक्षः—तव स्वयमेव प्रकृति भोग के समान मोक्ष भी कर देगी। पुरुषकार (पुरुषार्थ-परिश्रम) व्यर्थ होगा ॥१०॥

मैवं कारणसांनिध्यं यादृशं लभ्यते तया ।
तथा भोगं च मोक्षं च संपादयति सा नृणाम् ॥ ११ ॥

सिद्धान्तः—जैसा सहकारिकारण उसको प्राप्त होगा वैसे वह (प्रकृति) भोग और मोक्ष संपादन करेगी ॥११॥

अर्जने भोगसामाग्र्या भोगं सम्यक् प्रसाधयेत् ।
अर्जने मोक्षसामग्र्या मोक्षं चैव प्रसाधयेत् ॥ १२ ॥

भोग सामाग्री का अर्जन करो तो भोग संपादन करायेगी। मोक्ष सामग्री का अर्जन करो तो मोक्ष संपादन करायेगी ॥१२॥

दुःखत्रयाभिघातेन दृष्टादृष्टानुपायतः ।
व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानं जिज्ञासोः शास्त्रमादिशेत् ॥ १३ ॥

आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक दुःखत्रय का आघात होने पर अन्य प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उपायों के न होने से जिज्ञासु को व्यक्त-अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) का विवेकविज्ञान शास्त्र बता देता है ॥१३॥

सहकारितया ज्ञानं प्रकृतिः प्राप्नुयाद्यदा ।
तदा मोक्षं गमयति स्वयं सर्गोपरामतः ॥ १४ ॥

प्रकृति को जब ज्ञान सहकारीकारणरूप से प्राप्त होता है। तब सर्ग से उपरत होकर मोक्ष दिला देती है ॥१४॥

शरीरप्रकृतिर्यद्वत्सहकारितयौषधम् ।
उपेत्य व्रणपूर्त्ति हि कुरुते नान्यथा तथा ॥ १५ ॥

शरीर की प्रकृति में ही देखिए। जब औषध सहकारी कारण मिल जाता है तो प्रकृति तुरन्त व्रण को भर देतौ है, अन्यथा नहीं ॥१५॥

नन्वेवं प्रकृतिर्मोक्षे कृतेऽप्यज्ञतया स्वयम् ।
सर्गं कृत्वा पुनर्बन्धे निक्षिपेर्दिति चेन्न तत् ॥ १६ ॥

पूर्वपक्षः—प्रकृति स्वयं अज्ञ ठहरी मोक्ष होने के बाद भी फिर से सृष्टि करके वह बन्धन में पुरुष को डाल देगी ॥१६॥

व्रणे संपूरिते मांसं प्रकृतिर्नैव वर्धयेत् ।
आपूर्त्ति वर्धयेत् पश्चात्कृतकार्या निवर्त्तते ॥ १७ ॥
पूरिते शोषिते चैवापथ्यभक्षणतोऽपि सा ।
नाज्ञेतिकृत्वा पुनरप्युद्भावयति तद् व्रणम् ॥ १८ ॥

जहाँ व्रण होता है वहाँ प्रकृति मांस लाकर भरती है। फिर भरने के बाद में भी अज्ञानी होने से भरती ही रहेगी तो व्रण के स्थान में मांस लटकने लगेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता। मांस भर गया तो वह कृतकृत्य हो गयी। फिर भरती ही नहीं रहेगी। मांस भर दिया व्रण सूख गया तो फिर अपथ्य के खाने से भी प्रकृति व्रण को पुनः नहीं पकाती। पहले होता तो जरूर पकाती। वैसे मूल प्रकृति भी मोक्ष संपादन कर कृतकृत्य होती है तो फिर सृष्टि कर बन्धन में नहीं डालती ॥१८॥

इत्थं च प्रकृतिः कर्त्री स्वतन्त्रेत्यत एव हि ।
कर्त्तृत्वहेतुको नैव विकारः पुरुषे भवेत् ॥ १९ ॥

सारांश यह हुआ कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्त्री है। अत एव कर्तृत्वहेतुक विकार पुरुष में नहीं होता ॥१९॥

ननु कर्त्तृत्वतो मा भूद्विकारी पुरुषो मम ।
कथं न भोगमोक्षाभ्यां विकारं प्रतिपद्यते ॥ २० ॥

पूर्वपक्षः—कर्तृत्व के कारण हमारा पुरुष विकारी न हो, किन्तु भोग और मोक्ष को लेकर विकारी तो होगा ॥२०॥

मैवं सुखं च दुःखं च न पुंस्यभ्युपगम्यते ।
किन्त्वन्तःकरणे सत्त्वरजःपरिणती हि ते ।। २१ ।।

उत्तरः—सुख और दुःख पुरुष में नहीं है, किन्तु अन्तःकरण में होते हैं। क्योंकि सुख सत्त्व का और दुःख रज का परिणाम है ।।२१।।

अन्तःकरणसांनिध्यादुपरक्तः पुमान् भवेत् ।
ताभ्यां, स चायमध्यासो भोग इत्यभिधीयते ।। २२ ।।

अन्तः करण के सांनिध्य से पुरुष सुख और दुःख से उपरक्त होता है यह अध्यास है, और यही भोग है ।।२२।।

प्रकृतिर्ज्ञाततत्त्वस्य सुखदुःखे न कारयेत् ।
जीवन्मुक्तिरियं ख्याता तत्त्वज्ञानफलात्मिका ।। २३ ।।

तत्त्वज्ञान होने पर प्रकृति अन्तःकरण में विशिष्ट सुखदुःख उत्पन्न नहीं करती ! यह जीवन्मुक्ति का लक्षण है ।।२३।।

प्रारब्धवशवर्त्ती च यावत्प्रारब्धसंस्थिति ।
जीवेद्धृतशरीरः संभ्रक्रभ्रमिवदेव सः ।। २४ ।।

प्रारब्ध जब तक रहता है तब तक शरीर रहता है। जैसे एक बार घुमाया तो वेग जब तक रहता है तब तक चक्र घूमता है ।।२४।।

पतिते च शरीरे न पुनर्देहं करोति सा ।
विदेहमुक्तिरेषोक्ता स्वरूपस्थः पुमांस्तदा ।। २५ ।।

जब शरीर का पतन हो जाता है तब तत्त्वज्ञानी का प्रकृति पुनः शरीर निर्माण नहीं करती। यही विदेहमुक्ति है। उस समय पुरुष स्वरूपस्थित होता हैं ।।२५।।

गूढं रहस्यमाचष्ट धन्यो धन्यो जगद्गुरुः ।
इति ब्रुवाणाः सांख्याश्च गुरुं तमनुसंययुः ।। २६ ।।

धन्य हो जगद्गुरु। आपने गूढ रहस्य बताया। ऐसा कहते हुए सांख्य भी आचार्य के पीछे पीछे चले ।।२६।।

तावद्योगविदोऽभ्येत्य निरुध्य च गुरुं जगुः ।
अज्ञातयोगोऽसर्वज्ञः पृच्छामो वयमप्यतः ।। २७ ।।

इतने में योगी लोग आकर रोकते हुए बोले कि जिसने योग नहीं जाना वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, अतः अब हम पूछते हैं कि—।।२७।।

योगिनः कतिधा योगशास्त्रं च प्रावृतत्कथम् ।
यदि जानासि तद् ब्रूहि भूमिकाभिः सभूमिभिः ।। २८ ।।

योगी कितने प्रकार के होते हैं। योग शास्त्र की प्रवृत्ति किस प्रकार है? भूमिका और भूमियों का भी वर्णन करो ।।२८।।

क्षिप्तं मूढं च विक्षिप्तमेकाग्रं सनिरुद्धकम् ।
भूमयः पञ्च तत्रान्त्यद्वयं स्याद्योगपक्षगम् ।। २९ ।।

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमियाँ हैं। इनमें योग पक्ष में अन्तिम दो ही हैं ।।२९।।

योगिनोऽत्र चतुर्धा स्युराद्यः प्रथमकल्पिकः ।
मधुभूमिक उक्तोऽन्यः प्रज्ञाज्योतिस्तृतीयकः ।। ३० ।।
चतुर्थः समतिक्रान्तभावनीय उदीरितः ।
सामान्यलक्षणं तेषामिदमत्र विधीयते ।। ३१ ।।

योगी चार प्रकार के हैं। प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और समतिक्रान्तभवनीय। अब क्षिप्तादि सबका सामान्य लक्षण सुनिये ।।३०-३१।।

प्रवृद्धरजसां क्षिप्तं चित्तं विषयलोलुपम् ।
विषयास्वादकाले च योगवद्विषयस्थिरम् ।। ३२ ।।

(१) क्षिप्तः—रजोगुण अधिक रहता है। चित्त विषयलोलुप होता है। विषयास्वादन काल में योग के समान ही मानो स्थिर भी रहता है ।।३२।।

प्रवृद्धतमसो मूढं चित्तं स्फूर्त्तिविवर्जितम् ।
निद्रादिसमये शून्यमुद्रिक्ताभिर्हि वृत्तिभिः ।। ३३ ।।

(२) मूढः—तमोगुण बढ़ा रहता है। चित्त स्फूर्ति रहित होता है। निद्रादि समय में उद्रिक्त वृत्तियों से शून्य रहता है ।।३३।।

योगे प्रयतमानस्य चित्तं विक्षिप्यति स्वयम् ।
ईषत्स्थिरत्वतश्चेषत्समाधिस्तत्र वर्त्तते ।। ३४ ।।

(३) विक्षिप्त—योगार्थ प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन चित्त में विक्षेप होता रहता है। थोड़ा स्थिर होने से समाधि भी अल्प होती है ।।३४।।

तथापि योगिनो नैते योगलक्षणवर्जनात् ।
चित्तवृत्तिनिरोधो हि योग इत्यभिधीयते ॥ ३५ ॥

फिर भी विक्षिप्त योगी नहीं और पूर्वोक्त दो भी योगी नहीं हैं। कारण योग का लक्षण उनमें नहीं है। चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है ॥३५॥

निरोधनं निरोधः स्याद्यत्नपूर्वकसंस्थितिः ।
क्षिप्ते मूढे च निर्यत्नो निरोधो विषयोद्भवः ॥ ३६ ॥

निरोध अर्थात् यत्नपूर्वक स्वरूपस्थिति। क्षिप्त और मूढ में विषय से निरोध होता है, यत्न से नहीं ॥३६॥

सयत्नेऽपि हि विक्षिप्ते निरोधो नोपजायते ।
किंचित्कालाभिभावेऽपि वृत्तीनां पुनरुद्भवात् ॥ ३७ ॥

विक्षिप्त में यद्यपि यत्न रहता है। किन्तु निरोध नहीं होता। कुछ काल तक वृत्ति अभिभूत होती है, फिर उद्भूत होती है ॥३७॥

नित्यमभ्यस्यतो योगं चित्तं स्याज्ज्योतिरुन्मुखम् ।
प्रवृत्तमात्रज्योतिः स भवेत्प्रथमकल्पिकः ॥ ३८ ॥

अब (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध भूमिकाभेद से सुनिये। योग का नित्य अभ्यास करने से चित्त ज्योति के उन्मुख होता है। यही प्रवृत्तमात्रज्योति प्रथमकल्पिक है ॥३८॥

वितर्केण विचारेणानन्देनास्मितयापि च ।
भवेदनुगमात्तस्य समाधिः सविकल्पकः ॥ ३९ ॥

उसको वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सविकल्पक समाधियां क्रमेण होती हैं ॥३९॥

वितर्कः स्थूल आभोगो विचारः सूक्ष्म एव च ।
आनन्दः सुखमन्तस्थमस्मिताऽहमिति स्थितम् ॥ ४० ॥

वितर्क (समाधि) स्थूलवस्त्वेकाग्रित है। विचार सूक्ष्मवस्त्वेकाग्रित, आनन्द सुखैकाग्रित और अस्मिता आत्मार्थैकाग्रित है ॥४०॥

तस्य श्रुतानुमानाभ्यामन्या प्रज्ञा प्रवर्त्तते ।
ऋतम्भरप्रज्ञ एष द्वितीयो मधुभूमिकः ॥ ४१ ॥

श्रुत और अनुमान से विलक्षण ऋतंभरा प्रज्ञा उसको होती है। यही दूसरी मधुभूमिका है ॥४१॥

अस्मिन् मधुमती नाम भूमिका संप्रवर्त्तते।
विशेषविषयज्ञानमधुना मधुरा हि सा ॥ ४२ ॥

इस अवस्था में मधुमती नाम की भूमिका होती है। विशेषविषयज्ञान-रूपी मधु से वह मधुर रहतो है ॥४२॥

भूतेन्द्रियजयी योगी प्रज्ञाज्योतिरितीर्यते।
मधुप्रतीका तस्यैव विशोका चैव भूमिके ॥ ४३ ॥

भूत और इन्द्रियों को जीतनेवाला योगी प्रज्ञाज्योति कहलाता है। यही तीसरा है। वहाँ प्रधुप्रतीका और विशोका ये दो भूमिकायें होती हैं ॥४३॥

मनोजवो विकरणभावः कार्यजयस्तथा।
विशोकमध्वेकदेशप्रतीकास्वादसिद्धयः ॥ ४४ ॥

विशोक और मधु के एकदेश प्रतीक के आस्वादन की सिद्धियाँ मनोजव, विकरणभाव और कार्यंजय हैं ॥४४॥

विशोका सर्वभावाधिष्ठानं सर्वज्ञतापि च।
सा सत्त्वपुरुषान्यत्वख्यातिनिष्ठस्य सिद्धयति ॥ ४५ ॥

विशोका का मतलव है सर्वभावाधिष्ठान और सर्वज्ञता। प्रकृतिपुरुष-विवेकख्याति से वह सिद्ध होती है ॥४५॥

परवैराग्यवान् क्रान्तभावनीयो निगद्यते।
एकोऽर्थस्तस्य वै चित्तप्रतिसर्गो हि योगिनः ॥ ४६ ॥

परवैराग्यवाला क्रान्तभावनीय कहलाता है। उस योगी के लिये भावनीय (कर्त्तव्य) एक ही रह जाता है। वह यह कि चित्त का प्रतिसर्ग (मूल में मिलाना) ॥४६॥

संस्कारशेषां तस्याहुर्भूमिकां योगवेदिनः।
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वोऽयं निर्विकल्पकः ॥ ४७ ॥

उसकी संस्कारशेषा भूमिका होती है। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वक असं-प्रज्ञात समाधि उसकी होती है ॥४७॥

अविद्या चास्मिता रागो द्वेषश्चाभिनिवेशिता ।
पञ्च क्लेशा विनश्यन्ति परवैराग्यशालिनः ॥ ४८ ॥

परवैराग्यवाले योगी के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-रूपी पांच क्लेश नष्ट होते हैं ॥४८॥

अथास्य योगशास्त्रस्य प्रवृत्तिः कीदृशीत्यपि ।
ब्रवीमि श्रूयतां तच्च सावधानमनस्तया ॥ ४९ ॥

अब योगशास्त्र की प्रवृत्ति कैसी है यह भी बताता हूँ ॥४९॥

हेयं च हेयहेतुश्च हानं तद्धानसाधनम् ।
दुःखं दृग्दृश्यसंयोगः कैवल्यं च विवेकधीः ॥ ५० ॥

रोगश्च धातुवैषम्यं स्वास्थ्यं चैव भिषक्क्रिया ।
चतुर्व्यूहश्चिकित्सायां तद्वदत्रापि बुध्यताम् ॥ ५१ ॥

वैद्यक शास्त्र के समान योगशास्त्र की भी प्रवृत्ति होती है। वैद्यक में रोग, निदान, स्वास्थ्य, उपचार यह चतुर्व्यूह है। योगशास्त्र में हेय, हेयहेतु, हान, हानसाधन ये चार हैं। हेय—दुःख। हेय का (दुःख का) कारण—दृग्दृश्यसंयोग। हान—कैवल्य, हानसाधन—विवेकबुद्धि ॥५०-५१॥

हेयं दुःखमनायातं संयोगो हेयकारणम् ।
तस्य हेतुरविद्या च विवेकेन निवर्त्तते ॥ ५२ ॥

अनागत दुःख ही हेय है। उसका कारण दृश्य और द्रष्टा का संयोग है। उसका कारण अविद्या है। विवेक से उस अविद्या की ही निवृत्ति होती है ॥५२॥

ततः संयोगविगमे स्वस्वरूपप्रतिष्ठितिः ।
गुणप्रतिप्रसूतिश्च हानं कैवल्यलक्षणम् ॥ ५३ ॥

संयोग समाप्त हुआ तो स्वस्वरूपप्रतिष्ठा और प्रकृतिविकारों का प्रति-प्रसव (विलय) होता है, वही कैवल्य है ॥५३॥

योगाङ्गनामनुष्ठानादशुद्धिप्रक्षये सति ।
विवेकख्यातिरुदयेज्ज्ञानदीप्त्यानुपप्लवा ॥ ५४ ॥

यमनियमादि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धिक्षय होता है। उस से ज्ञान की दीप्ति होती है, जिससे निर्बाध विवेकख्याति होती है ॥५४॥

योगानामिति परमं रहस्ययोगं
संशम्य प्रमुदितचेतसो विधिज्ञाः ।
अत्युच्चैर्जयजयघोषमादरेणा-
ऽऽतन्वानास्तमनुययुर्गुरुं गुरूणाम् ॥ ५५ ॥

इस प्रकार योगशास्त्र का परमरहस्ययोग सुनकर योगविधिवेत्ता वे अत्यन्त प्रमुदित हो गये । जोर से आदर के साथ जय जयकार बोलते हुए गुरुओं के भी गुरु आचार्य का उन्होंने भी अनुगमन किया ॥५५॥

शंकराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
एकविंशो गतः सर्गः सांख्ययोगसमन्वितः ॥ २१ ॥



अथ द्वाविंशः सर्गः

उद्गच्छन्नग्रतो रुद्धः प्राज्ञैः पाशुपतादिभिः ।
अस्मदीयानपि प्रश्नान् समाधेहीतिभाषिणः ॥ १ ॥

आचार्य आगे बढ़ रहे थे । इतने में हमारे भी प्रश्नों का समाधान करो कहते हुए पाशुपतादि ने आकर रोका ॥१॥

आख्याहि पशुपत्याख्यां समाख्यां सर्वविद्यदि ।
यथान्यायं स्मरन् पाशुपतसिद्धान्तपद्धतिम् ॥ २ ॥

बोलो—पशुपति की क्या समाख्या है (योगार्थ है) । यदि सर्वज्ञ हो तो न्यायानुसार पाशुपतसिद्धान्त को समझकर समझाओ ॥२॥

उच्यते पशुरित्युक्तो जीवस्तत्र पशुत्वकृत् ।
मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिर्हेतुश्च्युतिस्तथा ॥ ३ ॥

सिद्धान्त—पशु जीव को कहते हैं । मिथ्याज्ञान, अधर्म सक्ति, हेतु और च्युति इन पांच से पशुत्व होता है ॥३॥

नित्याश्च विभवश्चैते पशवः पाशसंयुताः ।
अनवच्छिन्नसद्भाववस्तुत्वाद्देशकालतः ॥ ४ ॥

पाशवाले पशु हैं। वे नित्य और व्यापक हैं। देश और काल से अनवच्छिन्न सत्तावाले हैं ॥४॥

मोक्षे शिवस्वरूपं ते प्रपद्याभिन्नतामियुः ।
तस्मात्सांख्यादिवन्नैव सर्वदा भिन्नरूपिणः ॥ ५ ॥

मोक्ष में ये पशु शिवस्वरूप को प्राप्त होकर अभिन्न हो जाते हैं। अतः सांख्यादिमतवत् भेद नित्य नहीं है ॥५॥

पाशवन्तो हि पशवः पाशः पञ्चविधो भवेत् ।
मलं कर्म च माया च रोधशक्तिः सबिन्दुका ॥ ६ ॥

पाशवान् पशु हैं। मल, कर्म माया, रोधशक्ति और विन्दु ये पांच पाश हैं ॥६॥

यत्स्वज्ञानक्रियाशक्त्यावरणं तन्मलं स्मृतम् ।
कर्म प्रवाहतोऽनादि धर्माधर्मात्मकं विदुः ॥ ७ ॥

अपनी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को ढकनेवाला मल होता है। प्रवाहानादि धर्माधर्म कर्म है ॥७॥

प्रलये शक्तिरूपेण सृष्टौ चैव कलादिना ।
कार्याणि यत्र वा सान्ति माया भोगप्रवर्त्तिनी ॥ ८ ॥

प्रलय में शक्तिरूपसे और सृष्टि में कला आदि रूपसे जो रहे, जहां समस्तकार्य समा जाये वह माया है, वह भोगों को देनेवाली है ॥८॥

रोधशक्तिस्तिरोधानं परमेश्वरवर्त्ति तत् ।
तथापि पुंस्तिरोधानात्पाशत्वेनेह कीर्त्तिता ॥ ९ ॥

रोधशक्ति तिरोधान को कहते हैं। यद्यपि वह परमेश्वरस्थ है। तथापि पुरुषतिरोधान करने से यहाँ पाश माना गया है ॥९॥

शिवतत्त्वभिदा बिन्दुस्तद्युतोऽपरमुक्तिमान् ।
विद्येश्वरादिपदभाक् पाशत्वमपरत्वतः ॥ १० ॥

बिन्दु शिवतत्त्वविशेष ही है। उससे युक्त अपरमुक्तिवाला विद्येश्वरादि कहलाता है। अपर होने से पाश कहा गया ॥१०॥

यावदूर्ध्वं प्रगच्छन्ति तावत्पतनतो भयम् ।
विन्दुपर्यन्तमान्तेऽयं पाशत्वेनोररीकृतः ॥ ११ ॥

जितना ऊपर जाय उतना ही पतनभय भी रहता है। अतएव बिन्दु-पर्यन्त पाश माना गया है ॥११॥

पाता पशूनां कर्मादिफलदाता महेश्वरः ।
स्वतन्त्रः परमानन्दचितिः पशुपतिः स्मृतः ॥ १२ ॥

जो पशुओं के पाता = रक्षक और कर्मफलदाता है वही स्वतन्त्र परमानन्द-चिद्रूप महेश्वर पशुपति है ॥१२॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ १३ ॥

ये सभी जन्तु अज्ञानी हैं। अपने सुखदुःख में अनीश्वर हैं। ईश्वर प्रेरित होकर स्वर्ग या नरक जाते हैं ॥१३॥

प्राणभृत्कर्मसापेक्षः सृजत्यवति हन्ति सः ।
जगदेतन्न सापेक्षभावात्स्वातन्त्र्यविच्युतिः ॥ १४ ॥

प्राणिकर्मसापेक्ष होकर जगत् की सृष्टि स्थिति संहार वह करता है। सापेक्ष भाव से स्वातन्त्र्यहानि नहीं है। क्योंकि ॥१४॥

स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता ।
कर्त्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षिता ॥ १५ ॥

जो प्रयोज्य नही, करणादिप्रयोक्ता है तद्भाव ही स्वातन्त्र्य है। न कि कर्मादि की अनपेक्षिता ॥१५॥

तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः ।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाद्यैर्मस्तकादिमत् ॥ १६ ॥
मस्तकाननहृद्गुह्यपादमीशानतः क्रमात् ।
सद्योजातान्तमन्त्रैः स्याद्वपुरन्यदुपास्तये ॥ १७ ॥

ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात ये क्रमशः 'ईशानः सर्वविद्यानां' इत्यादि पञ्चमन्त्रस्वरूप हैं, मस्तक, मुख, हृदय, गुह्य और पादरूपी महेश्वरावयव हैं। यह मन्त्रशरीर हुआ। अन्यशरीर उपासनार्थ है ॥१६-१७॥

सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः ।
पञ्चकृत्यमिदं प्रोक्तमीशानादिक्रमेण हि ॥ १८ ॥

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह ये पांच कृत्य हैं, इन्हें ईशानादि के कृत्य समझना ॥१८॥

विद्या क्रिया च योगश्च चर्या चेति चतुष्टयम् ।
समाश्रितानसौ पाति ततः पशुपतिर्मतः ॥ १९ ॥

विद्या, क्रिया, योग और चर्या इन चार साधन वालों की वे रक्षा करते हैं अतः पशुपति कहलाये ॥१९॥

दीयते यत्र विद्यादिः क्षीयते च मलादिकम् ।
सा दीक्षा मन्त्रमन्त्रेशप्रभृतिज्ञानदायिनी ॥ २० ॥

दीक्षा से मन्त्र एवं मन्त्रेश्वरादि का ज्ञान (विद्या) होता है। दी = विद्याददायी। क्षा = मलादिक्षयकारक ॥२०॥

विद्यामन्त्रादिविज्ञानं शिवसाक्षात्कृतिस्तथा ।
आद्याऽपरा परा चान्त्या सैव मुख्या सतां मता ॥ २१ ॥

मन्त्रादि ज्ञान तथा शिवसाक्षात्कार दोनों ही विद्या है। प्रथम अपर विद्या है, द्वितीय पराविद्या है। द्वितीय ही मुख्य है ॥२१॥

साङ्गपूजादिकविधिः क्रिया विद्याप्रयोजिका ।
प्राणायामादयो योगाः क्रियासिद्धिप्रयोजकाः ॥ २२ ॥

सांग पूजादि को क्रिया कहते हैं, वह विद्या का कारण है। क्रिया-सिद्धि का कारण प्राणायामादि योग कहलाता है ॥२२॥

विहिताचरणं चैव निषिद्धपरिवर्जनम् ।
चर्येति गदितं विद्या-क्रिया-योगोपकारिका ॥ २३ ॥

विहितकरण और निषिद्धत्याग ही चर्या कहलाती है। यह विद्या, क्रिया, योग इन पूर्वोक्त तीनों की उपकारिका है ॥२३॥

एतैश्च साधनैर्युक्तो मिथ्याज्ञानादिकं क्रमात् ।
तीर्त्वा पाशांश्च संछिद्य शिवत्वं प्रतिपद्यते ॥ २४ ॥

उक्त साधनों से युक्त होकर मिथ्याज्ञानादि को और पाशों को काटकर साधक शिवत्व को प्राप्त होता है ॥२४॥

सर्वपाशकरोऽप्येव सर्वपापविमोक्षणः ।
तस्मात्पशुपतिर्नाम सर्वशक्तिर्महेश्वरः ॥ २५ ॥

सब पाशों को करते हैं इसलिये पशुपति है। सब पापों से मुक्त कर रक्षा करते हैं इसलिये भी पशुपति हैं। सर्वशक्तिमान् महेश्वर ही वे पशुपति हैं ॥२५॥

धन्यधन्यो ह्ययं कोऽपि महेश्वर इवापरः ।
इति स्तुत्वा पाशुपता गुरुं तेऽनुययुः परम् ॥ २६ ॥

धन्य हो धन्य हो, ये तो दूसरे महेश्वर जैसे सर्वज्ञ हैं, ऐसी स्तुति करते हुए पाशुपत भी आचार्य के पीछे चले ॥२६॥

अथाजग्मुः प्रधावन्तो विविधा वैष्णवा द्रुतम् ।
सर्वज्ञश्चेत्तदा त्वं नः प्रश्नानामुत्तरं वद ॥ २७ ॥

इतने में दौड़ दौड़कर अनेक वैष्णव आये। और बोले कि यदि सर्वज्ञ हो तो हमारे प्र श्नों का उत्तर दो ॥२७॥

पञ्चधावस्थितिं ब्रूहि वौधायनमतेन भोः ! ।
ब्रह्मणोऽवस्थितेश्चापि सप्रयोजनता कथम् ॥ २८ ॥

प्र०—बोधायनानुयायिमतानुसार ब्रह्म का पञ्चधावस्थान और अवस्थान का प्रयोजन कहो ॥२८॥

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः :
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जोवनियामकः ॥ २९ ॥

उ०—कल्याणगुणसंयुत वासुदेव परब्रह्म है। भुवनों का उपादान, कर्त्ता और जीवनियामक है ॥२९॥

प्रकृत्या जगदेतच्च सृजत्यवति हन्ति सः ।
जोवात्मा च जगच्चैव तस्यैके कायमूचिरे ॥ ३० ॥

वासुदेव ही प्रकृति के द्वारा जगत् की सृष्टि स्थिति संहार करते हैं। जीवात्मा और जगत् को कुछ वोधायनानुयायी भगवान् का शरीर मानते हैं ॥३०॥

शरीरं यस्य विज्ञानं विज्ञानं यमयत्यसौ ।
अन्तर्यास्येष चात्मा त इत्येवं श्रुतिषु श्रुतः ॥ ३१ ॥

'यस्यात्मा शरीरं' इत्यादि अन्तर्यामीश्रुति से यह सिद्ध है ॥३१॥

स चार्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिभेदतः ।
पञ्चधावस्थितो नानाफलदो भक्तवत्सलः ॥ ३२ ॥

वे ही अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी रूप से नानफल देते हुए भक्तवत्सल पञ्चधा अवस्थित हैं ॥३२॥

अर्चावतारः कथितः प्रतिमादिः कृपानिधेः ।
अज्ञोऽपि यमुपास्योपचारैः सिद्धिं व्रजेत्क्रमात् ॥ ३३ ॥

प्रतिष्ठित प्रतिमादि अर्चावतार है। जिसकी पूजादि से अज्ञानी भी क्रमात् सिद्धि प्राप्त करता है ॥३३॥

रामादयश्च विभवावताराः परिकीर्त्तिताः ।
अर्चार्चनाप्तसामर्थ्या जप्त्वा तान् सिद्धिमाप्नुयुः॥ ३४ ॥

रामकृष्णादि विभवावतार है। मूर्तिपूजनादि से सामर्थ्य प्राप्त कर रामादि का जप करें तो सिद्धि मिलती है ॥३४॥

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नोऽप्यनिरुद्धकः ।
व्यूहश्चतुर्विधः पूजा मण्डले तस्य सिद्धिदा ॥ ३५ ॥

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध यह चतुर्व्यूह है। इनकी मण्डल में पूजा सिद्धिदायिनी है ॥३५॥

अर्चोपासनया नष्टे कल्मषेऽधिकृतो भवेत् ।
विभवोपासने पश्चाद् व्यूहोपास्तौ ततः परम् ॥ ३६ ॥

अर्चोपासना से पापनाश होने पर विभवोपासना में सच्चा अधिकार होता है। विभवोपासना से व्यूहोपासना में ॥३६॥

संपूर्णषड्गुणं सूक्ष्ममुपास्यं ब्रह्म तद्धृदि ।
ततोऽधिकारी भवति ह्यन्तर्यामिणमीक्षितुम् ॥ ३७ ॥

ज्ञानैश्वर्यादि सम्पूर्णषड्गुण :वाला सूक्ष्म ब्रह्म है। उसकी हृदय में उपासना करें। तब अन्तर्यामी को देखने के अधिकारी बनते हैं ॥३७॥

तस्य पञ्चविधोपास्तिस्तत्राभिगमनं ततः ।
उपादानं ततश्चेज्या स्वाध्यायो योग एव च ॥ ३८ ॥

अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग से पांच प्रकार की उपासना है ॥३८॥

संमार्जनोपलेपादि तत्राभिगमनाभिधम् ।
उपादानं गन्धपुष्पपूजासंभारसंभृतिः ॥ ३९ ॥
इज्या तु देवपूजैव स्वाध्यायोऽर्थपुरःसरः ।
मन्त्रजापः स्तोत्रपाठः कीर्त्तनं शास्त्रचिन्तनम् ॥ ४० ॥
योगस्तु वासुदेवानुसन्धानं ध्यानलक्षणम् ।
कर्मोपास्तिसमुच्चित्या विज्ञानं जायते परम् ॥ ४१ ॥

(१) अभिगमन = संमार्जन लेपनादि। (२) उपादान = गन्धपुष्पादि पूजा सामग्री लाना। (३) इज्या = देवपूजा (४) स्वाध्याय = जप, स्तुति, कीर्त्तन और शास्त्र चिन्तन (५) योग = ध्यान वासुदेवानुसंधान। कर्म और उपासना के समुच्चय से विज्ञान होता है ॥३९-४१॥

भक्तिर्नाम च विज्ञानविशेषो वृत्तिकृन्मतः ।
तत्प्राप्तिसाधनत्वेन विवेकादिश्च भाषितः ॥ ४२ ॥

वृत्तिकार बोधायन विज्ञानविशेष को ही भक्ति मानते हैं। उसके साधन विवेकादि हैं ॥४२॥

विवेकश्च विमोकश्चाप्यभ्यासश्च क्रियापि च ।
कल्याणं नावसादश्चानुद्धर्षश्चेति सप्त ते ॥ ४३ ॥

विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, अनवसाद अनुद्धर्ष ये छः कल्याण के कारण हैं सातवाँ कल्याण कार्य है ॥४३॥

विवेकः सत्त्वशुद्धिः स्यात्तदाहारादिशुद्धितः ।
विमोकः कामहृत् 'शान्त उपासीते'ति च श्रुतेः ॥ ४४ ॥
मुहुःशीलनमभ्यासः 'सदा तद्भावभावितः' ।
'क्रियावानेष च ब्रह्मविदां' श्रौतादिकक्रिया ॥ ४५ ॥
'सत्येनलभ्यस्तपसा' कल्याणानि जगौ श्रुतिः ।
बलहीनेन नो लभ्योऽनवसादस्त्वदीनता ॥ ४६ ॥
अनुद्धर्षो भवेत्तुष्टिः 'शान्तो दान्त' इति श्रुतेः ।
विज्ञानात्पुनरावृत्तिरहितं वैष्णवं पदम् ॥ ४७ ॥

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" इस श्रुति में कथित सत्त्वशुद्धि विवेक है। "तज्जलानिति शान्त उपासीत" यह कामहारी विमोक है। 'यं यं वापि' 'सदा तद्भावभावितः' यह अभ्यास है। श्रौत स्मार्त्त क्रिया है। सत्य तप आदि कल्याण है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" से जो अदीनता बतायी वह अनवसाद है। 'शान्तो दान्त' इत्यादि श्रुत्युक्त तुष्टि अनुद्धर्ष है। इनसे विज्ञान की और उससे वैष्णव पद की प्राप्ति होती है ॥४४-४७॥

धन्यो नारायणसमः संश्रयामो भवत्पदम् ।
इति बौधायनीयेषु नारदीया इदं जगुः ॥ ४८ ॥

धन्य हैं, आप नारयण समान हैं, आपके चरणों के हम दास हैं, यूं वोधयानानुयायी बोल रहे थे, इतने में नारदीयानुयायी बोले ॥४८॥

भक्ति व्याख्याहि तत्त्वेन यदि त्वं सर्वविन्मतः ।
तत्प्राप्यं च परं ब्रह्म कीदृगित्युपवर्णय ॥ ४९ ॥

आप यदि सर्वज्ञ हैं तो भक्ति की व्याख्या कीजिये। भक्तिप्राप्य परब्रह्म का स्वरूप भी बताईये ॥४९॥

साध्यसाधनभेदेन भक्तिर्हि द्विविधा मता ।
साधनं च त्रिधा नामसेवाभावविभेदतः ॥ ५० ॥

भक्ति दो प्रकार की होती है। साध्य भक्ति और साधन भक्ति। साधन भक्ति तीन है—नामभक्ति सेवाभक्ति और भावभक्ति ॥५०॥

श्रवणं कीर्त्तनं चैव नाम्नां स्मरणमेव च ।
नामापराधरहितं नामभक्तिरुदीरिता ॥ ५१ ॥

श्रपण, कीर्त्तन ओर नामस्मरण जो नामापराधरहित है, नामभक्ति ।५१

सेवापराधरहितं पादसेवनमर्चनम् ।
वन्दनं चेति हि त्रेधा सेवाभक्तिरुदीरिता ॥ ५२ ॥

सेवापराध के विना पादसेवन, अर्चन और वन्दन सेवाभक्ति है ॥५२॥

दास्यसख्यादिकं भावभक्तिर्यत्रेदमीर्यते ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ ५३ ॥

दास्य सख्य-आत्मनिवेदनादि (यहाँ वातसल्यादि भी ग्राह्य है) भावभक्ति हे। 'सर्वभावेन' इस गीताशब्द में यही बताया है ॥५३॥

अयं च परमो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता या प्रोक्ता साध्यलक्षणा ॥ ५४ ॥

श्रवणादि परमधर्म है, क्योंकि उससे भगवान् में साध्यलक्षण परमभक्ति होती है ॥५४॥

यः पुनर्यागदानादिः स्वर्गादिफलदायकः ।
अधर्मतुल्य एवासौ श्रम एव हि केवलम् ॥ ५५ ॥

यागदानादि जो स्वर्गदायक हैं, लोग धर्म उनको कहते हैं। पर वे अधर्म तुल्य ही हैं। श्रममात्र है। क्योंकि फिर भी संसार में आना ही है ॥५५॥

प्रकाशस्तु स हि प्रोक्तो यो ह्यन्धतमसापहः ।
धर्मश्च परमः स स्याद्योऽधर्मदुरितापहः ॥ ५६ ॥

प्रकाश वही है जो अन्धकार को हटावे। धर्म वही है जो अधर्म को मिटावे ॥५६॥

अजामिलो महापापी श्रुतिस्मृत्यनुसारतः ।
यमदूतैर्विनिर्दिष्टो धर्मलक्षणहानतः ॥ ५७ ॥
नामाभासोऽपि भगवत्सम्बन्धाद्धर्मभावभाक् ।
इत्यतो विष्णुदूतैश्च धार्मिकत्वेन दर्शितः ॥ ५८ ॥

यमदूतों ने श्रुतिस्मृत्यनुसार, धर्मलक्षण न होने से अजामिल को पापी बताया। नामाभास में भी भगवत्सम्बन्ध होने से विष्णुदूतों ने धार्मिक सिद्ध किया ॥५७-५८॥

एवं साधनभक्त्या च साध्यभक्तिः प्रजायते ।
भक्त्या संजातया भक्त्येत्येवंवचनदर्शनात् ॥ ५९ ॥

साधन भक्ति से साध्य भक्ति होती है। अतएव "भक्त्या संजातया भक्त्या" यह वचन उपपन्न है ॥५९॥

साध्यभक्तिर्निगदिता परमप्रेमलक्षणा ।
तदधीनो हरिः प्रोक्तः परो भक्तिवशः पुमान् ॥ ६० ॥

साध्यभक्ति परम प्रेम ही है। हरि तदधीन है ॥६०॥

चित्तवृत्तेरधीनत्वं मायाधीनत्वमेव च ।
न युज्यते भगवतो नियन्ता हि हरिर्यतः ॥ ६१ ॥

भक्ति चित्तवृत्ति या मायावृत्ति नहीं है । उसके अधीन नियामक हरि कैसे हो सकते हैं ॥६१॥

तस्मादाह्लादिनी शक्तिर्यद्वा तत्त्वान्तरं हि तत् ।
हरेरभिन्नरूपैव साऽऽनन्दरसलक्षणा ॥ ६२ ॥

इसलिये भक्ति भगवान की आह्लादिनी शक्ति या तत्त्वान्तर है । वह हरि से अभिन्न रसरूप हैं । परमानन्दस्वरूप है ॥६२॥

गुणकामविहीनं च प्रतिक्षणविवर्धनम् ।
अविच्छिन्नं परं सूक्ष्मं प्रेमानुभवलक्षणम् ॥ ६३ ॥

गुणरहित, कामना रहित, प्रतिक्षण वर्धमान, अविछिन्न, सूक्ष्मतर, अनुभवरूप वह भक्ति है ॥६३॥

तदेव परमं ब्रह्म परमप्रेमलक्षणम् ।
प्रेमैव प्रेमसंप्राप्यं स्वयंफलविधं यतः ॥ ६४ ॥

यह परमप्रेम ही परमब्रह्म है । प्रेम ही प्रेम से प्राप्य है । वह स्वयंफलस्वरूप है ॥६४॥

तदेव समभिव्यक्तं लीलाविग्रहसुन्दरम् ।
राधामाधवभावेन भक्तैरभिसमीक्ष्यते ॥ ६५ ॥

उस भक्ति का ही अभिव्यक्तरूप लीलाविग्रह प्रेममूर्ति राधामाधव है ॥६५॥

मायिकेन हि रूपेण ब्रह्म हर्यादिरूपभाक् ।
कज्जलीयस्वरागेण चित्रं भित्तौ त्रयीविदः ॥ ६६ ॥
हर्याद्याकारतः स्पष्टं मध्यकृत्ते हि वाससि ।
हर्याद्याकारगगनं तद्वद् ब्रह्मेति भक्तिगाः ॥ ६७ ॥

भित्ति पर स्याही से जैसे रूप बनाया जाता है वैसे ब्रह्मरूपी भित्तिपर मायारूपी स्याही से हरि आदि का रूप लिखा जाता है ऐसा वेदान्ती मानते हैं । भक्त कहते हैं कि ऐसा नहीं । एक माया का बड़ा परदा है । कृष्ण के आकार में परदे को बीच में से काट निकाला तो जैसे साधारण परदे के उस

अंश से आकाश कृष्णाकार दीखता है वैसे ब्रह्म कृष्णाकार दीखता है ॥६७॥

जगदेतत्त्वविकृतपरिणामः परात्मनः ।
मायावृतत्वान्नो भाति हरिरूपेण दुर्धियाम् ॥ ६८ ॥

जगत् हरि का अविकृत परिणाम हैं। माया से आवृत होने के कारण हरिरूप से भासित नहीं होता ॥६८॥

प्रेमाञ्जनाञ्जितदृशां धूतमायावृतीक्षिणाम् ।
प्रेमरूपं परं ब्रह्म सर्वं वस्तूपलक्ष्यते ॥ ६९ ॥

प्रेमाञ्जन से अञ्जित नेत्रवालों को, जिनका मायावरण निकल गया सारा जगत् प्रेमरूप ब्रह्म ही दीखता है ॥६९॥

न मोक्षः पुरुषार्थस्तु भक्तिरेव तथाविधा ।
मुक्तिं ददाम्यहं नृभ्यो न भक्तिमिति चेश्वरः ॥ ७० ॥

मोक्ष पुरुषार्थ नहीं किन्तु भक्ति ही पुरुषार्थ है। अत एव भगवान ने कहा—मैं मुक्ति दे दूँ पर भक्ति-जल्दी नहीं देता ॥७०॥

न मोक्षस्याभिकाङ्क्षा मे न वा विभववाञ्छिता ।
इत्यादिभिर्मया चोक्तं मुक्त्यादेरपुमार्थता ॥ ७१ ॥

देवी स्तुति में मैं भी कह गया था कि मुझे मोक्षेच्छा नहीं संसार वैभवेच्छा नहीं इत्यादि—'न मोक्षस्याकाङ्क्षा' ॥७१॥

अहो महान् कोऽपि नु पार्षदो वा
स्वयं हरिर्वा पुरतः स्थितोऽयम् ।
योऽस्माभिरज्ञातचरं रहस्यं
जगाद तं वै शरणं प्रपन्नाः ॥ ७२ ॥

अहो ! ये महापुरुष कौन हैं ? कोई हरि के पार्षद तो नहीं या स्वयं हरि ही तो नहीं। जो हम लोगों के लिए अज्ञातचर रहस्य भी बता रहे हैं। हम इनके शरणागत हैं ॥७२॥

शङ्कराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
द्वाविंशो निरगात्सर्गो भक्तसिद्धान्तसंभृतः ॥ २२ ॥



त्रयोविंशः सर्गः

निरस्ता अपि पूर्वं ये जैनबौद्धादयो बुधाः ।
विदितार्थो न वेत्त्येवं पप्रच्छुस्तेऽपि वेदितुम् ॥ १ ॥

पूर्वनिरस्त जैन बौद्धादि ने भी आकर यह जानने के लिए कि क्या इन्होंने जानकर हमारा निरास किया या प्रौढता मात्र से, पूछा ॥१॥

तत्र बौद्धो जगादेदमस्मन्मतचतुष्टयम् ।
स्वसिद्धान्तात्पृथक्कृत्य ब्रूहि नः सर्वविद्यदि ॥ २ ॥

बौद्ध ने कहा हमारे मतचतुष्टय को अपने सिद्धान्त से पृथक् करके बताओ, यदि सर्वज्ञ हो ॥२॥

उच्यते क्षणिकं वैभाषिकसौत्रान्तिकैर्जगत् ।
आद्ये प्रत्यक्षमन्त्ये चानुमेयमिति तद्भिदा ॥ ३ ॥

आचार्य:—वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दोनों के मत में जगत् क्षणिक है। वैभाषिक मत में जगत् प्रत्यक्ष है। सौत्रान्तिक मत में ज्ञान से अनुमेय है ॥३॥

यदि नास्ति कथं ज्ञानं वस्तुनः संवदद् भवेत् ।
अतोऽस्ति वस्त्विति दृढमनुमानं वदन्ति ते ॥ ४ ॥

वस्तु न हो तो संवादिज्ञान नहीं होना चाहिए। अतः वस्तु का अस्तित्व मानना चाहिए ऐसा उनका कहना है ॥४॥

योगाचारो न बाह्यार्थसत्तां खल्वनुमन्यते ।
स तु क्षणिकविज्ञानसंततिं जगदाकृतिम् ॥ ५ ॥

योगाचार बाह्यार्थ सत्ता को नहीं मानता। वह विज्ञानसंतति का आकार ही जगत् को मानता है ॥५॥

विनाऽप्यर्थं यथा स्वप्ने विज्ञानाकारमात्रतः ।
अर्थप्रतीतिर्भवति तथा जाग्रत्यपीति ते ॥ ६ ॥

अर्थ के विना ही सपने में अर्थाकार ज्ञानमात्र से अर्थप्रतीति होती है। जाग्रत् में भी वैसा ही है यह उनका कहना है ॥६॥

वेदान्ते विद्यते सत्ता स्वप्नेऽपि प्रातिभासिकी ।
जाग्रदर्थेऽभ्युपेतं च सत्त्वं सांव्यवहारिकम् ।। ७ ।।

वेदान्त मत में स्वाप्निक अर्थों में भी प्रतिभासिक सत्ता है। जाग्रत के अर्थो में व्यावहारिक सत्ता है ।।७।।

किं चात्मा नित्यविज्ञानं वेदान्तेषु निरूपितम् ।
सर्वानुस्यूतरूपेण सर्वदा भानदर्शनात् ।। ८ ।।

वेदान्त में यह भी फरक है कि आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं किन्तु नित्य विज्ञान है। घट को जानता हूँ, पट को जानता हूँ, कल जाना, कल जानूँगा इत्यादि सर्व प्रतीति में अनुगत एक ही ज्ञान है। अतएव वह नित्य और व्यापक है ।।८।।

शून्यं माध्यमिकाः प्राहुरसद् ध्वंसादिलक्षणम् ।
पूर्णं वेदान्तिनः प्राहुः सदनन्तमनादि च ।। ९ ।।

माध्यमिक बौद्ध शून्य को कारण मानते हैं वह असत् है। बीजध्वंस जगद्ध्वंसादि उसका स्वरूप है। वेदान्ती शून्य के बदले पूर्ण मानते हैं। असत् के बदले सत् मानते हैं। ध्वंसादि के बदले अनाद्यनन्त मानते हैं ।।९।।

नासन्न सन्न सदसन्नानिर्वाच्यमसत्पदम् ।
किन्तु पञ्चममेवेति केचिदत्र प्रचक्षते ।। १० ।।

दिङ्नागदि का कहना है कि असत्पदार्थ असत् नहीं, सत् नहीं, सद-सत् नही, अनिर्वचनीय भी नहीं किन्तु पञ्चम प्रकार है ।।१०।।

स्यादविद्यानिवृत्तिस्तु तादृशी यद्यपीह नः ।
तथाप्यपुरुषार्थत्वादानन्दं ब्रह्म नः पृथक् ।। ११ ।।

यद्यपि वेदान्तमत में अविद्यानिवृत्ति को पंचम प्रकार माना जा सकता है। फिर भी वह ध्वंस के समकक्ष ही है। अतः पुरुषार्थरूप नहीं। उससे पृथक् ही आनन्द लक्षण ब्रह्म पुरुषार्थ है ।।११।।

शून्यतापादनं हिंसा पुमर्थः स कथं भवेत् ।
वर्णाश्रमसमाचारः कीदृशो बुद्धसंमतः ।। १२ ।।

बौद्ध—यह बताईये कि शून्यतापादन हिंसा है। वह पुरुषार्थ किस प्रकार ? वर्णाश्रम के बारे में बुद्ध की क्या मान्यता है ? ।।१२।।

हिंसा प्राणवियोगः स्यान्नात्मध्वंसस्तथाविधः ।
दुःखध्वंसं हि वाञ्छन्ति सर्वोऽप्येव विवेकिनः ॥ १३ ॥

प्राण वियोजन ही हिंसा है, आत्मध्वंस नहीं। अतएव शून्यतापादन हिंसा नहीं। दुःखध्वंस को सभी पुरुषार्थ मानते हैं। आत्मध्वंस से दुःखध्वंस अवश्यंभावी है ॥१३॥

यद्वर्णव्यञ्जको धर्मो यत्र तद्वर्ण एव सः ।
इति बुद्धः पुरा प्राह न जात्या ब्राह्मणादयः ॥ १४ ॥

जिसमें जिस वर्ण के अभिव्यञ्जक धर्म दीखे वह उसी वर्ण का है ऐसा बुद्ध ने कहा। जन्मतः ब्राह्मणादि नहीं ॥१४॥

ननु स्वतो भवेच्छून्यं विश्वध्वंसात्मकं खलु ।
किमर्थं विबुधो बुद्धं शरणं गच्छतीति चेत् ॥ १५ ॥

बौद्धः—विश्वध्वंसरूपी शून्यता स्वतः हो जाएगी। तदर्थ 'बुद्धं शरणं गच्छामि' क्यों ? ॥१५॥

हिंसानिवृत्तये तद्धि हिंसा दुःखस्य कारणम् ।
इह शान्तिरहिंसातः शून्यमार्गस्य च स्थितिः ॥ १६ ॥

आ०—बुद्धशरणागति हिंसानिवृत्ति के लिए है। क्योंकि हिंसा से जगत् को दुःख होता हैं। अहिंसा से सब को शान्ति मिलती है। और शून्यामार्गस्थिति वही है। अर्थात् शून्य होने पर जो स्थिति है वही लगभग अहिंसा से भी है ॥१६॥

एवं श्रुत्वातिसंतुष्टो बौद्धोऽभून्नतमस्तकः ।
जैनोऽपि कुतुकात्पूर्वनिरस्तोऽप्यब्रवीदिदम् ॥ १७ ॥

यह सुन कर बौद्ध संतुष्ट हुआ। यद्यपि जैन भी पूर्व निरस्त था फिर भी कुतूहलता से पूछा ॥१७॥

प्रश्नमेकं तु पृच्छामि ज्ञात्वाज्ञात्वाथवा मतम् ।
निरस्तम्मे विजिज्ञासे कोऽस्तिकायो निगद्यताम् ॥ १८ ॥

एक प्रश्न में पूछूँगा। क्योंकि आपने मेरा मत जानकर खण्डन किया या यूंही प्रतिभामात्र से यह मैं जानना चाहता हूँ। तो बताइये—'अस्ति-काय' किस को कहते हैं ? ॥१८॥

उच्यते सत्त्वतोऽस्तीति विस्तरात्काय इत्यपि ।
जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशेषु प्रयुज्यते ।। १९ ।।

आचार्य :—अस्तिकाय में सत्ता है इसलिये अस्ति कहते हैं । विस्तार होने से काय कहते हैं । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥१९॥

अहो नमोऽरिहन्ताणं सर्ववित् खल्वसौ पुमान् ।
इमं सकलविद्यास्थं कः समर्थः परीक्षितुम् ।। २० ।।

नमो अरिहन्ताणं नमो अरिहन्ताणं । आश्चार्य आश्चर्य । सच में यह सर्वज्ञ है । इनकी परीक्षा कौन कर सकता है ॥२०॥

इत्थं सर्वेषु विद्वत्सु प्रेम्णा प्रणतमूर्धसु ।
मीमांसकोऽभ्युपेत्याह वेदव्याख्यानकोविदः ।। २१ ।।

इस प्रकार सभी विद्वान नतमस्तक हो चुके थे । तब अन्त में मीमांसक आ गया ॥२१॥

नूनं सर्वज्ञकल्पोऽसि सर्वशास्त्रविशारदः ।
किन्तु वेदानभिज्ञत्वे सर्वज्ञत्वं न कल्पते ।। २२ ।।

आप लगभग सर्वज्ञ हैं । क्योंकि सर्वशास्त्रवेत्ता हैं । परन्तु वेदानभिज्ञ सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता ॥२२॥

व्याख्यायोत्तरमीमांसां वेदज्ञत्वं च दर्शितम् ।
तथापि पूर्वकाण्डस्थं किंचित्पृच्छामि तद्वद ।। २३ ।।

यद्यपि उत्तरमीमांसा की व्याख्या कर वेदज्ञता भी प्रदर्शित की है । क्योंकि पूर्व मीमांसान्याय उत्तरमीमांसा में भी समान है । फिर भी पूर्व-मीमांसा के बारे में कुछ पूछता हूँ ॥२३॥

इदं तावत्प्रतिब्रूहि जैमिनीयमतं यथा ।
शब्दो हि कतमः कीदृग्द्रव्यकर्मगुणादिषु ।। २४ ।।

जैमिनीयमतानुसार यह बताइये कि द्रव्यगुणकर्मादि में शब्द कौन है और कैसा है ॥२४॥

उच्यते सर्वगान् वर्णान् नित्याञ्जैमिनिरब्रवीत् ।
द्रव्यरूपानिमान् विद्धि गुणाद्यव्यापकं यतः ।। २५ ।।

उत्तर :—जैमिनि ने वर्णों को व्यापक और नित्य बताया। उच्चारण से तत्तत्स्थानों में अभिव्यक्ति मात्र होती है। अर्थात् पूर्वमेव तत्तत्स्थानों में विद्यमान है। तभी तो अभिव्यक्ति होगी। नित्य और व्यापक होने से गुण या कर्म नहीं हो सकता, किन्तु द्रव्य ही हो सकता है। अतः वह द्रव्य है ॥२५॥

नन्वाकाशात्मके द्रव्ये व्यापके व्यापको गुणः।
शब्द इत्येव किं न स्यात्कुतोऽयं द्रव्यमुच्यताम् ॥ २६ ॥

पूर्व :—आकाशरूपी व्यापक द्रव्य में व्यापक शब्द गुण मानने में क्या हानि ? ॥२६॥

शब्दाश्रयतया सिद्ध्यन्नाकाशो लाघवात् पुनः।
शब्दत्वेनैव संसिद्ध्येत् पार्थक्ये हेत्वभावतः ॥ २७ ॥

उत्तर :—आकाश स्वतः प्रत्यक्ष नहीं है। शब्दाश्रयत्वेन उस की सिद्धि होती है। तब लाघवात् शब्दाश्रय न मानकर शब्दरूप ही माना जायेगा। शब्द और आकाश में पार्थक्य सिद्ध करने वाला कोई हेतु नहीं है ॥२७॥

यस्य मीमांसकवरः शिष्यत्वं प्राप मण्डनः।
प्रष्टव्यं नापरं किंचित्तत्र सर्वजगद्गुरौ ॥ २८ ॥
शंकराय नमो लोकशंकराय महात्मने।
गुरवे संनतजगद्गुरवेऽस्तु नमो नमः ॥ २९ ॥

मीमांसकवर मण्डन जिन के शिष्य हैं उन सर्वजगद्गुरु के सामने मीमांसा के बारे में भला क्या पूछना है ? कुछ भी नहीं। ऐसे लोककल्याणकारी शंकर को हमारा बार बार प्रणाम है। समुपागत जगत् के गुरु श्रीगुरु को हमारा बार बार प्रणाम है ॥२८-२९॥

इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु ते ते लब्धसमाधयः।
षण्मतस्थापकं प्राहुराचार्यं सर्ववेदिनम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार समस्त शास्त्रों में नैयायिक वैशेषिकादिने समाधान पाया तो सबने मिलकर कहा कि आचार्य षण्मतस्थापक हैं, सर्ववेत्ता हैं ॥३०॥

श्रद्धासमन्विताः सर्वेऽप्यनुगम्य मनीषिणः।
पीठद्वारं समुद्घाट्य देशिकायाददुः ॥ ३१ ॥

तथा सभी मनीषियों ने श्रद्धासमन्वित होकर आचार्यजी का अनुगमन किया तथा उनको सर्वज्ञपीठ का दक्षिण द्वार खोलकर दिया ॥३१॥

अथ पद्मपदस्कन्धमवलम्ब्य च देशिकः ।
यदाऽऽरुरुक्षति गिरा गिरां देव्यास्तदाऽभवत् ॥ ३२ ॥

अनन्तर पद्मपाद का स्कन्धावलम्बन कर ज्यों ही पीठारोहण करने लगे त्यों ही वाणी देवी की आवाज हुई ॥३२॥

विधिरूपान्तरं जित्वा मण्डनं साधितं पुरा ।
सार्वज्ञं तावता किं ते नैर्मल्यं चास्त्यपेक्षतम् ॥ ३३ ॥

आपने ब्रह्मा के रूपान्तर (अवतार) मंडन को जीत कर पहले ही सर्वज्ञता सिद्ध कर दी है। परन्तु उससे क्या होगा। सर्वज्ञता के साथ निर्मलता भी चाहिए ॥३३॥

पुरा कामकलाः शिक्षन्नैर्मल्यं जहिथ स्वयम् ।
यतिधर्मस्थितः, स त्वां पीठारोहार्ह्यहो कथम् ॥ ३४ ॥

यतिधर्म में स्थित होकर पहले कामकला शिक्षण में स्वयमेव अपनी निर्मलता को छोड़ दिया। अव पीठारोहणयोग्य कैसे हो ? ॥३४॥

मैवं देहान्तरेणैव शिक्षिता न त्वनेन ताः ।
भवान्तरगृही किं नु यतिर्नैर्मल्यवर्जितः ॥ ३५ ॥

आचार्यः—निर्मलता छोड़ी ऐसी बात नहीं है। क्योंकि शरीरान्तर से कामकला शिक्षण हुआ। न कि इस शरीर से। वैसे तो पूर्व पूर्वतरादि जन्मीय शरीरों में सभी गृही हुए हैं। फिर इस शरीर में यति होने पर क्या निर्मलता रहित होता है ? ॥३५॥

निरुत्तरायां भारत्यां शंकरोऽमितबोधभूः ।
सर्वज्ञपीठं विमलमारुरोह जगद्गुरुः ॥ ३६ ॥

स्वयं सरस्वती निरुत्तर हुई तव अपरिमित ज्ञानसागर भगवत्पाद शंकर सर्वज्ञपीठारोहण कर जगद्गुरु हुए ॥३६॥

विजयावेदनो भेरीध्वनिर्दिविषदध्वनि ।
सुमहानभवत्तर्हि योऽरुन्ध जगदन्तरम् ॥ ३७ ॥

विजयावेदी भेरीध्वनि उस समय आकाश में महान् हुई, जिसने चारों दिशाओं को वधिर वना दिया ॥३७॥

न नैजमानहेतोर्नाप्यात्मगौरवकारणात् ।
स्वमतोत्कर्षसिद्धयर्थं देशिकः पीठमारुहत् ॥ ३८ ॥

अपने मान की इच्छा से नहीं, अपने गौरव को बढ़ाने के लिए भी नहीं, किन्तु वेदान्तसिद्धातरूपी स्वमत के उत्कर्षार्थ (जिससे सभी उसका ग्रहण करें) आचार्य ने पीठारोहण किया ॥३८॥

पपात सुमनोवृष्टिः सुरभिर्गगनान्मुहुः ।
सर्वे प्रमुदिता लोकाः शमं कमपि लेभिरे ॥ ३९ ॥

ऊपर से बार बार सुरभि पुष्पवृष्टि हुई। सभी लोग प्रसन्न हुए और किसी अलौकिक शम (शान्ति) का अनुभव करने लगे ॥३९॥

संस्थाप्य हस्तामलकं पद्मपादं सुरेश्वरम् ।
त्रोटकं च मठे प्रत्यक्प्रागवागुदगाश्रिते ॥ ४० ॥
अग्निमावाह्य चाषाढानानन्दानटलान् गुरुः ।
जूर्णान्निरञ्जनांश्चैव निर्वाणांश्च व्यतिष्ठिपत् ॥ ४१ ॥

इसके बाद आचार्य ने क्रमशः पश्चिम में हस्तामलक को पूर्व में पद्मपाद को दक्षिण में सुरेश्वर को और उत्तर में तोटक को शारदादि मठों में आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। और अग्नि अखाड़ा, आवाहन अखाड़ा, आनन्द अखाड़ा और अटल अखाड़े के सहित जूना अखाड़ा, निरञ्जनो अखाड़ा और निर्वाणी अखाड़ा, को प्रतिष्ठापित किया [द्रष्टव्यः—'अषाढ' शब्द का सायणाचार्य ने वेद भाष्य में असोढ—अपरिभूत अर्थ किया है। अषाढ शब्द का ही अपभ्रंश अखाड़ा है। 'ष' को ख उच्चारण आमतौर पर होता आया भी है। आजकल भी अखाड़ा उसी को कहते हैं जहाँ सीखने वाले परिभूत नहीं होते। धीरे धीरे युद्ध के अखाड़ों में भी वह रूढ़ हो गया। अषाढ़ शब्द का पाणिनीय काल में महात्मा अर्थ ही प्रायः था। 'विशाखाषाढान्मन्थदण्डयोः' ऐसा पाणिनीय सूत्र है। अषाढः प्रयोजनमस्य आषाढो दण्डः' ऐसा सूत्रोदाहरण है। दण्ड का प्रयोजन अषाढ़ है। संन्यासी दण्डधारण इसडिए करते थे कि गांवों में कुत्ता आदि से परिभव न हो। दण्डप्रयुक्तरक्षावाले दण्डी कहलाते हैं। और दण्ड के विना स्वयमेव जो रक्षित हैं वे अषाढ़ कहलाते हैं। धीरे धीरे वही शब्द मठ विशेषों का नाम हो गया जो आज अखाड़ा शब्द से प्रसिद्ध है। अन्य अखाड़ों के नाम तो ठीक ही है।

परंतु जूना अखाड़े का पूर्व नाम जूर्ण ही था। जूर्ण का अर्थ वेदभाष्यों में सायण ने पुरातन और जीर्ण किया है। यद्यपि यह वैदिक प्रयोग है। तथापि 'जूना' यह अपभ्रंश शब्द जूर्ण के पूर्व प्रचलित प्रयोग का ही परिणाम माना जाना चाहिये। सबसे पुराना अखाड़ा होने से उसका नाम जूना अखाड़ा पड़ा ऐसी कुछ लोगों की मान्यता है। परन्तु वह यथार्थ नहीं है। मान लिया जाय कि जूना सबसे पुराना है। परन्तु प्रारम्भ करते समय वह जूना नहीं था। तब उसका नाम क्या था? और कुछ लोग यह भी मानते हैं कि आवहृन अटलादि अधिक पुराने हैं। वस्तुतः जूना नये का यहां कोई सवाल ही नहीं है। सभी आचार्य प्रतिष्ठापित हैं। उन्नत्ति अवनति तो आगे पीछे सम्भव है। आचार्य शङ्कर भगवत्पाद प्रतिष्ठापित होने से सुदृढ़तर एक प्रमाण यही है कि अखाड़ों की प्रजातन्त्रीय प्रणाली किसी मामूली दिमाग की उपज नहीं हो सकती। आज के वैज्ञानिक युग की प्रजातन्त्र-प्रणाली आचार्य के दिमाग में आ गयी ऐसी कल्पना अत्यन्त आसान है। क्योंकि उनकी बुद्धिप्रतिभा अलौकिक थी यह निर्विवाद है। और हमारे इस महारूढिवादी समाज में नया कोई परिवर्त्तन मध्ययुग में किसी ने किया हो यह अशक्यकल्पनीय है। महात्माओं के वर्गीकरणानुसार ही ये अखाड़ों के नाम हैं। ब्रह्मचारी अग्निपूजन करते थे अतः उनका अग्नि अखाड़ा हुआ। जो पूजापाठादिपरायण थे वे आवाहन के हुए। जो आनन्द में रहते थे वे आनन्द अखाड़े के हुए। जो अटल दृढ़ प्रतिज्ञ थे वे अटल अखाड़े के हुए। जो जूने पुराणे विचार के या वृद्धादि थे वे जूना अखाड़े के हुए। जो निरञ्जन निर्लेप रहते थे वे निरञ्जन अखाड़े के हुए जो मुक्त जैसे रहते थे वे निर्वाणी अखाड़े के हुए। यद्यपि ये सब निरञ्जन निर्वाण होकर रहते थे ऐसी कोई बात नहीं। क्योंकि प्रजातन्त्रीय प्रणाली का शासन निरञ्जन निर्वाणों का काम नहीं है। तथापि अपना लक्ष्य यह है ऐसी धारणा उनकी रहती थी या रखना चाहिये यही आशय रहा। शुभेच्छादि सात भूमिकाओं के अनुसार भी इन अखाड़ों की रचना है॥ ४१॥

संस्थाप्य धर्मरक्षार्थं तत्तत्स्थानेषु तान् गुरुः।
सार्धं परमहंसैस्तु देशिको बदरीं ययौ॥ ४२॥

विधर्मियों का आक्रमण न हो, धर्म की रक्षा हो, एतदर्थ आचार्य तत्तत्स्थानों में सबको स्थापित कर परमहंसों के साथ बदरीनाथ की ओर

गये [द्रष्टव्यः—यहाँ तीन विभाग प्रतीत होते हैं। शारदादि पीठस्थ मठों में रहने वाला एक वर्ग। अखाड़ों में रहने वाला दूसरा वर्ग और मठादि के बिना रहने वाला तीसरा वर्ग। ये तीन ही दण्डी नागे और परमहंस हुए] ॥ ४२ ॥

तत्रावसत्कतिपयान् दिवसान् शिष्यसंयुतः।
ज्ञानं चोपदिशन्नित्यमसङ्गः कृपया गुरुः ॥ ४३ ॥

बदरीनाथ में शिष्यों के साथ आचार्य ने कुछ दिनों तक ज्ञानोपदेश करते हुए असङ्गभाव से निवास किया ॥ ४३ ॥

भाष्यं कृतं हृदयसंतमसापहारि
ज्ञानं जनेषु विततं भवसिन्धुपोतम्।
धर्मो जगत्स्थितिकरः पुनरुद्धृतश्च
पाखण्डवादिमतखण्डनमप्यकारि ॥ ४४ ॥

हृदयगत-अज्ञानान्धकारविनाशी भाष्य बनाया। संसार सागर पार करने वाले ज्ञानरूपी पोत को लोगों में प्रसारित किया। जगत् की स्थिति के कारण धर्म का पुनरुद्धार किया। और पाखण्डवादियों का मतखण्डन भी किया ॥ ४४ ॥

अथ स भगवान् शिष्यैः सार्धं कृतार्थतया ततो
निरगमदृषिः केदाराख्यं स्थलं निजवल्लभम्।
स्वजनसुखदस्तप्तं कुण्डं प्रवर्त्य महामनाः
द्वयसमधिकत्रिंशद्वर्षावधिं समपूरयत् ॥ ४५ ॥

बदरीनाथ से भगवान् भाष्यकार स्वयं कृतार्थ होने से अपने प्रियस्थान केदार की ओर शिष्यों के साथ चले। महामनस्वी स्वजनसुखकारी आचार्य ने वहाँ तप्तकुण्ड बनवाया। और तब तक उन्होंने अपनी बत्तीस वर्ष की ऊमर भी पूरी कर ली ॥ ४५ ॥

स्फुटः कलकलारवोऽयमभवद् भुवं सद्भुवं
तदावतरतां सतां विधिहरीन्दुनाकौकसाम्।
कृतं विबुधकार्यमीश नियतश्च कालो गतः
सनाथय विभोऽधुना रजतशैलशृङ्गश्रितान् ॥ ४६ ॥

सन्त पुरुषों के उत्पत्तिस्थान पृथिवी पर उतरते हुए ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र चन्द्रादि के कलकल शब्द स्पष्ट सुनाई देने लगे। वे बोल रहे थे—हे प्रभो! देवताओं का कार्य पूरा कर लिया। नियत समय भी पूरा हो गया। हे विभो! अब आप रजताचल कैलास में स्थित स्वजनों को सनाथित कीजिये ॥ ४६ ॥

श्रद्धाभङ्गुरकन्धरैः सुरवरैः संदिश्यमाने तथा
शभौ संभ्रमभाजि नैजपदवीं गन्तुं खमुत्पश्यति ।
नन्दीशः समलंकृतः सहगणैरभ्येत्य तस्थौ क्षणात्
संवर्त्स्यंन्निजनाथपावनपदस्पर्शोद्भवद्वेपथुः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रद्धा से नतमस्तक देवता गणों ने संदेश दिया तो भगवान् शङ्कर ससंभ्रम निजधामगमनार्थ आकाश की ओर देखने लगे। क्षण में ही गणों के साथ अलंकारविभूषित नन्दीश्वर उपस्थित हो गये। उस समय समनन्तरभावी निजनाथ-पावनचरणस्पर्शचिन्तन से नन्दीश्वर के शरीर में रोमांच हो रहा था ॥ ४७ ॥

इन्द्रोपेन्द्रप्रजेशार्यमयममरुदश्वादिभिः स्तूयमानो
दिव्यैरभ्यर्च्यमानः सुरतरुकुसुमैः पार्षदैः सेव्यमानः ।
नन्दिस्कन्धाधिरूढस्त्रिनयनसरणीशूलपुण्ड्रावतंसः
शृण्वन्देवर्ष्युदीर्णं जयजयनिनदं धाम नैजं प्रतस्थे ॥ ४८ ॥

इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, अर्यमा, यम एवं सूर्यादि देवता स्तुति कर रहे थे तथा दिव्य मंदार पुष्पों से अर्चना कर रहे थे। पार्षद सेवा में लगे हुए थे। भगवान् शङ्कर नन्दीश्वर के पृष्ठ पर आरूढ़ हुए हैं। उनके तीन नयन, तीन स्रोत (गङ्गा) तीन शूल (त्रिशूल) तथा तीन पुण्ड्र (त्रिपुण्ड्र) प्रकट रूप से भूषण बन चुके हैं। देवर्षिगण जय जय कार बोल रहे हैं। और शङ्कर भगवान् निजधाम की ओर प्रस्थान कर रहे हैं ॥ ४८ ॥

शङ्कराचार्यचरिते जयमङ्गलगुम्फिते ।
त्रयोविंशो गतो धामारोहणद्वयसंयुतः ॥ २३ ॥

इति श्रीमज्जयमङ्गलाचार्य (महामण्डलेश्वर स्वामीकाशिकानन्दगिरि) विरचितं श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यचरितं संपूर्णम् ।

॥ शुभमस्तु ॥

परिशिष्टं

अथ मठाम्नायोपनिषत्

ॐ ऊर्ध्वाम्नायगुरूपदेशभुवनाकारसिंहासनसिद्धाचारवन्दितं समस्तवेद-वेदान्तसारनिर्माणं परात्परं निरञ्जनज्ञानार्थषट्कचक्रजाग्रतीमयं परावाचा परात्परं सर्वसाक्षिधृतं चिन्मयं ज्योतिर्लिङ्गं निराकारं गलितं पूर्णप्रभाशोभितं शान्तं चन्द्रोदयनिभं भज मनस्तच्छ्रीगुरुचैतन्यं प्रणमामि ॥१॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥२॥

ॐ प्रथमे पश्चिमाम्नायः, शारदामठः, कीटवारिसंप्रदायः, तीर्थाश्रमपदे द्वारकाक्षेत्रं सिद्धेश्वरो देवः, भद्रकाली देवी ब्रह्मस्वरूपाचार्यः, गङ्गागोमती-तीर्थं स्वरूपब्रह्मचारी सामवेदप्रपठनं, 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यविचारः, नित्यानित्यविवेकेनात्मनोपास्तिम्, आत्मतीर्थे आत्मोद्धारार्थे साक्षात्कारार्थे संन्यासग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारायणायेति ॥२॥

ॐ द्वितीये पूर्वाम्नायः, गोवर्धनमठः, भोगवारिसंप्रदायः, वनारण्यपदे, पुरुषोत्तमक्षेत्रं जगन्नाथो देवः, विमला देवी भद्रपद्मपादाचार्यः, महोदधितीर्थं प्रकाशब्रह्मचारी, ऋग्वेदप्रपठनं, 'तमेवैकं जानथ' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यविचारः, नित्यानित्यविवेकेनात्मनोपास्तिम् आत्मतीर्थे आत्मोद्धारार्थे साक्षात्कारार्थे संन्यासग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारायणायेति ॥४॥

ॐ तृतीये उत्तराम्नायः, ज्योर्तिर्मठः, आनन्दवारिसंप्रदायः, गिरिपर्वत-सागरपदानि, बदरिकाश्रमक्षेत्रं, नारायणो देवता, पूर्णागिरी देवी, त्रोटका-चार्यः, अलकनन्दातीर्थम्, आनन्दब्रह्मचारी आथर्वणवेदपठनं 'तमेवैकं जानथ 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिवाक्यविचारः, नित्यानित्यविवेकेनात्मनोपास्तिम्, आत्मतीर्थे आत्मोद्धारार्थे साक्षात्कारार्थे संन्यासग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारामणायेति ॥५॥

ॐ चतुर्थे दक्षिणाम्नायः, शृङ्गेरीमठः, भूरिवारिसंप्रदायः सरस्वती-भारती पुरी चेति पदानि, रामेश्वरक्षेत्रम्, आदिवराहो देवता, कामाक्षी देवी, शृङ्गी ऋषिः, पृथ्वीधराचार्यः, तुङ्गभद्रातीर्थं, चैतन्यब्रह्मचारी, यजु-

वेदप्रपठनं 'तमेवैकं जानथ' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवाक्यविचारः, नित्यानित्य-विवेकेनात्मनोपास्तिम्, आत्मतीर्थे आत्मोद्धारार्थे साक्षात्कारार्थे संन्यास-ग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारायणायेति ॥६॥

ॐ पञ्चमे ऊर्ध्वाम्नायः, सुमेरुमठः, काशीसंप्रदायः जनकयाज्ञवल्क्यादि-शुकवामदेवादिजीवन्मुक्ताः, एतत्सनकसनन्दनकपिलनारदादिब्रह्मनिष्ठाः, नित्यब्रह्मचारी कैलासक्षेत्रं, मानससरोवरतीर्थं, निरञ्जनो देवता, माया देवी ईश्वराचार्यः, अनन्तब्रह्मचारी, शुकदेववामदेवादिजीवन्मुक्तानां सुसंवेदप्रपठनं 'परोरजसेसावदों' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यविचारः नित्यानित्य-विवेकेनात्मनोपास्तिम् आत्मतीर्थे आत्मोद्धारार्थे साक्षात्कारार्थे संन्यासग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारायणायेति ॥७॥

ॐ षष्ठे आत्माम्नायः, परमात्मा मठः, सत्यसुसंप्रदायः, नाभिकुण्डलि-क्षेत्रम्, त्रिकुटीतीर्थं, हंसा देवी, परमहंसो देवता, अजपासोऽहं महामन्त्रः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराद्याः, जीवब्रह्मचारो, हंसविद उपास्तिः, उपाधिभेदसंन्या-सार्थं ज्ञानसंन्यासग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारायणायेति ॥८॥

ॐ सप्तमे जम्बूद्वीपः, सम्यग्ज्ञानं शिखा, न सूत्रं, वेद्यवेदकः, श्रद्धानदी, विमलातीर्थम्, आत्मलिङ्गं, शान्त्यर्थे विचारः, नित्यानित्यविवेकेनात्मनो-पास्तिम् आत्मतीर्थे आत्मोद्धारार्थे साक्षात्कारार्थे संन्यासग्रहणं करिष्ये । ॐ नमो नारायणायेति ॥९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करा-
चार्यदृष्टा मठाम्नायोपनिषत् ।

—०॥०—

तोटकाचार्य के कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोक

भगवन्नुदधौ मृतिजन्मजले सुखदुःखझषे पतितं व्यथितम् ।
कृपया शरणागतमुद्धर मामनुशाध्युपसन्नमनन्यगतिम् ॥१॥

विनिवर्त्त्य रतिं विषये विषमां परिमुच्य निबद्धशरीरमतिम् ।
परमात्मपदे भव नित्यरतो जहि मोहमयं भ्रममात्ममतेः ॥२॥

विसृजान्नमयादिषु पञ्चसु तामहमस्मि ममेति मतिं सततम् ।
दृशिरूपमनन्तमृतं विगुणं हृदयस्थमवेहि सदाहमिति ॥३॥

उपरागमपेक्ष्य मतिर्विषयैर्विषयावधृतिं कुरुते तु यतः ।
तत एव मतेर्विदिताविदिता विषयास्तु ततः परिणामवती ॥४॥

मतिवृत्तय आत्मचिता विदिताः सततं हि यतोऽविकृतस्तु ततः ।
यदि चात्मचितिः परिणामवती मतयो विदिताविदिताः स्युरिमाः ॥५॥

विषयाकृतिसंस्थितिरेकविधा मनसस्तु सदा व्यवहारविधौ ।
अहमित्यपि तद्विषया त्वपरा मतिवृत्तिरवज्वलितात्मचिता ॥६॥

विषयप्रकृतिं प्रतिपन्नवतीं मतिवृत्तिमहंकरणं च मतेः ।
उभयं परिपश्यति योऽविकृतः परमात्मसदुक्तिरसौ पुरुषः ॥७॥

नभसोऽवयवो विकृतिश्च यथा घटिकादिनभो न भवेत्तु तथा ।
परमात्मन एष न चावयवो विकृतिश्च शरीरभृदित्यमृषा ॥८॥

जनितं वियदग्रणि येन जगत् परमात्मसदक्षरनामभृता ।
प्रविवेश स एव जगत् स्वकृतं खमिवेह घटं घटसृष्टिमनु ॥९॥

उदपद्यत खप्रमुखं हि जगत् परमात्मन इत्यपि याः श्रुतयः ।
अवधार्यत आभिरभेदमतिः परमात्मसतत्त्वसमर्पणतः ॥१०॥

न च तत्त्वमसीत्यसकृद्वचनं जगतो जनिमात्रविधौ घटते ।
परमात्मपदानुमतिं तु यदा जनयेत्पुरुषस्य तदा घटते ॥११॥

'सदुपासनकर्मविधानपरं' 'अथवा त्वमिति ध्वनिवाच्यमिदम्' ।
'यदि वा स्तुतये सदसीति वदेत्' श्रुतहानिरिहाश्रुतकल्पितरपि ॥१२॥

द्रविडोऽपि च तत्त्वमसीतिवचो विनिवर्त्तकमेव निरूपितवान् ।
शबरेण विवर्धितराजशिशोर्निजजन्मविदुक्तिनिदर्शनतः ॥१३॥

न मनो न मतिः करणानि च नो न रजो न तमो न च सत्त्वमपि ।
न मही न जलं न च वह्निरपि श्वसनो न नभश्च पदं परमम् ॥१४॥

करणानि हि यद्विषयाभिमुखं प्रगमय्य मतिर्विषयेषु चरेत् ।
तदु जागरितं प्रवदन्ति बुधाः न तदस्ति ममेत्यवगच्छ दृशेः ॥१५॥

करणानि यदोपरतानि तदा विषयानुभवाहितवासनया ।
विषयेण विना विषयप्रतिमं स्फुरणं स्वपनं प्रवदन्ति बुधाः ॥१६॥

करणस्य धियः स्फुरणेन विना विषयाकृतिकेन तु या स्थितता ।
प्रवदन्ति सुषुप्तिममुं हि बुधा विनिवृत्ततृषः श्रुतितत्त्वविदः ॥१७॥

इति जागरितं स्वपनं च धियः क्रमतोऽक्रमतश्च सुषुप्तिरपि ।
न कदाचिदपि त्रयमस्ति ममेत्यवगच्छ सदास्मि तुरीयमिति ॥१८॥

गगनप्रमुखं पृथिवीचरमं विषयेन्द्रियबुद्धिमनःसहितम् ।
जनिमज्जगदेतदभूतमिति श्रुतयः प्रवदन्त्युपमानशतैः ॥१९॥

कफपित्तसमीरणधातुधृतं कृशशरीरमिदं सततं हि यथा ।
प्रभवप्रभृतिप्रलयान्तमिदं जगदग्निरवीन्दुधृतं हि तथा ॥२०॥

यदु रोहितशुक्लसुकृष्णमिदं ज्वलनादिषु रूपमवैति जनः ।
तदु तैजसमाप्यमथान्नमिति ब्रुवती त्रयमेव तु सत्यमिति ॥२१॥

अवनिप्रमुखं वियदन्तमिदं विकृतस्तु भवस्य भवत्परमम् ।
अनृतं त्वपरं विकृतिस्तु यतोऽवितथं तु परं प्रकृतिस्तु ततः ॥२२॥

अणु नो न च तद्विपरीतगुणं न च ह्रस्वमतो न च दीर्घमपि ।
प्रतिषिद्धसमस्तविशेषणकं परमक्षरमात्मतयाश्रय भोः ॥२३॥

भगवद्भिरिदं गुरुभक्तियुतैः पठितव्यमपाठ्यमतोऽन्यजनैः ।
गुरुभक्तिमतः प्रतिभाति यतो गुरुणोक्तमतोऽन्यभजन्न पठेत् ॥२४॥

निगमोऽपि च 'यस्य' इति प्रभृतिर्गुरुभक्तिमतः कथितं गुरुणा ।
प्रतिभाति महात्मन इत्यवदत्पठितव्यमतो गुरुभक्तियुतैः ॥२५॥

इति श्रुतिसारसमुद्धरणम् ।

सुरेश्वराचार्यकृत नैष्कर्म्यसिद्धि के कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोक

खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तं, स्रक्फणीवोद्गतं यतः। ध्वान्तच्छिदे नमस्तस्मै, हरये बुद्धिसाक्षिणे ॥१॥ यत्सिद्धाविदमः सिद्धिर्यदसिद्धौ न किंचन। प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्य याथात्म्यं वक्ष्यते स्फुटम् ॥२॥ अज्ञानहानमात्रत्वा, न्मुक्तेः कर्म न साधनम्। कर्मापमार्ष्टि नाज्ञानं तसीवोत्थितं तमः ॥३॥ लिप्सतेऽज्ञानतोऽलब्धं कण्ठे चामीकरं यथा। वर्जितं च स्वतो भ्रान्त्या छायायामात्मनो यथा ॥४॥ भयान्मोहावनद्धात्मा रक्षः परिजिहीर्षति यद्वापरिहृतं वस्तु तथा लब्धं च लिप्सते ॥५॥ वर्जितावाप्तयोर्बेधा, ह्वानप्राप्ती न कर्मणा। मोहमात्रान्तरायत्वात् क्रियया ते न सिद्ध्यतः ॥६॥ शुभैः प्राप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां, मानुष्यं लभतेऽवशः ॥७॥ एवं चङ्क्रम्यमाणोऽयमविद्याकामकर्मभिः। पाशितो जायते कामी म्रियते चासुखावृतः ॥८॥ इति प्रथम परिच्छेदः ॥ वर्चस्कमन्नकार्यत्वाद्यथा नात्मेति गम्यते। तद्भागः सेन्द्रियो देह, स्तद्वत्किमिति नेक्ष्यते ॥१॥ बुसव्रीहिपलालांशैर्बीजमेकं त्रिधा यथा। बुद्धिमांसपुरीषांशैरन्नं तद्वदवस्थितम् ॥२॥ प्रागनात्मैव जग्धं सदात्मतामेत्यविद्यया। मन्यसे तावदस्मीति, यावदस्मान्न नीयसे ॥३॥ स्थूलं त्यक्त्वा निरस्यैवं, नभसो नीलतामिव। देहं सूक्ष्मं निराकुर्यात्तथा कारणमेव च ॥४॥ निवृत्तायामहंबुद्धौ ममबुद्धिर्विलीयते। अहंबीजा हि सा सिद्ध्येत्तमोऽभावे कुतः फणी ॥५॥ नामादिभ्यः परो भूमा, निष्कलोऽकारकोऽक्रियः। स एवात्मवतामात्मा स्वतः सिद्धः स एव नः ॥६॥ न प्रकाशक्रिया काचिदस्य स्वात्मनि विद्यते। उपचारात् क्रिया सास्य, यः प्रकाश्यस्य संनिधिः ॥७॥ दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्। दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा ॥८॥ इति द्वितीयपरिच्छेदः ॥ निर्दुःखित्वं त्वमर्थस्य, तदर्थेन विशेषणात्। प्रत्यक्ता च तदर्थस्य, त्वंपदेनास्य संनिधेः ॥१॥ यावद्यावन्निरस्यायं देहादीन् प्रत्यगञ्चति। तावत्तावत्तदर्थोऽपि त्वमर्थे प्रविविक्षति ॥२॥ देहादिव्यवधानत्वात्तदर्थे स्वयमप्यतः। पारोक्ष्येणैव जानाति, साक्षात्त्वं तदनात्मनः ॥३॥ नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमाद्यथा। न वेत्ति दशमोऽस्मीति, वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥४॥ इति तृतीयः परिच्छेदः ॥ इदमित्येव बाह्येऽर्थे ह्यहमित्येव बोद्धरि। द्वयं दृष्टं यतो देहे, तेनायं मुह्यते जनः ॥१॥ बुद्धावेव विवेकोऽयं यदनात्मतया भिदा। बुद्धिमेवोपमृद्नाति कदलीं तत्फलं यथा ॥१॥ निवृत्तसर्पः सर्पोत्थं, यथा कम्पं न मुञ्चति। विध्वस्ताखिलमोहोऽपि

मोहकार्यं तथात्मवित् ॥३॥ तरोरुत्खातमूलस्य शोषेणैव यथा क्षयः। तथा बुद्धात्मतत्त्वस्य, निवृत्त्यैव तनुक्षयः ॥४॥ बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५॥ रागो लिङ्गमबोधस्य, चित्त-व्यायामभूमिषु। कुतः शाद्वलता तत्र यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥६॥ उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य, न तु साधनरूपिणः ॥७॥ इति चतुर्थः परिच्छेदः।

—०:❀:०—



ग्रन्थकार के मुख्य प्रकाशन

जागदीशी सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	१५-००
वैराग्यमन्दाकिनी	अप्राप्य
गोपीगीतम् अर्थद्वय (हिन्दी व्याख्या)	,,
दश शान्तयः सानुवादाः	,,
दक्षिणामूर्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	,,
ईशावास्यरहस्यविवरणम्	१५-००
शंकरदिग्विजयः (संक्षिप्तः) सानुवादः	२०-००
नारदीयभक्तिसूत्राणि सवार्त्तिकानि सानुवादानि	
प्रथमो भागः	१०-००
द्वितीयो भागः	१०-००
तृतीयो भागः	१०-००
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः सौरभसहितः	१०-००
भागवतसारस्तोत्रं सोपक्रमं सव्याख्यम्	८-००
श्रीभीष्मस्तुति प्रवचन	
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षानुवाद टिप्पणी सहित	
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३०-००
गीता प्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्धं	३५-००
गीता प्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्धं (स्थितप्रज्ञदर्शन)	२५-००
सुभगोदयम् अमृतझरिका, अन्वयार्थबोधिनी (तन्त्र)	२०-००
ईशावास्योपनिषत्, शांकरभाष्यं वर्त्तिकसहितम्	२०-००
दिव्यरसतरङ्गिणी सानुवाद सटीक	
वेदान्तसिद्धान्तपीयूषबिन्दुः	
वेदान्तसारः, वेदान्तमन्दारमाला च	